प्रकाशक—

रघुनन्दनप्रसाद 'विनीत'
मंत्री—सत्य-सन्देश ग्रन्थमाला.

सत्याश्रम, वर्धा.
(सी. पी.)

मुद्रक—

मंत्री—सत्याश्रम मंडल
सत्येश्वर प्रिन्टिंग प्रेस

# प्रस्तावना

इस मीमांसा के दो भाग निकल चुके, यह तीसरा भाग है, और इसके साथ यह मीमांसा पूरी हो रही है। इस भाग में आचार-शास्त्र का विस्तृत विवेचन है। पिछले दो भागों के समान इस भाग में भी जैन-धर्म की विवेचना में क्रान्ति हुई है। जैनधर्म का मर्म प्रगट किया गया है और आज के देशकाल के अनुरूप परिवर्तन किया गया है, पुराने रूपों का ठीक ठीक परिचय देकर उनकी आलोचना की गई है, पिछले दो हजार वर्षों में जैनधर्म में जो विकृति आ गई है वह भी दूर की गई है। जो सुधारक सम्प्रदाय भेद और अन्धश्रद्धा को दूर कर एक अभिन्न और वैज्ञानिक जैनधर्म की उपासना करना चाहते हैं उन्हें यह मीमांसा अन्त तक और पूरी तरह पथ प्रदर्शक का काम देगी।

मीमांसा का यह भाग जैनजगत् या सत्य-सन्देश में १६ मार्च १९३४ से लगाकर १६ जून १९३५ तक सवा वर्ष में प्रकाशित हो पाया था। अब सात वर्ष बाद वह पुस्तकाकार निकल रहा है। पुस्तकाकार छपाते समय मैंने एक नज़र ज़रूर डाल ली है और कहीं कहीं कलम से छू भी दिया है, पर जिसे संशोधन कहते हैं वह मैं नहीं कर पाया हूं। समय और रुचि का अभाव ही इसका कारण है। पर इससे पुस्तक की उपयोगिता किसी भी तरह कम न समझना चाहिये।

इस पुस्तक के प्रकाशन में कलकत्ते के बाबू छोटेलालजी ने

५००) की सहायता दी है। उनसे इस संस्था को और सहायता मिली है, पर दान के बारे में नाम-मोह का संयम जितना उनमें है वह असाधारण है! ऐसी बातों में अपनी तारीफ सुनकर वे लज्जित ही नहीं हो जाते, पर खिन्न भी हो जाते हैं; इसलिये यहां उनकी तारीफ नहीं की जाती है। हां! समझदारों के लिये इन शब्दों में भी काफी हो चुकी है।

उनके बारे में एक बात और कहना है। जैनधर्म-मीमांसा के प्रथम भाग की प्रस्तावना के आरम्भ में जिन श्रीमान् सज्जन का उल्लेख हुआ है, बातचीत में जिनके प्रश्नों के उत्तर मैंने आज से करीब ग्यारह वर्ष पहिले दिये थे और इसीसे जिनने मेरे जैनधर्म विषयक सब विचारों को लिपिबद्ध करने का तीव्र आग्रह किया था–वे श्रीमान सज्जन और कोई नहीं, किन्तु यही बाबू छोटेलालजी हैं। इसलिये मीमांसा के प्रकाशन में ही नहीं, किन्तु निर्माण में भी बाबू छोटेलालजी निमित्त कारण रहे हैं। इसलिये जो लोग इस जैनधर्म-मीमांसा के दृष्टिकोण को पसन्द करते हैं उन्हें बाबू छोटेलालजी का भी कृतज्ञ होना चाहिये, और जो इस पुस्तक के दृष्टिकोण को पसन्द नहीं करते, वे चाहें तो बाबू छोटेलालजी को मन ही मन गालियाँ दे सकते हैं। पर वे अगर इस पुस्तक के तीनों भागों को ध्यान से पढ़ जायँगे तो गालियों के पाप से मुक्त हो जायँगे।

सत्याश्रम, वर्धा.

२ अक्टूम्बर १९४२ —दरबारीलाल सत्यभक्त

# विषय-सूची

# जैनधर्म-मीमांसा के तीन भाग

अगर आप जैनधर्म का पूर्ण और वैज्ञानिक परिचय पाना चाहते हैं तो आप जैनधर्म-मीमांसा के तीनों भाग ज़रूर पढ़िये। सत्यसमाज के संस्थापक स्वामी सत्यभक्तजी ने ग्यारह बारह सौ पृष्ठों में जैनधर्म का जैसा सुलझा हुआ सर्वांगपूर्ण रूप निचोड़ कर रख दिया है वैसा आपको अन्यत्र कहीं न मिलेगा। कठिन से कठिन विषय को खूब सरल बनाया है और ऐसी ऐसी गुत्थियाँ सुलझाई गई हैं, जो अभी तक कभी न सुलझी थीं। प्रायः हर एक बात में दिगम्बर-श्वेताम्बर ग्रन्थों के हवाले दिये गये हैं।

प्रथम भाग में धर्म का व्यापक रूप, म. महावीर के पहिले की हालत, म. महावीर का विस्तृत जीवन-चारित्र, उनके अतिशयों आदि की वैज्ञानिक दृष्टिकोण से व्याख्या, उनके बाद होनेवाले सम्प्रदाय, उपसम्प्रदाय निह्नव आदि का विवेचना पूर्ण परिचय, सम्यग्दर्शन का सर्वांगपूर्ण विस्तृत विवेचन, आदि है।

दूसरे भाग में सर्वज्ञत्व की विस्तृत आलोचना, ज्ञान के सभी भेद प्रभेदों का विस्तृत वर्णन, अंग पूर्व आदि का रहस्योद्घाटन अनेक चर्चाओं की सुसंगति आदि है।

तीसरे भाग में समस्त जैनाचार की आधुनिक ढंग से विस्तृत व्याख्या है जो कि आपके हाथ में है।

रघुनन्दनप्रसाद 'विनीत'
मंत्री—सत्याश्रम, वर्धा (सी. पी.)

# जैनधर्म-मीमांसा

## छट्ठा अध्याय

## सम्यक् चारित्र

### सम्यक्चारित्र का रूप

कल्याणमार्ग का तीसरा अंश सम्यक्चारित्र है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र के लिये हैं इसलिये जबतक चारित्र न हो तबतक दर्शन ज्ञान निष्फल ही समझना चाहिये।

जिस तत्त्व पर विश्वास किया था, जिस तत्त्व को जाना था उसीका आचरण सम्यक् चारित्र है। तीनों का विषय एक ही है। कल्याण के मार्ग पर विश्वास, कल्याण के मार्ग का अच्छी तरह जानना, कल्याण के मार्ग पर चलना यही रत्नत्रय है। अन्य वस्तुओं को तुमने जान लिया विश्वास भी कर लिया परन्तु यदि वे आचार के लिये उपयोगी न हुईं तो उनसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं। यही कारण है कि सम्यग्ज्ञान की पूर्णता के लिये समस्त पदार्थों को जानने की जरूरत नहीं है सिर्फ

तत्त्व को अर्थात् कल्याणमार्ग के लिये उपयोगी या आचरणीय बातों को जानना जरूरी है इसीलिये सम्यग्दर्शन में तत्त्व पर विश्वास करने पर जोर दिया जाता है ।

सम्यक्चारित्र का लक्षण है 'स्वपर कल्याण के अनुकूल आचरण'। कभी कभी वह आचरण प्रवृत्तिप्रधान होता है, कभी कभी निवृत्तिप्रधान । पर चारित्र का सम्बन्ध प्रवृत्ति निवृत्ति से नहीं है वह है कल्याण से । अगर किसी आचार से जगत् में सुखवृद्धि होती है या दुख कम होता है तो वह सम्यक् चारित्र है । अकषायता, आत्मशुद्धि, प्रेम आदि सब सम्यक् चारित्र के रूप हैं ।

**शंका**—जैनाचार्योंने रागद्वेषकी निवृत्तिको सम्यक्चारित्र* कहा है । इतना ही नहीं, किन्तु चारित्र की पूर्णता के लिये वे यह भी आवश्यक समझते हैं कि मन वचन काय की क्रियाओं का पूर्ण विरोध होना चाहिये । परन्तु आपने जो चारित्र का लक्षण किया है, वह प्रवृत्तिरूप मालूम होता है ।

**उत्तर**--चारित्र के किसी एक रूप पर जोर डालना सामयिक आवश्यकता का फल है । जिस युग में जिस विषय में प्रवृत्तिमुख से पाप फैला होता है उस युग में उस विषय में निवृत्तिरूप में

---

* बहिरब्भंतर-किरिया-रोहो भवकारणप्पणासट्ठं । णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं—द्रव्यसंग्रह । भवहेतुप्रहाणाय बहिरभ्यन्तरक्रिया—विनिवृत्तिःपरं सम्यक् चारित्रम् ज्ञानिनो मतम् । त० श्लोकवार्तिक १-१-२ । संसारकारणविनिवृत्तिम्प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतो बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषोपरमः सम्यक् चारित्रम् । त० राजवर्तिक १-१-२ ।

चारित्र का वर्णन किया जाता है । और जब जहां निवृत्ति की ओटमें जड़ता, अकर्मण्यता, हरामखोरी आदि दोष आजाते हैं तब वहां प्रवृत्ति-रूप में चारित्र का वर्णन किया जाता है । मुख्य बात जगत्-कल्याण है, अनेकान्त दृष्टि दोनों का समन्वय करती है ।

जैनाचार्यों ने चारित्र की व्याख्या ऐसे ही व्यापक रूपमें की है । उनके अनुसार चारित्र ⊞ का अर्थ है चलना । किसी ध्येय के लिये जब हम चलते हैं तब वह चारित्र कहलाता है । जब वह चलना विश्वसुख के अनुरूप होता है तब वह सम्यक्चारित्र कहलाता है । जैनधर्म की जब स्थापना हुई तब निवृत्ति की आवश्यकता अधिक थी इसलिये निवृत्ति पर बहुत जोर दिया गया । दूसरी बात यह है कि जीवन स्वभाव से ही प्रवृत्तिमय है, वह अच्छे बुरे सब कामों में प्रवृत्ति करता रहता है अगर बुरे काम से निवृत्ति करदी जाय तो अच्छे काम में प्रवृत्ति सहज ही होती रहती है इसलिये निवृत्ति पर जोर दिया जाता है ।

चारित्र को बनाने में निवृत्ति का इतना बड़ा हाथ है कि चारित्र और संयम पर्यायवाची शब्द बन गये हैं, अन्यथा संयम तो चारित्र का एक पहलू है । बल्कि मूल अर्थ तो इनका कुछ विरोधी सा है । चारित्र का अर्थ चलना है संयम * का अर्थ रुकना है ।

**प्रश्न**--चारित्र और संयम में जब इतना अन्तर है तब दोनों को एकरूप कहने का कारण क्या है ?

**उत्तर**--संस्कृत में बिजली के विद्युत्, चपला आदि अनेक

---

⊞ चरति चर्यते अनेन चरणमात्रं वा चारित्रम —सर्वार्थसिद्धि १–१ ।

* यम उपरमे ( to check to stop)

नाम हैं, परन्तु विद्युत् और चपला दोनों के अर्थ में बहुत अन्तर है। विद्युत का अर्थ है चमकनेवाली और चपला का अर्थ है चपलता वाली। फिर भी दोनों एक ही वस्तु के नाम कहे जाते हैं। इसका कारण यह है कि ये दोनों धर्म एक ही वस्तु में पाये जाते हैं। बिजली चपल भी है और चमकती भी है। चारित्र और संयम के विषय में भी यही बात है। सुख के लिये जो प्रयत्न किया जाता है वह एक दृष्टि से चारित्र है, दूसरी दृष्टिसे संयम। अच्छी प्रवृत्तियाँ करने से वह चारित्र है, और बुरी प्रवृत्तियों को रोकने से संयम है। सम्यक्चारित्र के लक्षण में दोनों बातों का △ उल्लेख होता है। एक तो अशुभ से निवृत्ति, दूसरी शुभ में प्रवृत्ति। इस प्रकार अपेक्षा भेद से एक ही वस्तु के ये दो नाम हैं। अब इनमें कुछ भेद नहीं माना जाता।

**प्रश्न**—यद्यपि जैनशास्त्रों में शुभ प्रवृत्ति को भी चारित्र कहा है; परन्तु जबतक थोड़ी भी प्रवृत्ति है, तबतक चारित्र की अपूर्णता ही मानी है, शुभ प्रवृत्ति को जहाँ चारित्र कहा है, वहाँ भी व्यवहार दृष्टि से कहा है। इससे मालूम होता है कि वह वास्तविक चारित्र नहीं है। वास्तविक चारित्र निवृत्तिरूप ही है।

**उत्तर**—जीवन्मुक्त या अर्हन्त अवस्था तक जितना चारित्र है वह प्रवृत्तिरूप है। जैनधर्म कहता है कि तीर्थंकर भी

---

△ असुह किरियाण चाओ सुहासु किरियासु जो य अपमाओ। तं चारित्त उत्तमगुणजुत्तं पालह निरुत्तं। सिरीसिरिवाल कहा २१। असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं। वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं। दव्वसंगह।

जीवन के अन्त तक प्रवृत्तिमय चारित्रवान् होते हैं। जीवन के अंतिम समय में कुछ क्षणों के लिये उनकी प्रवृत्तियाँ रुक जाती हैं। उस समय श्वास हृदय आदि की क्रियाएँ तक रुक जाती हैं। ऐसी अवस्था में दूसरी प्रवृत्ति तो हो ही कैसे सकती है? योग निरोध-रूप इस अवस्था में जो चारित्र की पूर्णता बतलाई गई है, उसका कारण यह है कि वह मोक्षमार्ग की पूर्णता है। जैसे--मार्ग को पूरा करने के लिये चलना आवश्यक है, किन्तु जबतक चलना है, तब तक मार्ग की पूर्णता नहीं कही जा सकती; उसी प्रकार कल्याण की प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति आवश्यक है, परन्तु कल्याण की पूर्ण प्राप्ति हो जाने पर प्रवृत्ति को रुकना ही चाहिये। प्रत्येक प्रयत्न साध्य की सिद्धि हो जाने पर निश्चेष्ट हो जाता है, तभी वह पूर्ण प्रयत्न कहलाता है। इसी प्रकार चारित्र भी जीवन के अन्तिम पलमें निश्चेष्ट हो जाता है, और तभी वह पूर्ण कहलाता है। चारित्र की पूर्ण अवस्था में जो निश्चेष्टता पैदा होती है वह चारित्र के स्वरूप का नहीं है, किन्तु चारित्र की पूर्णता का फल है।

प्रवृत्तिरूप चारित्र को जो कहीं कहीं व्यवहारचारित्र और निवृत्ति को निश्चय चारित्र कहा गया है उसका कारण वही है जो ऊपर निवृति की प्रधानता के विषय में कहा गया है। दूसरा कारण यह है कि व्यावहारिक रूप बदलता रहता है जैसा देशकाल वैसा उसका रूप। निवृत्ति अंश में प्रवृत्ति अंश की अपेक्षा परिवर्तनीयता कम है अथवा प्रवृत्ति की अपेक्षा ही निवृत्ति बदलती है इसलिये प्रवृत्ति के साथ व्यवहार का सम्बन्ध कुछ अधिक कहा जा सकता है।

लेकिन चारित्र व्यवहार छोड़कर नहीं रह सकता। उसका मूल्य, उसका रूप व्यवहार पर अवलम्बित है। व्यवहार बदलता रहेगा पर रहेगा अवश्य। व्यवहारशून्य चारित्र का कोई अर्थ नहीं। इसलिये प्रवृत्तिहीन चारित्र का कोई मतलब नहीं होता। स्थितिप्रज्ञ, अर्हन्, तीर्थंकर, केवली, जीवन्मुक्त आदि शब्दों से जिनका उल्लेख किया जाता है, वे सब व्यवहार के भीतर ही हैं, इसलिये उन्हें व्यवहार-चारित्र का अर्थात् प्रवृत्तिमय चारित्र का पालन करना ही पड़ता है। जबतक प्रवृत्ति है अर्थात् मनसे, वचनसे या शरीरसे थोड़ी भी क्रिया हो रही है, तबतक चारित्र प्रवृत्तिमय है। इस प्रकार जीवन के अन्तिम समय को छोड़कर शेष समग्र जीवन में चारित्र प्रवृत्तिमय रहता ही है।

जबतक जीवन है, तभी तक चारित्र है, क्योंकि तभी तक प्रयत्न है। जीवन के अन्तिम समय में ( चतुर्दश गुणस्थान में ) जो चारित्र या संयम कहा जाता है, उसका कारण यही है कि उस समय जीवन है, मन वचन काय को पूर्णरूप से रोक देने का भी प्रयत्न है। जिस समय जीवन नहीं रहता उस समय चारित्र नहीं माना जाता। यही कारण है कि मुक्तात्माओं में संयम या चारित्र नहीं माना जाता। मुक्तात्माओं में सिद्धगति, ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व और आनाहार को छोड़कर बाकी नव मार्गणाओं का अभाव माना गया △ है। उनमें संयममार्गणा भी एक है। मुक्तात्माओं में

△ सिद्धाणं सिद्धगई केवलणाणं च दंसणं खइयं सम्मत्तमणाहारो उवजोगाणमक्कमपउत्ती। गुणजीवठाणरहिया सण्णापज्जत्तिपाणपरिहीणा। सेसणव मग्गणूणा सिद्धा सुद्धा सदा होंति। गोम्मटसार जीवकांड ७३२।

संयम या चारित्र का अभाव माना गया इसका कारण सिर्फ यही है कि वहां कोई प्रयत्न नहीं है।

प्रश्न--दर्शन ज्ञान आदि के समान चारित्र भी एक गुण है। गुण का कभी नाश नहीं होता। यदि मुक्तात्माओं में चारित्र न माना जायगा तो इसका अर्थ होगा कि चारित्रगुण का नाश हो गया। परन्तु गुण का नाश नहीं होता, इसलिये वहां चारित्र मानना चाहिये?

उत्तर--एक आदमी में इतनी शक्ति है कि अगर कोई उसे सांकल से जकड़ दे तो वह सांकल को तोड़ सकता है। परन्तु इस समय उसे कोई सांकल से नहीं जकड़ता, इसलिये वह सांकल नहीं तोड़ रहा है। तो क्या इसका यह अर्थ है कि उसमें सांकल तोड़ने की शक्ति नहीं है? इसी प्रकार चारित्र का काम आत्माको सुख प्राप्त कराना है। आत्मा जब दुःख में हो तो सुख प्राप्त कराता है। अगर दुःख में न हो तो सुख प्राप्त कराने की जरूरत न होने से वह नहीं कराता, इससे उसका अभाव नहीं हो जाता किन्तु शक्तिरूप में उसका सद्भाव रहता ही है। वैभाविकशक्ति योगशक्ति आदि अनेक शक्तियाँ आत्मा में मानी जाती हैं, परन्तु मुक्तावस्था में उनका उपयोग नहीं होता वे शक्तिरूप में रहती हैं। ज्योंही निमित्त मिले त्योंही वे अपना काम दिखलाने लगें। यही बात चारित्र के विषय में भी समझना चाहिये। इससे मालूम होता है कि चारित्र अभावरूप नहीं है वह प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप एक प्रयत्न है। इसलिये उसे सद्भावरूप वर्णन करना चाहिये। यदि अभावरूप में कहा भी जाय तो जैनशास्त्रों के अनुसार अभाव भावान्तरस्वरूप है। इसलिये निवृत्तिरूप चारित्र भावान्तररूप या

प्रवृत्तिरूप होना चाहिये । दूसरी बात यह कि चारित्र की परीक्षा निवृत्ति प्रवृत्ति की कसौटी पर कसकर न करना चाहिये । जो प्रवृत्ति सुखको प्राप्त करानेवाली हो और दुःख को दूर करनेवाली हो वह कितनी भी अधिक हो परन्तु वह चारित्र है; और जो निवृत्ति दुख दूर न करे या सुख न दे वह अचारित्र है । तीर्थंकर के समान प्रवृत्तिशील कौन होगा ? परन्तु उनके समान समुन्नत चारित्र किसका है ? इसी प्रकार जो प्राणी जड़समान है (पृथ्वीकायिक आदि) या जो आलसी दीर्घ-सूत्री निद्रालु और कायर हैं, वे निवृत्तिपरायण हो करके भी चारित्र-हीन हैं । इसलिये चारित्र, निवृत्ति प्रवृत्ति पर निर्भर नहीं है किन्तु सुखप्रापकता पर निर्भर है । यदि पूर्ण सुख की प्राप्ति के लिये पूर्ण निवृत्ति आवश्यक हो तो पूर्ण निवृत्ति भी चारित्र के अंतर्गत हो जायगी; परन्तु वह इसलिये नहीं कि वह निवृत्ति है किन्तु इसलिये कि वह सुखप्रापक है ।

यह बात दूसरी है कि चारित्र के वर्णन के लिये कहीं निवृत्ति पर जोर दिया जाय, कहीं प्रवृत्ति पर जोर दिया जाय, परन्तु किसी एक पक्षको पकड़के रह जाना एकान्तवाद ही है । और एकान्तवाद तो जैनधर्म के विरुद्ध है; इसलिये चाहे निवृत्तिरूप हो या प्रवृत्तिरूप हो, जो सुखी होने का सच्चा प्रयत्न, क्रिया चर्या आचरण है, वह सम्यक्‌चारित्र है । जैनशास्त्रों में अगर कहीं चारित्र के नाम पर निवृत्ति या प्रवृत्ति पर भार रक्खा गया हो तो समझना चाहिये कि वह शास्त्र रचना के समय के देशकालका प्रभाव है, या उस समय की आवश्यकता का फल है । वह सार्वकालिक और सार्वत्रिक स्वरूप नहीं है ।

प्रथम अध्याय में कल्याणमार्ग की मीमांसा की गई है और अधिकतम मनुष्यों के अधिकतम सुखवाली नीति का संशोधित रूप बतलाया गया है। वहाँ पर सुखकी प्राप्ति के लिये दो बातें आवश्यक बतलायीं गई हैं– (१) संसार में सुख की वृद्धि करना [काम] और (२) सुखी रहने की कला सीखना [मोक्ष]। दुःख के जितने साधन दूर किये जा सकें उनको दूर करने का और सुख के जितने साधन जुटाये जा सकें उनको जुटाने का प्रयत्न करना तथा अवशिष्ट दुःख को समभाव से सहन करके अपने को सदा सुखी मानना, सुखका वास्तविक उपाय है।

इस प्रयत्न का बहुभाग मानसिक भावना पर अवलम्बित है। दुःख के साधन दूर करने का और सुख के साधन जुटाने का कोई कितना भी प्रयत्न क्यों न करे, फिर भी कुछ त्रुटि रह जायगी जिसे संतोष से पूरा करना पड़ेगा। जितना कुछ मिलता है उसकी अपेक्षा न मिलने का क्षेत्र बहुत ज्यादह है, इसलिये संतोषादि से बहुत अधिक काम लेने की जरूरत है। इसलिये कहना चाहिये कि सुखका मार्ग आत्माकी भावना पर ही अधिक अवलम्बित है।

ऊपर जो बातें बताई गईं हैं उनमें दूसरी बात (सुखी रहने की कला) तो परिणामों पर ही निर्भर है और पहिली बात का भी साक्षात् सम्बन्ध परिणामों से है। क्योंकि दुःख क्या है? एक तरह का परिणाम ही है। प्रतिकूल साधनों के रहने पर भी अगर हम बेचैनी को पैदा नहीं होने दें तो हमें दुःख न होगा। प्रतिकूल साधन बेचैनी पैदा करते हैं इसलिये उनको दूर करने का उपाय सोचा जाता है। अगर हम उन पर विजय प्राप्त कर सकें तो

दुःख से बच सकते हैं । मतलब यह है कि अपने परिणामों के ऊपर ही अधिकतर दुःख-सुख अवलम्बित है, इसलिये कल्याण मार्ग में परिणामों का बड़ा भारी महत्व है । अपने भावों पर असर डाले बिना कोई भी दुःख-सुख नहीं होता इसलिये कहना चाहिये कि दुःख-सुख का सीधा सम्बन्ध परिणामोंसे--भावोंसे--है ।

दूसरे के लिये जब हम कुछ काम करते हैं, तब भी परिणामों का विचार किया जाता है । इसके चार कारण हैं—

१--हमारी जैसी इच्छा होती है, हम वैसा ही प्रयत्न करते हैं । जैसा प्रयत्न किया जाता है, वैसा ही फल होता है—यह साधारण नियम है । कभी कभी प्रयत्न से विपरीत भी फल होता है, परन्तु यह कादाचित्क है । अधिक सुख के लिये हमें उसी नीति से काम लेना पड़ेगा जो अधिक स्थलों में फलप्रद हो ।

२--मनुष्य अच्छे काम के लिये अच्छी भावना की ही जिम्मेदारी ले सकता है, न कि अच्छे फल की । डॉक्टर ईमानदारी से काम करने की ही जिम्मेदारी ले सकता है । वह रोगी को बचा ही लेगा, यह नहीं कहा जा सकता । अच्छी भावनापूर्वक प्रयत्न करने पर भी अगर कोई मर जाय, इस पर अगर डॉक्टर को खूनी कहा जाय तो कोई भी मनुष्य किसी को सहायता न देगा ।

३--भावना के साथ सुख-दुःख का साक्षात्संबन्ध है । चोरी करते समय जो भय उद्वेग आदि पैदा होते हैं, वे चोरी की भावना पर ही निर्भर हैं । भूल से अगर हम किसी की चीज़ उठा लें तो हमें चोर की संक्लेशताका कष्ट न उठाना पड़ेगा । इस प्रकार आत्मा की मलिनता दुर्भावना पर निर्भर है । आत्मा के साथ जो कर्म बँधते

हैं उनके ऊपर हमारे परिणामों का ही अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ सकता है, न कि बाहिरी कार्यों का।

४--दूसरे के अभिप्रायों का हमारे ऊपर प्रभाव अधिक पड़ता है। एक बालक को प्रेमपूर्वक बहुत जोर से थपथपाने पर भी वह प्रसन्न होता है, परन्तु क्रोध के साथ उंगली का स्पर्श भी वह सहन नहीं करता। यदि हमारे विषय में किसी के अच्छे भाव होते हैं, तो हम प्रसन्न होते हैं और बुरे भाव होते हैं तो अप्रसन्न होते हैं इसलिये हमको भावना की शुद्धि करना चाहिये।

**प्रश्न**–यदि भावशुद्धि के ऊपर ही कर्तव्याकर्तव्य, चारित्र-अचारित्र का निर्णय करना है तो 'सार्वत्रिक और सार्वकालिक अधिकतम प्राणियों का अधिकतम सुख देने वाली नीति' को कर्तव्य की कसौटी क्यों बताया? भावना को ही कसौटी बनाना चाहिये।

**उत्तर**–भावना की मुख्यता होने पर भी कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करने के लिये किसी कसौटी की आवश्यकता बनी ही रहती है। उदाहरण के लिये, कुरुक्षेत्र में अर्जुन की भावना शुद्ध होने पर भी वह यह नहीं समझ सकता था कि इस समय मेरा कर्तव्य क्या है? भावना की बड़ी भारी उपयोगिता यही है कि उपर्युक्त नीति का ठीक ठीक पालन हो। हाथ पैर आदि सभी अंग ठीक ठीक काम करें, इसके लिये प्राण की आवश्यकता है। अकेले प्राण कुछ नहीं कर सकते, साथ ही प्राणहीन शरीर भी व्यर्थ है। इसी प्रकार उपर्युक्त कसौटी न हो तो भावशुद्धि होने पर भी चारित्र का पालन नहीं हो सकता; और भावशुद्धि न होने पर उपर्युक्त नीति का पालन भी असंभव है। इसलिये भावपूर्वक उपर्युक्त नीति

का पालन करना चारित्र है।

इस चारित्रधर्म का पालन करने के लिये अनेक नियमोप-नियम बनाये जाते हैं। परन्तु उन नियमों को चारित्र न समझना चाहिये। वे सिर्फ चारित्र के उपाय हैं। उनको उपचार से चारित्र कह सकते हैं। परन्तु जब वे वास्तविक चारित्र को उत्पन्न करें तभी उन्हें उपचार से चारित्र कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। एक नियम किसी परिस्थिति में चारित्र का कार्य या चारित्र का कारण कहा जा सकता है। वही नियम अवस्था के बदलने पर अचारित्र या असंयम कहा जा सकता है। प्रत्येक नियम और उसके कार्य के विषय में हमें इसी तरह अपेक्षा भेद से विचार करना चाहिये। उदाहरणार्थ, किसी को मार डालना पाप है; परन्तु न्याय की रक्षा के लिये निस्वार्थता—समभाव-से खूनी को मृत्युदंड देना पाप नहीं है, क्योंकि प्राणियों की सुखरक्षा के लिये ऐसा करना आवश्यक है।

इस प्रकार जीवन में ऐसे सैकड़ों प्रसंग आते हैं जब सामान्य नियमों का भंग करना धर्म के लिये ही आवश्यक मालूम होता है। जब ऐसे अवसर कुछ अधिक संख्या में आते हैं, तब हम उन्हें अपवाद नियम बनाते हैं। इस प्रकार उत्सर्ग और अपवाद विधि-यों का भेद खड़ा हो जाता है। परन्तु जीवन इतना जटिल है और उसमें अनेकबार ऐसे प्रसंग आते हैं कि प्रचलित अपवाद नियम भी कुछ काम नहीं दे सकते। उस समय नियमों की पर्वाह न करके हमें चारित्र की रक्षा करना पड़ती है। इसलिये कहना पड़ता है कि पूर्ण संयमी के लिये नियमों की कोई आवश्यकता नहीं है।

संयम या चरित्र में जितनी अपूर्णता है उतने ही अधिक नियमों के बंधन रखना पड़ते हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि अपवाद अनुकरणीय नहीं होते। अपवाद प्रत्येक प्राणी की योग्यता और उसकी परिस्थिति के अनुसार होते हैं। मतलब यह है कि कोई कार्य चाहे वह नियम के अन्दर हो या नियम के बाहर हो, अगर उससे कल्याण की वृद्धि होती है तो वह चारित्र है अन्यथा अचारित्र है। किसी कार्य को नियमों की कसौटी पर कसकर उस की जाँच नहीं करना चाहिये, किन्तु कल्याणकारकता की कसौटी पर कसकर उसकी जाँच करना चाहिये। धर्माधर्म की परीक्षा का यही सर्वोत्तम उपाय है।

इसका यह मतलब नहीं है कि नियम बेजरूरी हैं। साधक अवस्था में नियमों की जरूरत अवश्य है। परन्तु जब मनुष्य संयमनिष्ठ हो जाता है तब वह नियमों के पालन करने की चेष्टा नहीं करता, किन्तु कल्याणकारकता को कसौटी बनाकर उसी के अनुसार कार्य करता है। उस प्रकार कार्य करने से नियमों का पालन आप से आप हो जाता है। यदि कभी नहीं होता तो भी इससे चारित्र में कुछ त्रुटि नहीं होती बल्कि कभी कभी वह नियम ही संशोधन के योग्य हो जाता है।

नियम आवश्यक होने पर भी जो मैं यहां उनपर जोर नहीं दे रहा हूं, इसका कारण यह है कि नियमों को सार्वकालिक या सार्वत्रिक रूप नहीं दिया जा सकता। उनको परिस्थिति के अनुसार बदलने की आवश्यकता होती है। दूसरी बात यह है कि असंयमी भी संयम के नियमों का अच्छी तरह पालन करते हैं,

किन्तु नियमोंके भीतर रहते हुए भी पाप करते हैं। तीसरी बात यह है कि नियम तो भय और लालच से भी पाले जाते हैं, परन्तु इस से आत्मशुद्धि नहीं होती और न इससे स्वपरकल्याण की वृद्धि होती है। भय और लालच के कारण दूर होने पर वह मनुष्य कल्याण का नाश करने लगता है। इसलिये ऐसे आदमी पर विश्वास नहीं रक्खा जा सकता। अगर भूल से विश्वास कर लिया जाता है तो ठीक मौके पर धोखा खाना पड़ता है। इस प्रकार वह गोमुखव्याघ्र की तरह व्याघ्र से भी अधिक भयंकर सिद्ध होता है। नियम का गुलाम यह नहीं देखता कि इस कार्य से स्वपरकल्याण होता है कि नहीं; वह तो मनमानी स्वार्थसिद्धि करने के लिये दूसरों की बड़ी से बड़ी हानि करते हुए भी यही देखेगा कि मैं नियम भंग के अपराध में तो नहीं पकड़ा जाता। बस, इतने से ही वह संतुष्ट हो जाता है। परन्तु इस प्रकार की आत्मवञ्चना कल्याण की वृद्धि नहीं कर सकती। इसलिये नियमों पर जोर न देकर कल्याणकारकता पर जोर दिया जाता है।

फिर भी चारित्र के प्रतिपादन में नियमों का बड़ाभारी स्थान है। चारित्र के प्रतिपादन के लिये हमें उसका कोई न कोई रूप तो बतलाना ही पड़ता है; और वह रूप नियम ही है। हम जिस द्रव्यक्षेत्र कालभाव में हैं, उसीके अनुसार चारित्र का रूप बनता है। योग्यतानुसार मनुष्य में जो श्रेणी-विभाग होता है, उसके अनुसार चारित्र में भी श्रेणी-विभाग होता है। महाव्रत, अणुव्रत तथा ग्यारह प्रतिमाएँ इसी श्रेणीविभाग का फल हैं। इस प्रकार चारित्र का विवेचन अनेक प्रकार के विधिविधानों का

समूह हो जाता है । उसकी निर्दोषता के लिये हमें स्याद्वाद का उपयोग करना चाहिये ।

वस्तु के पूर्णस्वरूप को हम कह नहीं सकते, इसलिये उसके किसी एक अंशका निरूपण करते हैं। यहां पर स्याद्वाद का कर्तव्य यही है कि वह नय की सहायता से बतावे कि वस्तु अमुक अपेक्षा से अमुकरूप है। दूसरी अपेक्षाओं से वस्तु कैसी है, इस विषय में वह मौन रखता है अथवा साधारण संकेत करता है। इसी प्रकार चारित्र का प्रतिपादन करते समय हमें यही कहना चाहिये कि अमुक द्रव्य क्षेत्र काल भावमें अमुक विधि कल्याणकारी है। द्रव्यक्षेत्रकालभाव के परिवर्तन होने पर उस विधिमें परिवर्तन भी किया जा सकेगा। इस प्रकार चारित्र के लिये कोई न कोई विधि-नियम-कर्तव्य तो रहेगा ही, परन्तु सदा सर्वत्र अमुक ही रहना चाहिये, ऐसा बन्धन न रहेगा।

इस प्रकार विधिविधानों के निर्णय होजाने पर भी पूरा काम न हो जायगा। उनके पालन करने का ढंग भी देखना पड़ेगा। जैनाचार्यों ने इस विषय में बहुत सतर्कता रक्खी है। व्रत के लिये उनकी यह शर्त है कि जो निःशल्य △ हो वही व्रती है। जिस प्रकार गाय होनेपर अगर उससे दूध न निकले तो उसका होना व्यर्थ है, उसी प्रकार जो निःशल्य नहीं है, उसका व्रत व्यर्थ है। शल्यवाला व्रत रखने पर भी व्रती नहीं कहला सकता।

शल्यें तीन हैं—माया, मिथ्यात्व और निदान। तीन में से एक भी शल्य हो तो कोई व्रती नहीं हो सकता। जहां व्रत में माया-

---

△ निःशल्यो व्रती

चार है, वहां व्रत, व्रत नहीं है। जगत् का कल्याण करना उसका लक्ष्य नहीं होता, किन्तु 'हम कल्याण करनेवाले हैं' इस प्रकार का झूठा प्रदर्शन करके दुनिया को धोखा देने की भावना होती है। परन्तु ऐसा व्यक्ति जगत् में कल्याण की वृद्धि नहीं कर सकता।

मिथ्यात्वी भी व्रती नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें वह विवेक ही नहीं है जिससे कल्याण की वृद्धि होती है। वह देखा देखी ज्यों त्यों बाह्य आचरण करता है। कल्याण के साथ इसका क्या सम्बन्ध है, यह बात वह नहीं समझता। इसलिये वह रूढ़ि का ही पालन कर सकता है, किन्तु व्रती नहीं बन सकता। रूढ़ि के विरुद्ध जाने से अगर कल्याण होता है तो वह कल्याण का ही विरोध करने लगेगा। इस प्रकार न तो वह ठीक मार्ग पकड़ सकता है, न उससे उचित लाभ उठा सकता है।

किसी व्रत को कर्तव्यदृष्टि से न करके स्वार्थ दृष्टि से करना निदान शल्य है। ऐसा मनुष्य भी व्रती नहीं है। क्योंकि ऐसा मनुष्य जगत् में कल्याणवृद्धि करना नहीं चाहता, जैसा कि प्रथम अध्याय में बताया गया है। व्रत को तो उसने स्वार्थसिद्धि का साधन बनाया है। जिस उद्देश्य से चारित्र की आवश्यकता बतायी गई है, उसकी इसको जरा भी पर्वाह नहीं है, इसलिये यह अव्रती है।

इस प्रकार तीन शल्यों का विवेचन करके नियमों के दुरुपयोगको रोकने का सुन्दर प्रयत्न किया गया है। फिर भी कौनसा नियम किस अवस्था में कितना उपयोगी है, उसके अपवाद कब कैसे होते हैं, उनको किस अपेक्षा से कितने भागों में विभक्त करना चाहिये, कब किस पर कितना जोर डालना चाहिये, पुराने नियम

आज के लिये कितने उपयोगी हैं, और उनमें क्या क्या परिवर्तन आवश्यक है, इत्यादि विवेचन चारित्र को समझने के लिये आवश्यक है। इस अध्याय में उन्हीं का वर्णन किया जायगा।

जैनशास्त्रों में तथा जैनेतरशास्त्रों में भी चारित्र या संयम पाँच भागों में विभक्त किया गया है—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। बाकी जितने विधिविधान हैं वे सब इनके अन्तर्गत हैं या इनके साधक हैं। इन पाँच व्रतों में भी कोई कोई एक दूसरे के भीतर आ जाते हैं। इसका खुलासा आगे किया जायगा। यहां पर इन पाँचों के स्वरूप पर अलग अलग विवेचन किया जाता है।

## अहिंसा

व्यापकता, उच्चता और अग्रजता की दृष्टि से चारित्र में प्रथम स्थान अहिंसा को प्राप्त है। जब पापों में हिंसा प्रधान और व्यापक है, तब धर्म में अहिंसा प्रधान और व्यापक हो तो इसमें क्या आश्चर्य है? यही कारण है कि, अहिंसा परम धर्म है'—यह वाक्य प्रायः सभी धर्मों में माना गया है।

जो प्राणी इतना अविकसित है कि वह अर्थ संचय की उपयोगिता नहीं समझता, इसलिये चोरी भी नहीं जानता, जिसमें काम क्रिया ही नहीं है, अथवा वह इच्छापूर्वक नहीं होती, जिसमें बोलने की शक्ति नहीं है अथवा है तो उसकी भाषा अनुभय (न सत्य, न असत्य) है, इस प्रकार चार पापों के करने की जिसमें योग्यता नहीं है, वह भी हिंसा अवश्य करता है। हिंसाका क्षेत्र ऐसा ही व्यापक है। इसी प्रकार चारित्र में अहिंसा का क्षेत्र

व्यापक है।

सबसे पहिले प्राणी जीवित रहना चाहता है, इसलिये अहिंसा की आवश्यकता सबसे पहिले हुई। सबसे पहिले जब कभी धर्म की उत्पत्ति हुई होगी, तब उसका रूप यही रहा होगा कि 'मतमारो!' धीरे धीरे इसकी सूक्ष्म व्याख्या होने लगी। प्राणी मरने से डरता है, इसका कारण यही है कि मरने में उसे कष्ट होता है। इसलिये 'मतमारो' इसका अर्थ यही हुआ कि 'किसी को कष्ट मत दो'। इस प्रकार किसी भी प्रकारका कष्ट देना हिंसा और कष्ट न देना या कष्ट से बचाना अहिंसा कहलाने लगा।

परन्तु ऐसे भी बहुत से कार्य होते हैं जिनमें पहिले कष्ट और पीछे आनन्द होता है तथा कभी कभी सुख के लिये कोई प्रयत्न किया जाता है और बहुत सतर्कता से किया जाता है, फिर भी उसका फल अच्छा नहीं होता। ऐसी अवस्था में अगर उसके बाह्य फलपर दृष्टि रखकर किसी को अपराधी मानें और निर्णय करें तो कोई अच्छा प्रयत्न ही न करेगा। इन सब कारणों से हिंसा, अहिंसा बाह्य क्रिया न रह गई किन्तु वह हमारे भावों पर अवलम्बित हो गई। इसीलिये जैनशास्त्र कहते हैं कि—

यह सम्भव है कि कोई किसी को मार डाले फिर भी उसे हिंसाका पाप न लगे *। कोई जीव मरे या न मरे, परन्तु जो मनुष्य प्राणिरक्षा का ठीक ठीक प्रयत्न नहीं करता, वह हिंसक है और प्राणिरक्षा का उचित प्रयत्न करने पर केवल प्राणिवध से कोई

---

* वियोजयति चासुभिर्न वधेन संयुज्यते।

हिंसक नहीं कहलाता * ।

अमृतचन्द्रसूरिने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में इसका और भी सुन्दर विवेचन किया है । वे कहते हैं----

एक मनुष्य हिंसा [ प्राणिवध ] न करके भी हिंसक हो जाता है अर्थात् हिंसा का फल प्राप्त करता है । दूसरा मनुष्य हिंसा [ प्राणिवध ] करके भी हिंसक नहीं होता । एक की थोड़ी सी हिंसा भी बहुत फल देती है और एक की बड़ी भारी हिंसा भी थोड़ा फल देती है । किसी की हिंसा, हिंसा का फल देती है और किसी की वही हिंसा अहिंसा का फल देती है । किसी की अहिंसा हिंसा का फल देती है और किसी की हिंसा अहिंसा का फल देती है । हिंस्य ( जिसकी हिंसा की जाय ) क्या है ? हिंसक कौन है ? हिंसा क्या है ? और हिंसा का फल क्या है ? इन बातों पर अच्छी तरह विचार करके हिंसा का त्याग करना चाहिये । △

---

* मरदुव जियदुव जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदाहिंसा ।
पयदस्स णत्थिबंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ।

△ अविधायापि हि हिंसा हिंसाफल भाजनं भवत्येकः ।
कृत्वापरो हिंसा हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥
एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम् ।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥
कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फल काले ।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसा फलं विपुलम् ॥
हिंसा फलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे ।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसा नान्यत् ॥
अवबुध्य हिंस्यहिंसक हिंसा हिंसाफलानि तत्त्वेन ।
नित्यमवगूहमानैः निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥

इस प्रकार अहिंसा बहुरूपिणी है, इसलिये उसे प्राप्त करना, उसकी परीक्षा करना कठिन है। किसी के द्वारा केवल प्राणिवधको देखकर यह कह देना कि वह हिंसक है, ठीक नहीं है। संसार में सब जगह इतने प्राणी भरे हुए हैं कि उनकी हिंसा किये बिना हम एक क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकते। तब पूर्ण अहिंसाका पालन कैसे किया जा सकता है? जैनियोंकी अहिंसाका जो मज़ाक उड़ाते हैं, वे भी यही दुहाई दिया करते हैं कि श्वास लेने में भी जीव मरते हैं, फिर तुम पूर्ण अहिंसक बननेका पागलपन क्यों करते हो? इसका उचित उत्तर पं. आशाधरजीने दिया है—

यदि बन्ध और मोक्ष भावोंके ऊपर अवलम्बित न होते तो कहाँ रहकर प्राणी मोक्ष प्राप्त △ करता?

भट्टाकलंकदेवने भी तत्त्वार्थराजवार्तिक में इस प्रश्नको उठाया है कि-- 'जलमें जन्तु हैं, स्थलमें जन्तु हैं, आकाशमें जन्तु हैं, इस प्रकार सारा लोक जन्तुओं से भरा हुआ है तब कोई मुनि अहिंसक कैसे हो सकता ❀ है?' इसका उत्तर यों दिया गया है--

सूक्ष्म जीव ( जो अदृश्य होते हैं और इतने सूक्ष्म होते हैं कि न तो वे किसी से रुकते हैं, न किसी को रोकते हैं ) तो पीड़ित नहीं किये जा सकते, और स्थूल जीवों ( बहुतसे स्थूल जीव अदृश्य भी होते हैं ) में जिनकी रक्षा की जा सकती है, उनकी रक्षा की

---

△ विष्वग्जीव चितेलोके क्वचरन् कोप्यमोक्ष्यत।
भावैकसाधनौ बन्धमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम्।

❀ जलेजंतुः स्थले जंतुराकाशे जंतुरेवच।
जंतुमाला कुले लोके कथंमिक्षुरहिंसकः।

जाती है; इसलिये जो मनुष्य हिंसाको बचाने में प्रयत्नशील है, वह हिंसक कैसे हो सकता (क) है ?

केवल जैनशास्त्रों में ही इस सूक्ष्म हिंसाका विचार नहीं किया गया है, किन्तु महाभारत में भी यह प्रश्न उठा है ! वहाँ अर्जुन कहते हैं:-

इस जगत् तें ऐसे ऐसे सूक्ष्म जीव हैं जो कि आँखोंसे तो नहा दिखाई देते किन्तु तर्क से सिद्ध हैं—वे जीव पलक हिलानेसे भी मर (ख) जाते हैं। इस प्रश्न के समाधान में वहाँ भी 'द्रव्यहिंसा से ही हिंसा नहीं होती' इत्यादि कथन किया गया है। इस वक्तव्यका सार यही है कि प्राणिवध देखकर ही किसी को हिंसक न कहना चाहिये। परन्तु इसके साथ ही प्रश्न यह होता है कि 'तब हिंसक किसे कहना चाहिये ? वास्तव में हिंसा क्या है, जिसका मनुष्य त्याग करे ?'

इस प्रश्न के उत्तर के लिये भी हमें इसी बात पर विचार करना चाहिये कि वास्तव में हमें धर्मकी—चारित्रकी—अहिंसाकी—जरूरत क्यों हुई ? यह पहिले कहा जा चुका है कि कल्याण के लिये—सुखके लिये—इनकी जरूरत है । बस यही इसका उत्तर है कि प्रथम अध्याय में बताये हुए कल्याणमार्ग के अनुसार कल्याण

---

(क) सूक्ष्मा न प्रतिपीड्यन्ते प्राणिनः स्थूलमूर्तयः।
ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्तेका हिंसा संयतात्मनः।

(ख) सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानिकानिचित्।
पक्ष्मणोऽपिनिपातेन येषाम् स्यात्स्कन्धपर्ययः।
महाभारत शान्तिपर्व १५–२६।

के लिये जो कार्य किया जाय, वह अहिंसा है; उसके विरुद्ध हिंसा है। इसलिये प्राणिवध करते हुए भी प्राणी अहिंसक है और स्वार्थवश, क़ायरतावश अत्याचारी की रक्षा करना भी हिंसा है। हिंसा—अहिंसा और पाप-पुण्य की परीक्षा हमें इसी कसौटी पर करना उचित है।

इतने पर भी हिंसा, अहिंसा की जटिलता बनी ही रहती है। जबतक जीवन है तबतक उससे हिंसा होगी ही, इसलिये कहाँ तक की हिंसा को क्षन्तव्य कहा जाय और वह कौनसी मर्यादा बाँधी जाय कि जिसके बाहर जाने से हम हिंसक कहलाने लगें? यह एक ऐसा प्रश्न है कि दुनियाके सम्प्रदायोंको चक्कर में डाल दिया है। एक सम्प्रदाय शिकार और युद्ध [ दिग्विजय ] को भी धर्म कहता है और दूसरा, श्वास लेने से भी जीवहिंसा होती इसलिये उससे बचने के लिये मुँह पर कपड़े की पट्टी बँधवाता है! मज़ा यह कि ये दोनों ही अहिंसाको परमधर्म मानते हैं। फिर भी ये दोनों हिंसाको रोक नहीं सकते, क्योंकि कपड़े की पट्टी बाँधने पर भी हिंसा बिलकुल दूर नहीं हो जाती।

इस प्रकार यदि अहिंसा का पालन असंभव कहकर छोड़ दिया जाय तो धर्म ही उठ जायगा, फिर उसका कोई पालन क्यों करेगा? इसलिये स्पष्ट या अस्पष्ट शब्दों में सभी धर्मोंने यह अपवाद बनाया कि—

जीवन निर्वाह के लिये जो क्रियाएँ अनिवार्य हैं उनके द्वारा प्राणिहिंसा हो तो उसे हिंसा न मानी जाय। इसलिये स्वासोच्छ्वास आदि में होनेवाली हिंसा, हिंसा [ अधर्म ] नहीं

कही जा सकती।

परन्तु इस अपवाद को स्वीकार करके भी सब समस्याएँ पूरी न हुई; साथ ही इस अपवाद के पालन में भी नाना मत हो गये। उदाहरणार्थ—

शरीर में कीड़े पड़ गये हैं या कोई बीमारी हो गई है, उसकी चिकित्सा करना चाहिये कि न करना चाहिये? पूर्व में और पश्चिम में ऐसे लोग हुए हैं जो चिकित्सा करना ठीक नहीं समझते थे। सुकरात के भी 'पहिले यूनान में जेनो' [ Zeno ] नामका एक तार्किक था, उसके अनुयायी शरीर में कीड़े पड़ जाने पर भी उनका हटाना अच्छा नहीं समझते थे, बल्कि कारणवश कोई कीड़ा गिर पड़ता था तो वे उसे फिर उसी जगह (अपने शरीर पर) उठाकर रख देते थे जिससे वह भूखों न मर जाय। जैनशास्त्रों में इतने तो नहीं, परन्तु इसी ढंगके कुछ चरित्र चित्रण मिलते हैं जिनमें चिकित्सा न कराना बहुत प्रशंसा की बात कही गई है। सम्भवतः ऐसे लोगोंकी तरफ़ से यह तर्क भी किया जा सकता है कि "रोगकी चिकित्सा की जायगी तो रोगके कीटाणु अवश्य मरेंगे। हम नीरोगी रहकर अधिक दिन जीवित रहें इसकी अपेक्षा रोगी रहकर थोड़े दिन जीवित रहें तो क्या हानि है? चिकित्सा कुछ श्वासोच्छ्वासकी तरह जीवन के लिये अनिवार्य नहीं है। इत्यादि।

सिर्फ़ यही एक प्रश्न नहीं है, किन्तु और भी अनेक प्रश्न हैं, जैसे—एक आदमी श्रीमान् है, फिर भी वह पैसेके लिये खून तक कराता है, परस्त्री हरण करता है, इसी नीच वृत्तिसे प्रेरित

होकर वह हमारे ऊपर या हमारी पत्नी या बहिनके ऊपर आक्रमण करता है उस समय उसका विरोध करना और विरोध करने में उसका वध करना अनिवार्य हो तो उसका वह वध करे या न करे ? यदि वह अत्याचारी हमारा धन ले जाय या पत्नी या बहिन पर अत्याचार कर जाय तो भी हम सब जीवित तो रहेंगे इसलिये इसलिये स्वासोच्छ्वास के समान उसका विरोध करना अनिवार्य तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह भी ठीक है कि यदि उसका वध न किया जाय तो वह पाप की सफलता से उन्मत्त होकर सैकड़ों जीवनों को बर्बाद करेगा ।

मतलब यह कि ऐसे बहुत से कार्य हैं, जिनको हमें जगत्कल्याणकी दृष्टि से करना चाहिये, भले ही वे स्वासोच्छ्वास के समान अनिवार्य न हों इसलिये यह प्रश्न फिर खड़ा हो जाता है कि जो कार्य अनिवार्य नहीं हैं, उन कार्यों में से किसको उचित और किसको अनुचित कहा जाय ?

यदि यह कहा जाय कि स्वासोच्छ्वास आदि ही नहीं किन्तु जिस किसी हिंसा की हमें आवश्यकता हो वह सब हिंसा विधेय है, अगर उसके बिना हमारी प्राणरक्षा न हो सकती हो; परन्तु इस नियम के अनुसार घोर से घोर हिंसक भी अहिंसक सिद्ध किया जा सकेगा। सिंहादिक हिंसक पशु अपने जीवन की रक्षा के लिये ही गाय आदि पशुओं की हिंसा करते हैं, इसलिये वे भी अहिंसक ही कहलाये । इतना ही नहीं, दुर्भिक्ष आदि के समय यदि मनुष्य के पास कुछ भी खाने को न रहे तो ऐसी हालत में उसे दूसरे प्राणी को ही नहीं किन्तु मनुष्य को भी खा जाने का हक प्राप्त हो जायगा ।

दुर्भिक्ष आदि के समय ऐसी घटनाएँ हो जाया करती हैं। इस प्रकार अहिंसा के विषय में यह एक महान् प्रश्न खड़ा होता है कि कितनी हिंसा को हिंसा न कहा जाय? इस बातको समझने के लिये यहां कुछ नियम बनाये जाते हैं।

१--बिना किसी विशेष प्रयत्न के जो क्रियाएँ शरीर से होती रहती हैं, उनके द्वारा होनेवाली हिंसा, हिंसा नहीं है। जैसे--श्वासोच्छ्वास आदि में होनेवाली हिंसा।

२--शरीर को स्थिर रखने के लिये आहार और पान आवश्यक है। इनकी सामग्री जुटाने में जो हिंसा अनिवार्य हो, वह भी हिंसा नहीं है। परन्तु इस विषय में आगामी तीसरे और सातवें नियमों का खयाल रखना चाहिये।

३--अपने निर्वाह के लिये किसी ऐसे प्राणी का वध न होना चाहिये जिसकी चैत्यन्य की मात्रा करीब करीब अपने समान हो।

४--अपने से हीन चैतन्यवाले प्राणी की हिंसा भी निरर्थक न होना चाहिये।

५--सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा रोकने के लिये ऐसा प्रयत्न न करना चाहिये जिससे दूसरे ढंग से वैसी ही हिंसा होने लगे; साथ ही प्रमाद वगैरह की वृद्धि हो।

६--जीवन के विकास के लिये या परोपकार के लिये अगर सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा करना पड़े तो भी वह क्षन्तव्य है।

७--दो प्राणियों में जहाँ मौत का चुनाव करना है वहां उसकी रक्षा करना चाहिये जो परोपकारी हो। अगर इस दृष्टि से निर्णय न हो सके तो जिससे भविष्य में परोपकार की आशा हो।

८--अत्याचारी के अनिवार्य वध करने में भी हिंसाका पाप नहीं है। शर्त यह है कि वह अत्याचार को रोकने के लिये किया जाय।

९--यदि जीवित रहने की अपेक्षा मरने में कल्याण की मात्रा अधिक हो तो यथायोग्य साम्यभाव से जीवन का त्याग करना या कराना हिंसा नहीं है।

उदाहरणपूर्वक विवेचन किये विना इनका स्पष्टीकरण न होगा इसलिये इन नौ सूत्रोंका यहाँ क्रम से भाष्य किया जाता है।

१--श्वासोच्छ्वास, पलक बन्द करना, निद्रा में हाथ-पाँव आदि का चल जाना, अंग अकड़ न जाय इसलिये अंग संचालन आदि में होनेवाली हिंसा, हिंसा नहीं है।

**प्रश्न**—यदि जीवित रहने में हिंसा अनिवार्य है तो प्राण त्याग कर देना क्या बुरा है? एक की मौत होने पर अनन्त जीवों की रक्षा होगी। जिससे सुखवृद्धि हो, वही तो धर्म है। एक के मरने पर अनन्त जीवों की रक्षा होने से संसार में एक का दुःख और अनन्त का सुख बढ़ता है, इसलिये यही धर्म कहलाया।

**उत्तर**—अगर सब जीवों का सुख बराबर होता तब यह बात उचित कही जा सकती थी। परन्तु जिसके आत्मगुण (चैतन्य) जितने विकसित होते हैं उसमें सुख की शक्ति भी उतनी अधिक होती है। पृथ्वी आदि की अपेक्षा वनस्पति में चैतन्य की मात्रा असंख्यगुणी है। उसमें भी साधारण वनस्पति की अपेक्षा प्रत्येक वनस्पति में असंख्यगुणी है। उससे असंख्यगुणी जोंक आदि में है। उससे असंख्यगुणी तेइन्द्रिय चिउँटी आदि में। उससे असंख्य

गुणी भ्रमर वगैरह में । उससे असंख्यगुणी असंज्ञी पंचेन्द्रिय में । उससे असंख्यगुणी संज्ञी पंचेन्द्रिय में । उससे भी संख्यगुणी मनुष्य में । उसमें भी असंयमी की अपेक्षा संयमी में संख्यगुणी है । यहाँ संयमी से मतलब वेषधारी बाबा लोगों से नहीं है, किन्तु भावसंयमियों से है । इसलिये मनुष्य को जीवित रहने के लिये अगर स्थावर प्राणियों का तथा कृमि आदि त्रस प्राणियों का वध करना अनिवार्य हो तोभी कर सकता है । क्योंकि ऐसा करने पर भी सुख का पलड़ा भारी ही रहेगा । इसीलिये इसे हिंसा नहीं कह सकते ।

२–शरीर की स्थिरता के लिये आहार--पान की हिंसा भी हिंसा नहीं है । शरीर में स्थित जो कृमि आदि हैं उनका विनाश तो हिंसा है ही नहीं, साथ ही किसी बीमारी आदि से कृमि आदि पड़ गये हों तो चिकित्सा द्वारा उनका विनाश करना भी हिंसा नहीं है ।

**शंका**– यदि स्वास्थ्यरक्षा के लिये कृमि आदि का नाश करना हिंसा नहीं है तो कृमि आदि का नाश करके तैयार की हुई दवाइयाँ लेना भी हिंसा न कहलाया ।

**उत्तर**– शरीर में स्थित प्राणियों का वध करना स्वास्थ्य के लिये जैसा और जितना अनिवार्य है वैसा और उतना दूसरे प्राणियों का वध करना अनिवार्य नहीं है । अनिवार्यता की मात्रा पर्याप्त न होने से इसे अहिंसा नहीं कह सकते । अनिवार्यता की मात्रा जितनी कम होगी, हिंसा की मात्रा उतनी ही अधिक होगी । "डॉक्टर ने यही दवाई बतलाई है इसलिये यह अनिवार्य है"

अनिवार्यता का यह ठीक रूप नहीं है किन्तु इसके लिये प्रत्येक सम्भव उपाय की खोज कर लेना चाहिये ।

दूसरी बात यह है कि प्राणियों की द्रव्यहिंसा चार तरह की होती है—संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी ।

किसी निरपराध प्राणीकी जान बूझकर हिंसा करना या अनिच्छापूर्वक भी इस तरह कार्य करना जिससे हिंसा न होने की जगह भी हिंसा हो जाय, वह संकल्पी हिंसा है । कसाई या शिकारी के द्वारा होनेवाला पशुवध साधारणतः संकल्पी हिंसा है ।

सफ़ाई करने, भोजन बनाने आदि कार्यों में जो यथायोग्य यत्नाचार करने पर भी हिंसा होती है, वह आरम्भी हिंसा है ।

अर्थोपार्जन में जो हिंसा होती है, वह उद्योगी हिंसा है ।

कोई दूसरा प्राणी अपने ऊपर आक्रमण करे तो आत्मरक्षा के लिये उसका वध करना विरोधी हिंसा है । जैसे रामने रावण का वध किया ।

इन चार प्रकार की हिंसाओं में संकल्पी हिंसा ही वास्तव में हिंसा है । बाक़ी तीन प्रकार की हिंसाएँ तो तभी हिंसा कही जा सकती हैं जब वे अपनी मात्रा का उल्लंघन कर जाँय, उसमें प्रमाद और कषाय की तीव्रता हो जाय अथवा वे अनिवार्य न रहें ।

औषध के लिये दूसरे प्राणी को मारने में संकल्पी हिंसा है जब कि अपने शरीर में पड़े हुए कीड़ों को मारने में विरोधी हिंसा है । इसलिये पहिली को हम हिंसा कहते हैं, दूसरी को नहीं ।

उदाहरणार्थ, किसी मनुष्य को प्लेग की बीमारी हो गई। प्लेग के कीटाणु किसी सन्धिस्थलपर गिल्टी के रूप में जमा हो गये। उन कीड़ों का हमारे ऊपर यह आक्रमण है--भले ही उनका यह आक्रमण इच्छापूर्वक न हो, परन्तु है वह आक्रमण। इस समय हम कितनी भी निर्दोष औषध का उपयोग करें, परन्तु उन कीड़ों का मारना अनिवार्य है। इसलिये इसे संकल्पी हिंसा न कहकर अनिवार्य विरोधी-हिंसा ही कहना चाहिये।

**प्रश्न**--जीवन को टिकाये रहने के लिये यदि खेती करना, रोटी बनाना आवश्यक मालूम हो तो इसमें भी आप हिंसा न मानेंगे। जब हिंसा नहीं है तब संयमी मुनि भी ये काम करें तो क्या दोष है? यदि कुछ दोष नहीं है तो जैनशास्त्रों में मुनि के लिये इन कार्यों का निषेध क्यों किया है?

**उत्तर**--कृषि आदि कार्य भी यथासाध्य यत्नाचार से किये जाँय तो उनमें हिंसा नहीं है, और एक संयमी मुनि भी ये कार्य कर सकता है। जैनशास्त्रों में मुनि के लिये इन कार्यों की जो मनाई की गई है, वह हिंसा से बचने के लिये नहीं किन्तु परिग्रह से बचने के लिये है। वह भी उस समय की दृष्टि से है, न कि सार्वकालिक। यदि जैनधर्म ने कृषि या पाक के भी कार्य में हिंसा मानी होती तो मुनि को भोजन करने की मनाई की होती; क्योंकि मुनि के भोजन के लिये मुनि को नहीं तो दूसरे को रसोई बनाना पड़ती है, कृषि करना पड़ती है।

**प्रश्न**--मुनि तो उद्दिष्टत्यागी होता है, इसलिये गृहस्थ लोग जो कृषि आदि में हिंसा करते हैं, उसका पाप उसे नहीं लगता,

क्योंकि मुनि अपने निमित्त कुछ भी नहीं बनाता।

उत्तर--'अपने उद्देश से नहीं बना', सिर्फ इसीलिये उसके पाप से कोई नहीं छूट जाता, अन्यथा बाजार में जो चीजें तैयार मिलती हैं वे सब निर्दोष कहलावेंगी। तब तो मांसभक्षी को भी पशुवध का दोष न होगा। यदि कहा जाय कि जो लोग मांस-भक्षण करते हैं उन सबका उद्देश करके पशुवध किया जाता है इसलिये पशुवध का दोष उन सबको लगता है, तो इसी तरह जो लोग अन्न खाते हैं उन सबके ऊपर खेती करने का दोष लगता है, भले ही फिर वह अन्न भिक्षा द्वारा प्राप्त किया जाय। प्राणधारण के लिये अन्न खाना अनिवार्य है, इसलिये खेती करना भी अनिवार्य है। जो अन्न खाता है वह खेती की जिम्मेदारी से कैसे बच सकता है? यदि अन्न खाना पाप नहीं है तो खेती करना भी पाप नहीं है। हां, उसमें यथाशक्ति यत्नाचार करना चाहिये। इसलिये अगर आवश्यकता हो तो मुनि भी कृषि करें तो इसमें मुनित्व का भंग नहीं हो सकता।

२--प्रत्येक प्राणी को जीवित रहने का अधिकार है। अगर हम दूसरे के प्राण लें तो यह अन्याय होगा। परन्तु प्रकृति की गति ऐसी है कि एक जीव के वध हुए विना दूसरा रह नहीं सकता। इसलिये कुछ हिंसाओं को अहिंसारूप मानना पड़ता है। प्रकृति बलवान की रक्षा के लिये निर्बलों की बलि लेती है। धर्म में भी कुछ परिवर्तन के साथ इसी नियम का पालन करना पड़ता है। प्रकृति की नीति में बल शब्द का अर्थ पशुबल या जीवनोपयोगी बल है जबकि धार्मिक नीति में बल-शब्द का अर्थ चैतन्यबल

ज्ञानबल है, जिससे सुखका संवेदन अधिक किया जा सके। इसलिये अधिक चैतन्यवाले की रक्षा के लिये अगर हीन चैतन्यवाले का वध अनिवार्य हो तो करना पड़ता है। परन्तु यदि दो प्राणी ऐसे हों जिनमें समान चैतन्य हो तब उनमें से किसी को भी यह अधिकार नहीं रह जाता कि वह दूसरे की हिंसा करें क्योंकि इससे कल्याण की वृद्धि नहीं है—लाभ और हानि बराबर रहता है।

**प्रश्न**—यदि दोनों बराबर हैं तो अपने बचाने के लिये दूसरे का वध करना उचित कहलाया, अथवा अनुचित तो न कहलाया।

**उत्तर**—इस दृष्टि से बराबर कहलाने पर भी अन्य दृष्टि से कल्याण का नाश हो जाता है। कल्पना करो कि दो मित्र ऐसी जगह पहुँच गये जहां न खाने के लिये कुछ है, न पीने के लिये कुछ है। ऐसी हालत में एक मित्र अगर दूसरे मित्र को मारकर खा जाय तो सम्भवतः एक की जान बच सकती है परन्तु अगर हम इस कार्य को कर्तव्य मान लें तो इसका फल यह होगा कि—(क) दोनों ही एक दूसरे को मारकर स्वयं बचने कोशिश करेंगे, इससे सम्भवतः दोनों ही लड़कर मर जाँयगे अथवा मरनेवाला मारनेवाले को मृतकप्राय जरूर कर जायगा। (ख) संकट का आभास होते ही दोनों मित्र मन ही मन एक दूसरे के शत्रु बन जाँयगे। और जल्दी से जल्दी एक दूसरे को मार डालने के षडयंत्र में लग जाँयगे। इससे जो कष्ट और अशान्ति होगी वह उपेक्षणीय नहीं कही जा सकती। (ग) इस उतावली में कभी कभी अनावश्यक हत्यायें भी हो जाया करेंगी, क्योंकि सम्भव है कि वह विपत्ति इतनी बड़ी न हो जितनी कि उनने उतावली से समझ ली। (घ) इससे जो मानसिक

अधःपतन होगा, विश्वासघात आदि की वृद्धि होगी और समाज की मनो-वृत्ति में जो बुरा परिवर्तन होगा, वह बहुत अधिक होगा। इस प्रकार इससे लाभ तो कुछ न होगा, साथ ही इतने स्थायी और अस्थायी नुकसान होंगे।

**प्रश्न**– ऊपर के उदाहरण में हम दो मित्रों को न लेकर दम्पत्तिको लें तो आत्म-रक्षाके लिये पुरुषके द्वारा स्त्रीका वध होना उचित है या नहीं ? दूसरी बात यह है कि पुरुषकी अपेक्षा स्त्रीकी योग्यता कम होती है।

**उत्तर**-- इससे परिस्थिति में कुछ भी अन्तर नहीं होता। स्त्री भी मित्र है, बल्कि उसकी रक्षा का भार पुरुषके ऊपर होनेसे पुरुषकी जिम्मेदारी और बढ़ जाती है। इसलिये मित्रकी अपेक्षा पतिका विश्वासघात और अधिक हानिप्रद है। इसके अतिरिक्त ऊपर जो मैंने क, ख, ग, घ नम्बर देकर आपत्तियाँ बतलाईं हैं वे यहाँ भी ज्यों की त्यों लागू हैं। योग्यताकी दृष्टिसे भी इसका निर्णय नहीं होता, क्योंकि यहाँ पशुबल आदि की योग्यता से निर्णय नहीं करना है, किन्तु चैतन्य से निर्णय करना है। सुखानु-भव करने की जो शक्ति पुरुष में है, उससे स्त्री में कम नहीं है। समाज के लिये पुरुष जितना आवश्यक है--स्त्री उससे कम आवश्यक नहीं है। परिस्थिति के अन्तर से दोनों का कार्यक्षेत्र जुदा जुदा है, परन्तु नैसर्गिक योग्यता तथा समाज-हितकी दृष्टि से दोनों समान हैं। इसलिये स्त्री-पुरुष, नीच-ऊँच, विद्वान्-अविद्वान्, श्रीमान् गरीब आदि का भेद यहां नहीं लगाया जा सकता। अन्यथा क, ख, ग, घ वाले उपयुक्त दोष बहुत भयंकर रूप धारण कर लेंगे।

**प्रश्न**– ऐसे अवसर पर अगर स्त्री, पुत्र, दास आदि कोई व्यक्ति स्वेच्छासे आत्म-समर्पण करे तब तो उपर्युक्त दोष निकल जावेंगे।

**उत्तर**– परन्तु ऐसी अवस्था में वे स्त्री, पुत्र या दास इतने महान्, उच्च और पूज्य हो जाँयगे कि कोई भी व्यक्ति, जो उनके बलिदान पर जीवित रहना चाहता है, उनसे अधिक योग्य न रह सकेगा। ऐसी हालत में उनका बलि लेना देवदारुकी लकड़ी की रक्षाके लिये चन्दन जलानेके समान होगा।

**प्रश्न**– एक मनुष्य ऐसा है, जिस पर सैकड़ों का जीवन या उनकी उन्नति अवलम्बित है। वह अगर अपनी रक्षाके लिये किसी साधारण मनुष्य का अनिवार्य परिस्थिति में वध करे तो उस का यह कार्य निर्दोष कहा जा सकता है या नहीं ?

**उत्तर**– इसके लिये चार बातों का विचार करना चाहिये। (अ) मैं हज़ारोंका अवलम्बन हूँ--इसका निर्णय वह स्वयं न करे किन्तु वह करे, जिसे अपने जीवन का बलिदान करना है। (आ) बलिदान स्वेच्छापूर्वक होना चाहिये। (इ) इस कार्य में आत्मरक्षा का भाव नहीं परन्तु समाज-रक्षा का भाव होना चाहिये। (ई) 'मेरा यह कार्य आत्मरक्षा के लिये है या समाज़-रक्षा के लिये' इस प्रकार का संदेह का विषय बनाने से तथा दूसरे की बलि के ऊपर अपनी जीवनरक्षा होने से उसे हार्दिक पश्चात्ताप होना चाहिये। ये शर्तें बहुत कड़ी शर्तें हैं, सूक्ष्म होने से भी इनका पालन बहुत कठिन है। साथ ही ये अपवाद के निर्णय के लिये हैं इसलिये अपने अधःपतन तथा धर्मनीतिपर आघात होने की बहुत सम्भावना है, इसलिये बहुत सतर्कता के साथ इस अपवाद

का पालन होना चाहिये ।

**प्रश्न**--प्रकृति जैसे पशुबल के आधार पर चुनाव कराती है तथा इसी मार्ग से विकास होता है, धर्म में भी उसी नीति का अवलम्बन क्यों न किया जाय ?

**उत्तर**– प्रकृति और धर्म के लक्ष्य में बहुत अंतर है। विकास सुखरूप ही नहीं होता, दुःखरूप भी होता है । प्रकृति की दृष्टि में सुख और दुःख में कोई अन्तर नहीं है । उसके लिये तो स्वर्ग भी विकास है, नरक भी विकास है। परन्तु धर्म का सम्बन्ध सुखसे है, वह स्वर्ग को उन्नति और नरक को अवनति कहता है । प्रकृतिकी कसौटी को अगर धर्म भी अपनाले तो धर्म की कोई ज़रूरत नहीं रह जाती है । क्योंकि प्रकृति तो अपना काम अपने आप कर रही है, उसका भूलसुधार अगर धर्म नहीं करना चाहता तो उसकी ज़रूरत क्या है। विकास का अर्थ है बढ़ना; धर्म प्रकृति के बढ़ने को नहीं रोकता किन्तु प्रकृतिकी जो शक्ति नरक की तरफ़ बढ़ने में खर्च होती है उसे वह स्वर्गकी तरफ़ ले जाता है, सुखकी तरफ़ ले जाता है। इसलिये प्रकृति की और धर्म की कसौटी में थोड़ा फ़रक है ।

४–अपने से हीन श्रेणी के प्राणी की हिंसा निरर्थक न होना चाहिये, इस वाक्य में निरर्थक शब्द जटिल है; क्योंकि कोई आदमी घूमने को भी निरर्थक कहता है, और दूसरा मौजशौक के लिये पशुवध या नरवध को भी सार्थक समझ सकता है । इसलिये यहाँ कुछ सूचनाएँ लिख दी जातीं हैं:–

(क) जो हिंसा स्वास्थ्यरक्षा या ज्ञानोन्नति में सहायक नहीं

है, वह निरर्थक है । वायुसेवन आदि स्वास्थ्यरक्षा तथा मन शान्ति के लिये उपयोगी होने से निरर्थक नहीं है ।

(ख) जितनी सार्थकता है उसके अनुकूल ही हिंसा होना चाहिये। जैसे-वायुसेवन में संकल्पी हिंसा नहीं होती, सूक्ष्म और अदृश्य जीवों की ही विशेषतः हिंसा होती है, तो यह लाभ के अनुकूल हिंसा है। परन्तु यदि कोई व्यायाम के नाम पर पशुओं का शिकार करे तो यह हिंसा लाभ के अनुसार नहीं है क्योंकि इसमें अपने ही समान पञ्चेन्द्रिय प्राणियों को जानसे हाथ धोना पड़ता है और इससे फल बहुत थोड़ा होता है ।

निरर्थकता का पूरा निर्णय करना कठिन है परन्तु अहिंसा के अन्य नियमों के अनुसार द्रव्य क्षेत्र काल भाव देखकर निरर्थकता का निर्णय करना चाहिये ।

५–सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा रोकने के लिये कभी कभी ऐसे प्रयत्न किये जाते हैं जो असफल होने के साथ कष्टप्रद होते हैं; जैसे दाँतुन नहीं करना, स्नान नहीं करना, मुँहपत्ति बाँधना, कीड़ियों को शक्कर डालना, कसाइयों के हाथ से पैसा देकर पशु, पक्षी, मछली आदि छुड़वाना आदि ।

दांतुन नहीं करने से हिंसा नहीं रुकती । मुंह के साफ करने से यदि दाँतों के कीड़े मरेंगे तो एकबार मरेंगे; किन्तु साफ न करने से उससे कईगुणे कीड़े वहां पैदा होंगे और थूक के साथ पेटकी भट्टी में चले जाँयगे । इसके अतिरिक्त गंदगी से मुँह में दुर्गंध आने लगती है, इससे अपने को कष्ट होता है और इससे भी अधिक उन्हें होता है जो अपने साथ बात करते हैं । इसके साथ गंदगी से

प्रमाद भी बढ़ता है। इसलिये अहिंसा के नाम पर यह निरर्थक यत्नाचार है।

यही बात स्नान न करने के विषय में भी है। शरीर में पसीना तो आया ही करता है जो जीवयोनि है। अगर उसे साफ़ न किया जाय तो मलिनता आदि बढ़ने से जीव अधिक पैदा होने लगते हैं, दुर्गंध भी बढ़ती है, प्रमाद भी बढ़ता है। उचित साधन न मिलें और स्नान न किया जाय तो कोई हानि नहीं, परन्तु अस्नान को व्रत बनाने की जरूरत नहीं है।

जिन दिनों मुनि समाज में नहीं रहते थे, प्रतिदिन भोजन भी नहीं करते थे, जंगल में रहने से स्नान वगैरह के पवित्र साधन नहीं मिलते थे, उस समय ये व्रत बनाये गये। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि स्नान आदि क्रियाओं को ही परमधर्म माननेवाले और इसके न करने में महान् अधर्म माननेवाले लोगों के दुराग्रह का विरोध करने के लिये यह नियम बनाया गया हो, और पीछे कारणवश इसे भी ऐकान्तिक रूप देना पड़ा हो, या ऐकान्तिक रूप प्राप्त हो गया हो। अथवा यह भी सम्भव है कि स्वच्छता के नाम पर मुनियों में शृंगारप्रियता बढ़ने लगी हो और शृंगारप्रियता को रोकने के लिये तथा मुनियों को परिषहविजयी बनाने के लिये ये नियम बनाये गये हों। मतलब यह कि अहिंसा के लिये ये नियम निरुपयोगी हैं। दूसरी दृष्टि से उस समय इनके बनाने की आवश्यकता हुई होगी, परन्तु आज की परिस्थिति में ये निरर्थक हैं।

मुँहपत्ति के विषय में भी यही बात है। वह वायुकाय के

जीवों की रक्षा के लिये बाँधी जाती है, परन्तु निरर्थक है, क्योंकि मुँहपत्ति से मुँह की वायु रुककर सामने न जाकर नीचे जायगी, परन्तु वायु तो वहां पर भी है। इसलिये वहां भी जीव मरेंगे। इसके अतिरिक्त कपड़े में जो गर्मी पैदा हो जाती है, उससे पीछे भी जीव मरते रहते हैं। इसके अतिरिक्त थूक वगैरह से मुँहपत्ति कृमिपूर्ण हो सकती है। इस प्रकार उससे उतना लाभ नहीं है, जितनी हानि है। फिर भी हिंसा नहीं रुकती, नासिका की वायु से तथा शरीर के सम्पर्क से जीव-हिंसा होती ही रहती है। इसके लिये नासिकापत्ति नहीं लगाई जा सकती है। न सारा शरीर आवृत किया जा सकता है।

कई लोग कीड़ियोंको शक्कर डालकर असंख्य कीड़ियोंको एकत्रित करके हिंसा के साधन एकत्रित करते हैं। एकबार मैंने देखा कि सड़क के एक किनारे असंख्य चींटे मरे पड़े हैं। मैं समझ नहीं सका कि ऐसी स्वच्छ सड़क पर असंख्य चींटे मरने के लिये कहाँ से आ गये? इस प्रकार की घटना जब मैंने बार बार देखी तब मुझे और भी आश्चर्य हुआ। परन्तु, एक दिन मेरी नज़र एक पास के वृक्ष के नीचे पड़ गई; वहाँ किसी धर्मात्मा जीवने बहुतसी शक्कर डाली थी। उसकी दयालुता का ही यह फल था कि असंख्य चींटे शक्कर के लोभ से वहाँ आते थे और राहगीरों के पैरों से कुचल-कर मौत के मुँह में जाते थे। कीड़ों-मकोड़ों की दया इसमें नहीं है कि उन्हें मरने के लिये निमंत्रण दिया जाय, किन्तु इसमें है कि स्वच्छता रखकर उन्हें पैदा होने न दिया जाय। स्वच्छता न रखना कीड़ों की हिंसा करना है।

कई लोग पैसा देकर कसाइयों से जीव छुड़ाते है। ऐसे

आते उनकी रक्षा न करना और रक्षा न करने को धर्म समझना ठीक नहीं है।

७— दो प्राणियों में से एक का मरना अनिवार्य हो और एक के मारने से दूसरा बच सकता हो तो परोपकारीको बचाना उचित है। जैसे--माता के उदर में बच्चा इस तरह फँस गया है कि किसी भी तरह नहीं निकलता। सिर्फ़ दो ही उपाय हैं कि या तो बच्चे को काटकर माता को बचाया जाय या माता का पेट चीरकर बच्चा निकाल लिया जाय तो ऐसी हालत में माता का बचाना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि बच्चे का उपकार माता के द्वारा हुआ है, न कि बच्चे के द्वारा माता का उपकार। ऐसी हालत में बच्चे का वध करना भी कर्तव्य है। यदि इस प्रकार निर्णय न हो सके अर्थात् उनमें उपकार्य उपकारक भाव न हो तो जो अधिक संयमी (संयमवेषी नहीं) तथा समाज हितकारी हो उसका रक्षण करना चाहिये। मतलब यह कि अहिंसा--दयालुता--के नामपर दोनों को मरने देना, प्राणिरक्षा के लिये की जानेवाली अनिवार्य हिंसा को भी पाप समझना भूल है।

८-- अत्याचार रोकने के लिये अत्याचारीका अनिवार्य वध भी हिंसा नहीं है। जैसे रामने सीता के ऊपर होनेवाले अन्यायको रोकने के लिये रावण का वध किया। अथवा कल्पना करो कि कोई मुनिसंघ जंगल में बैठा हो और कोई जानवर उनपर आक्रमण करे और उसके रोकने के लिये अगर उसका वध करना पड़े तो भी वह क्षन्तव्य है, भले ही यह काम मुनि ही क्यों न करे। जब सामान्यरूप में उसका वध करना उचित है, तब वह श्रावक

करे या मुनि, एक ही बात है। योग्यता, अयोग्यता की या संस्था की संघटना की बात दूसरी है, परन्तु धर्माधर्म की दृष्टि से उसमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता।

**प्रश्न**--क्या जो श्रावक का कर्तव्य है, वह मुनिका भी अवश्य है? दोनों का कर्तव्य-क्षेत्र क्या बिलकुल एक है? यदि हाँ, तो दोनों में अन्तर क्या है?

**उत्तर**---श्रावक और मुनि का भेद कार्य का भेद नहीं है किन्तु आसक्ति अनासक्ति का भेद है। जो अनासक्त रहकर कार्य करता है वह मुनि है। जिसकी आसक्ति मर्यादित है, वह श्रावक है। जिसकी आसक्ति अमर्याद है वह असंयमी है। जो कर्तव्य सामान्यतः कर्तव्यरूपमें निश्चित हुआ हो, वह सभी के लिये कर्तव्य है। और जो अमुक व्यक्ति या व्यक्ति समुदाय की अपेक्षा कर्तव्य माना गया हो वह उसी व्यक्ति या समष्टि के के लिये कर्तव्य है। जैसे मन्दिर में जाकर देवकी पूजा करना उसी के लिये कर्तव्य है, जिसको उसकी जरूरत हो, महात्माओं के लिये नहीं। कर्तव्य का भेद मुनि-श्रावक का भेद नहीं है, किन्तु भावना और जरूरत का भेद है। यह बात दूसरी है कि अनासक्त जीवन बिताने के लिये द्रव्यक्षेत्रकालभाव के अनुसार मुनि जीवन के बाह्यरूप अनेक प्रकार के हों।

९--धर्म का लक्ष्य कल्याण है। कभी कभी जीवन कल्याण का विरोधी हो जाता है, उस समय कल्याण के लिये जीवन का त्याग करना पड़ता है। परन्तु उसे आत्महत्या नहीं कहते। उदाहरणार्थ, सल्लेखना या समाधिमरण की क्रिया ऐसी ही है। जब

कोई मुनि या गृहस्थ देखता है, कि वह ऐसे उपद्रव या बीमारी आदि में फंस गया है या जरावस्था के कारण वह अपने को और दूसरों को दुःख का कारण बन रहा है और इसका प्रतीकार कुछ नहीं रहा है, तब वह किसी सौम्यविधि से प्राणत्याग करता है। यदि किसी को इस प्रकार मरने में कष्ट मालूम होता हो तो उसका प्राणत्याग करना निरर्थक है। जब प्राणत्याग जीवन की अपेक्षा श्रेयस्कर मालूम हो, तभी करना चाहिये। ऐसे प्राणत्याग में सहायक होना भी अनुचित नहीं है। परन्तु यह कार्य होना चाहिये प्राणत्याग करनेवाले की इच्छा के अनुसार। अपने आप तो इस प्रकार का प्रस्ताव रखना भी अनुचित है, बल्कि अगर वह स्वयं इच्छा प्रदर्शित करे, तो एक दो बार मना भी करना चाहिये। फिर जब यह अच्छी तरह निर्णय हो जाय कि वास्तव में इसकी इच्छा है, यह लोकलज्जा आदि से ऐसा नहीं कह रहा है, और इसकी अवस्था भी प्राणत्याग करने के लायक है तब उसके इस कार्य में सहयोग करना चाहिये। समाधिमरण के विषय में आगे कुछ विस्तार से विवेचन किया जायगा।

समाधिमरण की इस प्रक्रिया के लिये ही इस नियम की उपयोगिता नहीं है किन्तु और भी ऐसे अवसर आ सकते हैं जब स्वेच्छापूर्वक प्राणत्याग करने पर भी आत्महत्या का दोष नहीं लगता। जैसे--किसी सती के ऊपर बलात्कार करने के लिये कोई उसका हरण कर ले और वह सती, सतीत्व की रक्षा के लिये नहीं--क्योंकि यदि सती की इच्छा न हो तो बलात्कार होने पर भी सतीत्व नष्ट नहीं होता--किन्तु अत्याचारी के अत्याचार को निष्फल बनाने के लिये जिससे कि भविष्य में अत्याचारी अत्याचार से विरत हो, अगर प्राणत्याग करे

तो उसे आत्महत्या का पाप न लगेगा। इसी प्रकार धर्मरक्षा, नीति-रक्षा, देशरक्षा आदि के लिये प्राणत्याग करना अनुचित नहीं कहा जा सकता। यदि किसी को यह विश्वास हो जाय कि मेरे जीवित रहने से असह्य यन्त्रणाएं देकर मेरे जीवन का दुरुपयोग किया जायगा, रहस्योद्घाटन करके अनेक न्यायमार्गियों को सताया जायगा, तो इसके लिये भी प्राणत्याग करना अनुचित नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार और भी बहुत से अवसर हो सकते हैं जब कि आत्म-कल्याण और समाजहित की दृष्टि से प्राणत्याग करना पड़े परन्तु उसे आत्महत्या का पाप न लगे।

हां, यह बात अवश्य है कि जो काम किया जाय समभाव से किया जाय। उसमें अगर व्यक्तिगत द्वेष पैदा हो जाय, कर्तव्यबुद्धि न रहे या गौण हो जाय तो वहां असंयम हो जायगा। वह उतने अंश में हिंसा कहा जायगा।

अहिंसा के ऊपर--खासकर जैनधर्म की अहिंसा के ऊपर यह दोषारोप किया गया है कि इससे मनुष्य कायर हो जाता है, देशरक्षा आदि का कार्य नहीं किया जा सकता, भारत की परा-धीनता का कारण यह अहिंसा ही है।

परन्तु मेरी समझ में इस दोषारोप में कुछ दम नहीं है। यों तो प्रत्येक गुण की ओट में दोष छुपा करता है, या बहुत से दुर्गुण गुणों के रूपमें दिखलाये जाते हैं, परन्तु इसीलिये गुणों की अव-हेलना नहीं की जा सकती। क्षमा की ओट में निर्बलता, विनय की ओट में चापलूसी, अमायिकता की ओट में चुगलखोरी, मित-व्ययिता की ओट में कंजूसी आदि छिपायी जाती है। इसी प्रकार

अगर किसी ने अहिंसा की ओट में कायरता को छिपाया हो तो इसमें न तो कोई आश्चर्य की बात है न इससे अहिंसा की निन्दा की जा सकती है। संसार में ऐसा कोई गुण नहीं है जिसके नाम का दुरुपयोग नहीं किया जाता हो।

जैनधर्म ने अहिंसापालन की ऐसी कड़ी शर्त कहीं नहीं लगाई जिससे एक राजा को या क्षत्रिय को या किसी को भी अपने लौकिक कर्तव्य से च्युत होना पड़े। अगर कोई राजा जैन हो जाय और वह गृहस्थोचित अहिंसा-व्रत (अणुव्रत) का पालन करने लगे तो वह प्रजा को दंड न दे सकेगा या प्रजा की रक्षा के लिये युद्ध न कर सकेगा-यह बात न तो जैनधर्म के आचारशास्त्र से सिद्ध होती है न जैन कथा-ग्रन्थों के चरित्रचित्रणों से मालूम होती है।

गृहस्थ विरोधी हिंसा का त्यागी नहीं है, इसलिये वह युद्ध कर सकता है--यह बात तो प्रायः सब जगह मिलती है और जैनाचार्यों ने जहां युद्धादि का वर्णन किया है वहां यह बात भी दिखलाई है कि अणुव्रती लोग भी सैनिक जीवन व्यतीत करते थे।

रविषेणकृत पद्मचरित में जहां सैनिकों का वर्णन है वहां स्पष्ट कहा है कि कोई सैनिक सम्यग्दृष्टि है, कोई अणुव्रती [*] है।

जैन-पुराणों में युद्ध और दिग्विजय के खूब ही सुन्दर और विस्तृत वर्णन आते हैं, और ऐसा कहीं नहीं लिखा कि युद्धों से किसी का जैनत्व नष्ट हो गया या वह अणुव्रती नहीं रहा। जैनियों

---

[*] सम्यग्दर्शनसम्पन्नः शूरः कश्चिदणुव्रती।
पृष्ठतो वीक्ष्यते पत्न्या पुरस्त्रिदशकन्यया ॥ ५२-१६८ ॥

ने जितने महापुरुषों को माना है वे सब प्रायः क्षत्रिय हैं और प्रायः
उन सबके साथ युद्धों की परम्परा लगी हुई है। अहिंसा और धर्म
के पूर्णावतार-स्वरूप तीर्थंकरों के जीवन भी युद्ध से खाली
नहीं हैं।

हरिवंश पुराण में नेमिनाथ तीर्थंकर का महाभारत युद्ध में
भाग लेना बतलाया है। दोनों तरफ के वीरों की लिस्ट में नेमिनाथ
का नाम ▦ आता है। इन्द्र के द्वारा भेजे हुए रथ पर चढ़कर
नेमिनाथ युद्ध में जाते हैं। नेमीश्वर शाक्र नामक शंख बजाते हैं
और दक्षिण दिशा से चक्रव्यूह का भेदन करते हैं। अरिष्टनेमि के
रथ के घोड़े हरे रंग के थे और जब जरासिन्ध ने कृष्ण के ऊपर
चक्र छोड़ा तब वे कृष्ण के साथ खड़े थे। चक्र ने नेमिनाथ की
और कृष्ण की प्रदक्षिणा की थी।

शान्तिनाथ, कुन्थनाथ और अरनाथ तो तीर्थंकर होने के
साथ चक्रवर्ती भी थे इसलिये उनने छः खण्ड की विजय भी की
थी। जब तीर्थंकर सरीखे सर्वश्रेष्ठ धर्माधिकारी युद्ध करते हैं और
जैनशास्त्र इसका सुन्दर, विस्तृत और प्रशंसापूर्ण शब्दों में वर्णन

---

▦ यदुष्वतिरथो नेमिस्तथैव बलकेशवौ। अतिक्रम्य स्थितान् सर्वान् भारतेऽतिरथांस्तु ते। ५०-७७। मातल्यधिष्ठितं सास्त्रं सुत्रामप्रहितं रथं। नेमीश्वरः समारूढो यदूनामर्थसिद्धये। ५१-११। दध्मौ नेमीश्वरः शंखं शाक्रं शत्रुभयावहम्। ५१-२०। मध्यं बिभेद सेनानी नेमिर्दक्षिणतः क्षणात्॥ ५१-२२॥ अरिष्टनेमिवीरस्य वृषकेतुमहारथः शुकवर्णसमैरश्वैर्युक्तोऽयं स्वर्णशृंखलैः। ५२-६। नेमीशस्त्ववधिज्ञातभाविकार्यगतिस्थितिः चक्रस्याभिमुखश्चक्रे विष्णुनैव सह स्थितिं। ५२-६४। सहप्रदक्षिणीकृत्य भगवन्नेमिना हरिं। तत्करे दक्षिणे तस्थौ शंखचक्रांकुशांकिते। ५२-६६।

करते हैं, तब यह नहीं कहा जा सकता कि जैन होने से कोई युद्ध के काम का नहीं रहता। जैनशास्त्रों में आये हुए जैन महापुरुषों की अगर गिनती लगाई जाय तो सौ में निन्यानवे से अधिक महा-पुरुष तो क्षत्रिय-वर्ण के ही मिलेंगे, इससे कहा जा सकता है कि जैनधर्म सार्वधर्म होनेपर भी विशेषतः क्षत्रियों का धर्म है अथवा यों कहना चाहिये कि क्षत्रियों ने इस धर्म से विशेष लाभ उठाया है और क्षत्रिय-वर्ण तो एक युद्धजीवी वर्ण रहा है। इससे कोई कहे कि जैनधर्म की अहिंसा ने भारतीयों को युद्धविमुख बना दिया और इससे वे पराधीन हो गये तो उसका यह कहना अहिंसा और खास-कर जैनधर्म की अहिंसा से नासमझी प्रगट करना है, साथ ही उसपर अन्याय करना है।

**शंका**-- आप पार्श्वनाथ के पहिले जैनधर्म का अस्तित्व अँधेरे में मानते हैं, फिर यहाँ अरिष्टनेमि, शान्तिनाथ, कुन्थनाथ, राम, रावण आदि के नामों का उपयोग क्यों करते हैं? ये सब पार्श्वनाथ के पहिले के हैं इसलिये जैनी अहिंसा को समझाने के काम में ये नहीं आ सकते।

**समाधान**-- कोई चरित्र कल्पित हो या तथ्यपूर्ण, परन्तु उसके चित्रण में चरित्रनिर्माताका हृदय रहता है। मानलो राम रावण आदि की कथाएँ बिलकुल कल्पित हैं, परन्तु उससे इतना तो मालूम होता है कि कथाकार राम और सीताको पुरुष और स्त्री का आदर्श मानता है। इसी प्रकार जैन ग्रन्थकारोंकी कथावस्तु कल्पित भले ही हो, परन्तु उससे उन ग्रन्थकारोंका हृदय मालूम होता है। इस प्रकार इतिहास की अपेक्षा भी इन कल्पित कथाओंका महत्त्व

तथा उपयोगिता बढ़ जाती है, क्योंकि इतिहास से तो हमें इतनाही मालूम होता है कि 'क्या हुआ,' परन्तु कल्पित कथा से या इच्छानुसार परिवर्तित कथासे हम यह जान सकते हैं कि 'क्या होना चाहिये'। मैंने जो उपर्युक्त उदाहरण लिये, वे ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं, किन्तु जैनदृष्टि को समझाने की दृष्टिसे। इस दृष्टिसे तो तथ्यपूर्ण चरित्रों की अपेक्षा कल्पित चरित्र अधिक उपयोगी होते हैं।

**शंका**-- जैनधर्म की अहिंसा भले ही मनुष्य को कायर न वनाती हो और जैनचार्यों ने भले ही अपने शुभ स्वप्नों का चित्रण चरित्रग्रन्थों में किया हो, और सम्भव है म.महावीर के समयके आसपास उसका ऐसाही रूप रहा हो, परन्तु पीछे से जैन-समाज अवश्य ही एक कायर समाज वन गया; इतना ही नहीं, किन्तु उसने समाज पर एक ऐसी छाप मारी कि सभी लोग कायर हो गये। यही कारण है कि भारतवर्ष को गुलामी की जंजीरें पहिनना पड़ी हैं।

**समाधान**-- पिछले सवा दो हज़ार वर्ष के इतिहास पर अगर नज़र डाली जाय तो हमें सम्भवतः एक भी उदाहरण न मिलेगा कि जैनी अहिंसा ने देश को गुलाम वनाया हो। सिकन्दर से लेकर अंग्रेजी लड़ाइयों तक जितने युद्ध हुए हैं, और उनमें जहाँ जहां भी भारतीयों का पराजय हुआ है, वहाँ वहां मुख्यतः फूटने तथा राष्ट्रीयभावना के अभाव ने काम किया है। कहीं कहीं अन्धविश्वास या चौकापन्थी मूढ़ताने भी पराजित होने में सहायता पहुंचायी है। सिकंदर की पोरस पर जो विजय हुई थी उसका कारण

तो हाथियों का बिगड़ना आदि था, परन्तु उसके पहिले जो सफलता हुई थी उसका कारण फूट ही था। इस्लामधर्मवालों के संघर्षमें भी हमें हर जगह फूट या राजनैतिक मूर्खता ही दिखाई देती है और ऐसे ही कारण अंग्रेजी संघर्षके समय में भी रहे हैं। "मैं अहिंसक हूं इसलिये युद्ध नहीं करूंगा" ऐसा विचारकर किसीने देशको विदेशियोंके ताबे कर दिया हो, ऐसी कोई घटना नहीं मिलती। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक युग में जैन नरेशोंके युद्ध और विजय का इतिहास मिलता है। सम्राट् खारवेलका नाम तो प्रसिद्ध ही है, परन्तु कुछ शताब्दी पहिले तक जैन राजा होते रहे हैं। आज जैनियों के हाथ में राज्यश्री नहीं है इसका कारण अहिंसा नहीं है, किन्तु प्रकृतिका नियम है। बड़े बड़े साम्राज्य डूबे, सभ्यताएँ डूबी, इस तरह परिवर्तन होते ही रहते हैं उसी नियमानुसार जैन युग भी चला गया।

ऐतिहासिक घटनाओंका निरीक्षण करने से भारतकी पराजयके कुछ कारण स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। जैसे—

१ फूट—पृथ्वीराज, जयचन्द्र, आदि इसके उदाहरण हैं।

२ ईर्ष्या—मराठा साम्राज्यके अधःपतनके समय सिंधिया होलकर आदि में।

३ विश्वासघात—सिक्ख सेनापति, मीरजाफ़र आदि।

४ राजनैतिक— पृथ्वीराजकी अनुचित क्षमा, राणा प्रताप का भाइयों को विद्रोही बना लेना। वीरता होने पर भी नीति से काम न लेना।

५ चौकापन्थी मूढ़ता—हिन्दू सिपाहियोंकी रसोई में मुसलमान सिपाहियों के आने से रसोईका अपवित्र मान लेना इससे

हिन्दू सिपाहियों का भूखे रहना और तैयार रसोई विरोधियों के हाथ लगना आदि।

६— अन्धविश्वास—शत्रुदलने अगर तीर मारकर झंडा गिरा दिया तो सिर्फ़ इसी बात से हिन्दू सेना का भाग उठना।

७— अराष्ट्रीयता—एक हिन्दूराजा के अधःपतन को दूसरे हिन्दूराजा का चुपचाप देखते रहना। राष्ट्रीयता के नाते उसे अपनी क्षति न समझना।

८— वर्णव्यवस्था—राज्यका कारबार क्षत्रियोंके हाथ में ही होने से अन्य तीन वर्णोंका इस तरफ़ से उदासीन होकर 'कोउ नृप होय हमें का हानी' वाली नीतिका पालन करना। इसलिये विदेशी राजाओं का भी स्वदेशी राजाओं की तरह स्वागत करना।

९—कोई भी देश जब अपने समय में समृद्धिकी चरमसीमा पर पहुँच जाता है तब उस में विलासिता आदि की मात्रा बढ़जाती है, धर्म और अर्थ लुप्तप्राय हो जाते हैं और कामका राज्य बढ़जाता है। इससे अनेक दुर्गुण पैदा होने के साथ वीरता और त्यागका अभाव हो जाता है। भारत में भी ऐसा ही हुआ।

उपर्युक्त कारण जितने जबर्दस्त हैं उतने ही स्पष्ट हैं। सम्भव है कोई हलकी पतली ऐसी भी घटना हुई हो जहाँ किसी धर्माभासी राजाने अहिंसा धर्म की ओट में अपनी कायरता को छुपाकर शत्रुओंको घुसने दिया हो, परन्तु ऐसी घटनाएँ इतनी बड़ी नहीं हैं जिनका देशव्यापी प्रभाव पड़ा हो, और इतिहास में जिनके लिये कोई स्थान हो।

यह भी सम्भव है कि कुछ जैनाचार्योंने अहिंसा के संकुचित

रूपका प्रचार किया हो, परन्तु इससे देशको कुछ हानि हुई हो ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। हाँ, इससे अनेक राजाओंने जैनधर्म छोड़ दिया और सम्भवतः अनेक क्षत्रिय जातियाँ वैश्य बन गईं, परन्तु ये परिवर्तन देशके पतन में कारण नहीं हुए। इससे जैनधर्म के प्रचार में बाधा पड़ी, उसके पालनेवालों की संख्या घट गई, परन्तु इससे राष्ट्रको कोई क्षति नहीं उठानी पड़ी।

आज जैनधर्म वैश्यों के हाथ में है, इसलिये उसका रूप कुछ दूसरा ही दिखलाई देता है। जैनपुराणों में वर्णित और आचारशास्त्र में कथित रूप नहीं दिखलाई देता। वह दिखलाई देता तब, जब उसके पालन करनेवाले क्षत्रिय भी बचे होते। इसके कारण तो अनेक हैं परन्तु पिछले समय के धर्मगुरुओं का अहिंसा के विषय में अव्यावहारिक दुराग्रह भी कारण है, जिसका दुष्फल जैनसमाज को भोगना पड़ा है। फिर भी देशकी राजनीति पर उसका कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा है।

सार यह है कि जैनधर्म की अहिंसा का क्षत्रियत्व के साथ जरा भी विरोध नहीं है। हां, जैनधर्म इतना जरूर कहता है कि निरर्थक रक्तपात न होना चाहिये। रक्तपात जितना कम हो, उतना ही अच्छा। यह बात जैनपुराणों के चरित्रचित्रण से भी स्पष्ट होती है। उदाहरणार्थ-वाल्मीकि रामायण के अनुसार सीता चुराने के कारण सिर्फ रावण ही नहीं मारा गया किन्तु कुम्भकर्ण इन्द्रजित वगैरह भी मारे गये। जैनपुराण इतनी हिंसा निरर्थक समझते हैं, इसलिये वे रावण का तो वध कराते हैं--क्योंकि उसका अपराध प्राणदंड के ही योग्य है-परन्तु इन्द्रजित कुम्भकर्ण वगैरह को कैद

कराते हैं और युद्ध के अंत में वे छोड़ दिये जाते हैं, जिससे वे श्रमणदीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त करते हैं । इसी प्रकार जैन महाभारत में भी दुर्योधन आदि मारे नहीं जाते, किन्तु कैद होते हैं और अंत में श्रमण बनते हैं । यही हाल कीचक का भी होता है । वह भी मारा नहीं जाता । इस चरित्रचित्रण का सार इतना ही है कि आवश्यकतावश मनुष्यवध करना पड़े तो किया जाय, परन्तु जहां तक हो वह कम किया जाय । शत्रु अगर गुड़ से मरता हो तो विष से न मारा जाय । वह सुधर सकता हो तो उसे सुधरने का मौका दिया जाय । मैं नहीं समझता कि इस नीति को कोई अनुचित कहेगा । किसी समय की बात दूसरी है । परन्तु धर्म का समय राजनैतिक परिस्थितियों के समय से कुछ बड़ा होता है । धर्म इन परिस्थितियों के अनुसार कार्य करने का निषेध नहीं करता, फिर भी उसकी दृष्टि मनुष्यता तथा सर्वभूतहित पर रहती है । जीवन में उत्सर्ग और अपवाद दोनों की आवश्यकता होती है । उत्सर्ग के स्थानपर अपवाद का प्रयोग जिस प्रकार अनुचित है, उसी प्रकार अपवाद के स्थानपर उत्सर्ग का प्रयोग करना भी अनुचित है । मनुष्य इनके प्रयोगों में भूलता है परन्तु उसके फलको भूल का फल नहीं मानता किन्तु नियम नीति या धर्म का दुष्फल मानता है यह ठीक नहीं है ।

मैं पहिले कह चुका हूं कि प्रत्येक गुण का दुरुपयोग किया जा सकता है, किन्तु इसीलिये गुण निंदनीय नहीं होते । इसी प्रकार अहिंसा का भी दुरुपयोग हो सकता है और अनेक जगह हुआ भी है, परन्तु इसीसे वह निंदनीय नहीं हो सकती । जैनधर्म की

अहिंसा हो या अन्य किसी धर्म की अहिंसा हो, सब के विषय में यही बात कही जा सकती है। किसी वस्तु की परीक्षा करते समय सिर्फ उसके दुरुपयोग पर ही नजर न रखना चाहिये, किन्तु उसके वास्तविक रूप पर दृष्टि डालना चाहिये, इस दृष्टि से जैनी अहिंसा पर विचार किया जाय तो वह अनुचित न मालूम होगी, किन्तु अनेक दृष्टियों से उसमें उपयोगी विशेषताएँ मालूम होगीं।

## सत्य

जैसे को तैसा कहना सत्य है। परन्तु यह सत्य ज्ञानके क्षेत्रका सत्य है। धर्म के क्षेत्रका सत्य इससे भिन्न है। धर्म तो जगत्-कल्याण के लिये है इसलिये धर्म के क्षेत्र में वही वचन सत्य कहा जा सकता है जो कल्याणकार हो। इसलिये दोनों सत्योंका भेद समझने के लिये मैं जुदे जुदे शब्द रख लेता हूँ। जैसे को तैसा कहना तथ्य है, और कल्याणकारी वचन सत्य है। यद्यपि अनेक स्थलोंपर तथ्य और सत्य में विरोध नहीं होता, फिर भी अनेक मौके ऐसे आते हैं जब तथ्य और सत्य में विरोध पैदा हो जाता है। इस विरोध का समझना ही मुश्किल है। एक चोर कह सकता है कि अगर मैं तथ्य बोलूंगा तो चोरी न कर सकूँगा, इससे दुखी होना पड़ेगा, इसलिये मेरा अतथ्य बोलना भी सत्य कहलाया इस प्रकार तथ्य और सत्य के विरोध माननेसे सत्य की हत्या ही हो जायगी। इसलिये किस जगह अतथ्य भी सत्य है, किस जगह तथ्य भी असत्य है, इस विषय में गंभीर सतर्कता की जरूरत है।

जिस प्रकार पहिले हिंसाके संकल्पी आदि चार भेद किये गये थे, उसी प्रकार हमें असत्य अर्थात् अतथ्य के भी चार भेद

करना चाहिये।

संकल्पी अतथ्य --- स्वार्थवश दूसरे के हिताहित का विचार न करके किसी निरपराध प्राणी के साथ असत्य बोलना या किसी दूसरे ढंगसे असत्यभाव प्रगट करना संकल्पी असत्य (अतथ्य) है।

आरम्भी—पागलोंकी, बच्चों की, रोगी इत्यादिकी रक्षा के लिये जो हमें अतथ्य बोलना पड़े वह आरम्भी अतथ्य है। या अनजान में हमारे मुँहसे अतथ्य निकले, वह भी आरम्भी अतथ्य है।

उद्योगी---अर्थोपार्जन आदि में अपने रहस्य छुपाने की जरूरत हो, और उसका छुपाना नैतिक नियमों या कानूनके विरुद्ध न हो तो उस के लिये अतथ्य बोलना उद्योगी अतथ्य है।

विरोध--अन्याय के प्रतीकार के लिये तथा नैतिक आत्मरक्षा के लिये अतथ्य बोलना विरोधी अतथ्य है।

इन में से संकल्पी हिंसा के समान संकल्पी अतथ्य का त्याग अवश्य करना चाहिये। विरोधी के त्यागकी जरूरत नहीं। हाँ, अगर दूसरे किसी मार्ग से आत्मरक्षा या अत्याचारनिवृत्ति की जा सकती हो और वह मार्ग अपन पकड़ सकते हों तो विरोधी अतथ्य भी न बोला जाय, यह अच्छा है। बाकी दो के विषय में भी यत्नाचार करना चाहिये, तथा अनिवार्य परिस्थिति में ही उनका उपयोग करना चाहिये। यह याद रखना चाहिये कि, जीवन में हिंसा जिस प्रकार अनिवार्य है, उस प्रकार असत्य अनिवार्य नहीं है। इसलिये हिंसा के लिये जितनी छूट दी जा सकती है, उतनी असत्य या अतथ्य के लिये नहीं दी जा सकती। फिर भी इतनी बात तो ठीक है कि अगर दुरुपयोग न किया जाय तो अतथ्य भी

श्रेणीमें प्राणी असत्यका आंशिक त्यागी होता है, और छट्ठी श्रेणी (प्रमत्तविरत) में पूर्णत्यागी। छट्ठी श्रेणीमें पहुँचा हुआ मनुष्य सत्य महाव्रतका पूर्ण पालक होता है, फिर भी जैनशास्त्रोंके अनुसार असत्यवचनयोग बारहवीं श्रेणी तक रहता है। इसका मतलब यह हुआ कि छट्ठीसे बारहवीं श्रेणी तकके मनुष्य असत्य या अतथ्य भाषण तो करते हैं, परन्तु इससे उनका सत्य महाव्रत भंग नहीं होता। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि जैनशास्त्रोंके अनुसार अतथ्य होकरके भी सत्य होता है और तथ्यपूर्ण होकरके भी असत्य होता है। सत्यासत्यका निर्णय अर्थको देखकर नहीं, किन्तु कल्याण को देखकर किया जाना चाहिये। जैनशास्त्रों में ऐसा ही कथन है।

कुछ यूरोपियन ग्रंथकार सत्यकी इस व्याख्यापर आक्षेप करते हैं परन्तु यूरोपियन नीतिशास्त्रज्ञों में ऐसे बहुतसे हैं जो उपर्युक्त व्याख्याका समर्थन करते हैं। लेस्ली स्टीफनका कहना है—

"किसी कार्यको परिणामकी ओर ध्यान देने के बाद ही उसकी नीतिमत्ता निश्चित की जानी चाहिये। यदि मेरा यह विश्वास हो कि झूठ बोलने ही से कल्याण होगा तो मैं सत्य बोलने के लिये कभी तैयार नहीं रहूंगा। मेरे इस विश्वास में यह भाव भी हो सकता है कि इस समय झूठ बोलना ही मेरा कर्तव्य है"।

नीतिशास्त्र के ग्रन्थलेखक–बेन, वेवेल आदि अन्य अंग्रेज पंडितों का ऐसा ही मत है।

तथ्य को असत्य और अतथ्य को सत्य सिद्ध कर देने पर भी सत्यासत्यकी समस्या हल नहीं हो सकती, व्यवहार में इससे बहुत अड़चनें आ सकती हैं। लोग मनमाना झूठ बोलेंगे, फिर भी कहेंगे कि

सत्य होता है और तथ्य भी असत्य होता है। जैनाचार्योंने जो सत्य की व्याख्या की है उससे भी यही सिद्ध होता है। सर्वार्थसिद्धिकार कहते हैं—

"असत शब्द प्रशंसावाची है, असत् अर्थात अप्रशस्त। जो प्राणियोंको दुःख देनेवाला है वह अप्रशस्त है, भले ही वस्तु-स्थिति की दृष्टिसे वह ठीक हो या न हो। क्योंकि अहिंसा के पालन के लिये बाकी व्रत हैं, इसलिये हिंसा करनेवाले, दुःख देने वाले वचन अनृत हैं।" ⊞

महाभारतकार भी कहते हैं—

सत्य (तथ्यपूर्ण) का बोलना अच्छा है परन्तु सत्यकी अपेक्षा हितकारी बोलना अच्छा है। जो प्राणियोंके लिये हितकारी है, वही मेरे मतसे सत्य है। *

इसके समर्थन में जैनशास्त्रोंकी गुणस्थानचर्चा—जो कि एक महत्त्वपूर्ण असाधारण चर्चा है—भी सहायक है। आत्मिक विकासके क्रमके अनुसार जैनियोंने प्राणियोंकी चौदह श्रेणियाँ की हैं। पाँचवीं

---

⊞ सच्छब्दः प्रशंसावाची न सदसदप्रशस्तमिति यावत्। प्राणिपीड़ाकरं यत्तदप्रशस्तम्। विद्यमानार्थविषयम्वा अविद्यमानार्थविषयम्वा। उक्तं च-प्रागेव अहिंसाप्रतिपालनार्थमितरद्व्रतमिति तस्माद्धिंसाकर्मवचोऽनृतमिति निश्चेयम्।

* सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तम् एतत्सत्यं मतं मम॥
—शान्तिपर्व ३२६,—१३; २८७—१९।

अथवा—'यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा।'
—वनपर्व २०९-४।

श्रेणीमें प्राणी असत्यका आंशिक त्यागी होता है, और छट्ठी श्रेणी (प्रमत्तविरत) में पूर्णत्यागी। छट्ठी श्रेणीमें पहुँचा हुआ मनुष्य सत्य महाव्रतका पूर्ण पालक होता है, फिर भी जैनशास्त्रोंके अनुसार असत्यवचनयोग बारहवीं श्रेणी तक रहता है। इसका मतलब यह हुआ कि छट्ठीसे बारहवीं श्रेणी तकके मनुष्य असत्य या अतथ्य भाषण तो करते हैं, परन्तु इससे उनका सत्य महाव्रत भंग नहीं होता। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि जैनशास्त्रोंके अनुसार अतथ्य होकरके भी सत्य होता है और तथ्यपूर्ण होकरके भी असत्य होता है। सत्यासत्यका निर्णय अर्थको देखकर नहीं, किन्तु कल्याण को देखकर किया जाना चाहिये। जैनशास्त्रों में ऐसा ही कथन है।

कुछ यूरोपियन ग्रंथकार सत्यकी इस व्याख्यापर आक्षेप करते हैं परन्तु यूरोपियन नीतिशास्त्रज्ञों में ऐसे बहुतसे हैं जो उपर्युक्त व्याख्याका समर्थन करते हैं। लेस्ली स्टीफनका कहना है—

"किसी कार्यको परिणामकी ओर ध्यान देने के बाद ही उसकी नीतिमत्ता निश्चित की जानी चाहिये। यदि मेरा यह विश्वास हो कि झूठ बोलने ही से कल्याण होगा तो मैं सत्य बोलने के लिये कभी तैयार नहीं रहूंगा। मेरे इस विश्वास में यह भाव भी हो सकता है कि इस समय झूठ बोलना ही मेरा कर्तव्य है"।

नीतिशास्त्र के ग्रन्थलेखक—बेन, वेवेल आदि अन्य अंग्रेज पंडितों का ऐसा ही मत है।

तथ्य को असत्य और अतथ्य को सत्य सिद्ध कर देने पर भी सत्यासत्यकी समस्या हल नहीं हो सकती, व्यवहार में इससे बहुत अड़चनें आ सकती हैं। लोग मनमाना झूठ बोलेंगे, फिर भी कहेंगे कि

हम सत्यवादी हैं, हमने भलाई के लिये या आत्मरक्षा के लिये झूठ बोला, इसलिये वह झूठ भी सत्य है । इस उच्छृंखलता को रोकने के लिये यह कह देना आवश्यक है कि स्वार्थसिद्धि का नाम कल्याण या आत्मरक्षा नहीं है, इसके लिये अधिकतम प्राणियों का सार्वत्रिक और सार्वकालिक अधिकतम सुख का विचार करना चाहिये । स्पष्टीकरण के लिये इस विषय में भी यहां कुछ सूचनाएँ करना आवश्यक माळूम होता है । निम्नलिखित सात सूचनाएँ विशेष उपयोगी माळूम होती हैं:—

१—न्याय की रक्षा के लिये अतथ्य भाषण करना चाहिये, केवल स्वार्थरक्षा के लिये नहीं । जैसे—

एक महिला के पीछे गुंडे पड़े हुए हैं और तुमसे उसका पता पूछते हैं कि वह क्या इस दिशा में गई है ? तुम अगर चुप रह जाते हो या 'नहीं माळूम' कहते हो तो वे 'मौनं सम्मति-लक्षणम्' की नीति के अनुसार समझलेते हैं कि वह इसी तरफ गई है । अगर तुम विरोध करते हो तो तुम्हें गोली का निशाना बनाते हैं और इस बातका दृढ़ निश्चय करते हैं कि वह इसी दिशा में गई है । ऐसी हालत में अगर तुम झूठ बोल कर उनको उल्टे रास्ते लगा देते हो तो उसकी रक्षा हो जाती है । इस प्रकार उस महिला पर अत्याचार नहीं हो पाता । ऐसी परिस्थिति में असत्य बोलना ठीक है ।

**शंका**- कल्पना करो कि डांकुओं ने हमारे ऊपर आक्रमण किया उस समय हम सत्य बोलकर लुट जांय या अपने धनकी रक्षा करें।

**समाधान**—असत्य बोलकर भी धनकी रक्षा कर सकते हो ।

**शंका**--आपने कहा है कि स्वार्थ के लिये असत्य न बोलना

चाहिये। तब अपने धनकी रक्षा के लिये झूठ बोलना कैसे उचित कहा जा सकता है? क्योंकि यहां तो स्वार्थ के लिये झूठ बोला गया है।

**समाधान**-डाँकुओं से धनकी रक्षा करना स्वार्थ की ही रक्षा नहीं है किन्तु न्याय की भी रक्षा है, डांकुओं के द्वारा जो कुकृत्य हो रहा है वह अन्याय है। उसका विरोध करने के लिये हम झूठ बोलते हैं, उसके साथ स्वार्थरक्षा हो गई—यह दूसरी बात है, परन्तु उसका असली लक्ष्य न्यायरक्षा है, इसलिये उसके लिये वह झूठ बोल सकता है।

**शंका**—एक आदमी पर खून का मुकद्दमा चल रहा है। यदि हम झूठी गवाही दे दें तो वह बच सकता है। ऐसी हालत में हम झूठी गवाही दें या न दें। झूठी गवाही देने से उसका कल्याण है और सच्ची गवाही देने से वह मारा जायगा और जिस आदमी का खून हुआ है वह तो कुछ वापिस आ नहीं सकता।

**समाधान**—वह आदमी तो वापिस न आजायगा किन्तु खूनी को मिलनेवाली फाँसी हजारों खूनियों के हौसले ठंडे किये रहेगी। भविष्य के इन खूनियों को खून के पाप से बचाये रखने के लिये उसको फाँसी मिलना उचित है। इसलिये ऐसी ही गवाही देना चाहिये जिससे उसका अपराध सावित हो। हां, अगर उसका कृत्य अन्याय को रोकने के लिये हुआ है तो हम झूठी गवाही भी दे सकते हैं। जैसे-- मानलो कुछ राहगीर व्यापारियों पर डाँकुओं ने आक्रमण किया। राहगीरों में से एक ने पिस्तौल चलाकर एक डाँकू को मार डाला। इसलिये डाँकू गोली चलानेवाले पथिक को ढूँढते

क्षति पहुँचा दी थी उसकी पूर्ति न हो पाई। इस प्रकार डॉक्टर की एक छोटीसी झूठ ने जीवन की आधी शक्ति वर्बाद कर दी। इसलिये मैं कहता हूं कि रोगी से या रोगी के अभिभावक से झूठ बोलने का नियम बड़ी सतर्कता से पालना चाहिये।

सच बोलने से यह रोगी किसी दूसरे डॉक्टर के पास चला जायगा, इस अभिप्राय से झूठ बोलना तो और भी बड़ा अपराध है। इस अभिप्राय से झूठ बोलनेवाले लोग तो कसाई की कक्षा में चले जाते हैं। मतलब यह कि रोगीके कल्याणकी दृष्टिसे झूठ बोलनेका विचार करना चाहिये और उसमें प्रमाद न करना चाहिये।

जो बात शरीर के रोगी के लिये कही गई है, वही बात आध्यात्मिक रोगीके विषय में भी समझना चाहिये। समझदार आदमी को धर्म के गुण अवगुण बता देनेसे वह धर्मको ग्रहण करता है और उसमें स्थिर रहता है। परन्तु कोई मनुष्य या व्यक्ति जब धर्मके इस स्वाभाविक सत्य विवेचनसे आकर्षित नहीं होता, बल्कि भड़कानेवाली मिथ्या बातोंसे वह ढोंगियों की तरफ़ आकर्षित होता है, तब धर्मगुरुको भी मिथ्याभाषण की ज़रूरत पड़ जाती है। वह उन्हें सदाचारी बनाने के लिये स्वर्ग और नरकके कल्पित चित्र बताता है। विश्वास पैदा करने के लिये सर्वज्ञ की कल्पना करता है, पूर्व जन्मकी कल्पित कथाएँ सुनाता है, मनके ऊपर असर डालकर पूर्व जन्मका स्मरण कराता है। इस प्रकार धर्मप्रचार के लिये वह मिथ्याभाषण करता है। परन्तु इस मिथ्याभाषण से लोगोंका कल्याण ही होता है, इसलिये इस मिथ्याभाषण से सत्यव्रत में कोई धक्का नहीं लगता। इसका एक सुदर उदाहरण णायधम्मकहा में

मिलता है। उसका संक्षिप्तसार यहाँ दिया जाता है---

राजा श्रेणिक का पुत्र मेघकुमार जोश में आकर महात्मा महावीर के पास दीक्षित हो गया। साधु तो हो गया परन्तु राजकुमारपन की गंध न गई। वह चाहता था कि साधु हो जानेपर भी राजा-साधु कहलाऊँ और दूसरे साधु मेरा आदर करें। परन्तु महात्मा महावीरके संघ में श्रीमानों और ग़रीबों में भेद न था। इसलिये मेघकुमार की इच्छा पूरी न हुई; बल्कि नया साधु होनेसे उसकी बैठक सबके अंत में थी इसलिये आते जाते समय साधुओं के पैरोंकी धूलि उसके ऊपर पड़ती, इससे उसे कष्ट तो होता था सो ठीक है किन्तु उसका हृदय अपमान का अनुभव करता था। वह महात्मा महावीर के पास आया। महात्माजी ने सब बातें शीघ्र समझ लीं और मेघकुमार से कहा---

"कुमार! तुम भूल गये हो परन्तु मुझे सब बातें याद हैं। आज से तीसरे भव में तुम गंगातट के जंगल में हाथी थे। दावानल से मरकर तुम फिर हाथी हुए। फिर आग लगी, परन्तु इस बार तुम बचे, तब तुमने अपने झुंड को लेकर वृक्ष उखाड़कर एक मैदान बनाया जिससे जब आग लगे तब तुम उसमें जाकर रक्षा कर सको। एक बार फिर आग लगी परन्तु तुम्हारे पहुंचने के पहिले वह मैदान अन्य जानवरों से भर गया था। बड़ी मुश्किल से तुम्हें खड़े होने को जगह मिली। परन्तु थोड़ी देर बाद अङ्ग खुजाने के लिये तुमने पैर उठाया ही था कि उस जगह पर एक खरगोश आ बैठा, तुमने सोचा कि अगर मैं पैर रक्खूँगा तो बेचारा खरगोश मर जायगा इसलिये तुम ढाई दिन तक तीन पैर से खड़े

रहे। जब आग बुझ गई, सब जानवर चले गये तब तुमने भी चलने की कोशिश की। परन्तु अङ्ग अकड़ जाने से गिर पड़े और कुछ दिन समभाव से कष्ट सहकर श्रेणिक पुत्र मेघकुमार हो गये। एक पशु के भव में तुममें इतनी दया, सहनशक्ति और विवेक था, परन्तु यह कितने आश्चर्य की बात है कि मनुष्यभव प्राप्त करके इतनी अच्छी सत्संगति में रहकर भी तुममें आज राजमद और असहिष्णुता है।"

म० महावीर को मेघकुमार के पुराने भव याद आये कि नहीं—यह तो वे ही जानें, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मेघकुमार का उद्धार हो गया। उसका राजमद आंसू बनकर बह गया। वह पवित्र मनुष्य बन गया।

इस प्रकार अतथ्यभाषण से सत्यव्रत भंग तो क्या दूषित भी नहीं होता। महात्मा ईसा के शिष्य 'पाल' कहते हैं—

"यदि मेरे असत्यभाषण से प्रभु के सत्य की महिमा और बढ़ती है तो इससे मैं पापी कैसे हो सकता हूं?"

परन्तु जैसे मैंने शारीरिक रोगी के विषय में कहा है कि इस नियम का उपयोग बड़ी सतर्कता से करना चाहिये, उसी प्रकार मैं यहां भी कहता हूं कि धार्मिक मामलों में भी इस प्रकार के असत्य का प्रयोग बहुत सतर्कता से करना चाहिये। अगर इस से जिज्ञासु लाभ उठा सके, उसका कल्याण हो तो ठीक है, नहीं तो इसका प्रयोग खतरे से खाली नहीं है। उदाहरणार्थ— हजार दो हजार वर्ष पहिले लोग जैसी कल्पनाओं पर विश्वास कर लेते थे उन कल्पनाओं पर आज अगर वैज्ञानिक सत्य का रूप दिया जाय,

उनको ऐतिहासिक सत्य समझा जाय तो इसका फल यह होगा कि अनाज के साथ घुन भी पिस जायगा । एक के पीछे सभी बातें असत्य मानी जाँयगी । इससे हम कल्याण के स्थान में अकल्याण करेंगे । अगर कल्याण अकल्याण पर दृष्टि न रखकर अहंकारवश अपने मत की—असत्य होने पर भी पुष्टि करते जाँयगे और सत्य के आगे सिर न झुकायेंगे तो पूर्ण असत्यवादी हो जायेंगे ।

एक बात और है कि इस नियम के अनुसार पर-कल्याण के लिये ही असत्य बोलना चाहिये, न कि अपने सम्प्रदाय या अपने मत-विचार की विजय वैजयन्ती उड़ाने के लिये । अपने सम्प्रदाय में जो अपनापन होता है वह अहंकार है, स्वार्थ है । उसके लिये असत्य बोलना वास्तव में असत्य बोलना है । जैसे-दिगम्बर श्वेताम्बर आपस में लड़ते हैं, इनमें से दिगम्बर या श्वेताम्बर अपने को प्राचीन सिद्ध करने के लिये या किसी तीर्थ को अपना सिद्ध करने के लिये मनमाना झूठ बोलकर अतथ्यसत्य की दुहाई देकर कहें कि 'हमने यह झूठ धर्म के लिये बोला है इसलिये क्षन्तव्य है' तो यह बहाना ठीक नहीं । इस प्रकार झूठ बोलनेवाला उतना ही झूठा और बेईमान है जितना कि दुनियादारी में झूठ बोलनेवाला हो सकता है, क्योंकि ऐसा करना असंयम से संयम में लेजाना नहीं है किन्तु दूसरे के नैतिक अधिकारों का हड़पना है । इसी प्रकार एक आदमी व्यभिचारजात या दस्सा है और मुनि बन गया है परन्तु कहता फिरता है कि व्यभिचारजात या दस्सा को मुनि बनने का अधिकार नहीं है, जब उससे कोई पूछता है, तुम भी ऐसे हो तो कहता है कि 'मैं ऐसा नहीं हूँ', इस प्रकार झूठ बोलकर वह यह सोचे कि

कि घोषणा के लिए यह झूठ बोलना है तो उसका यह समझना भारी भ्रम है, क्योंकि पूछा करके वह उसे [illegible] एवं सामाजिक विचार करने की सामग्री छीनता है। इसका मतलब यह है कि अहिंसा की रक्षा के लिए [illegible] की रक्षा के लिए रखने के लिए, दूसरे के वैध अधिकारों पर आक्रमण किये बिना निःस्वार्थ भाव से झूठ बोलना सत्य है। अन्यथा धर्म के नाम पर भी वह बुरी कहलाती है।

३— अगर कोई महत्व छुपाना आवश्यक हो तो उसे छुपाने के लिए झूठ बोलना अनुचित नहीं है।

पहिले तो यथाशक्ति मौन रक्खे। यदि कुछ बोलना ही आवश्यक हो तो यह कह दे कि 'मैं नहीं कहना चाहता।' यदि इतना स्पष्ट उत्तर देने की परिस्थिति न हो तो कहदे कि 'मुझे नहीं मालूम'। परन्तु कुछ न कहनेसे ही अगर रहस्योद्घाटन होने की सम्भावना हो तो झूठ बोल दे। जैसे बहुत दिन पहिले एकबार मुझसे एक पण्डितजीने पूछा कि—'आप सर्वज्ञ मानते हैं कि नहीं ?' मैंने हँसकर कहा कि—इस विषय में कुछ न पूछिये। उनने कहा—सब समझ गया अब पूछने की जरूरत नहीं है। मुझे अपने मनोभाव छिपाने की उस समय भी जरूरत नहीं थी इसलिये बात प्रगट होनेपर भी चिन्ता न हुई परन्तु जीवनमें ऐसे अवसर आते हैं कि झिझकके साथ उत्तर देनेसे ही असली बात प्रगट हो जाती है। जैसे समाचार-पत्रोंके संवाददाता चेहरे परसे राजनैतिक नेताओंके मनोभाव समझा करते हैं। अब अगर कोई राजनीतिज्ञ किसी गुप्त मंत्रणामें शामिल हो और उससे शर्त कराली जाय कि

उसके द्वारा यह मंत्रणा प्रगट न की जायगी तो उसे छुपाने के लिये अगर उसे झूठ बोलना पड़े तो अनुचित नहीं है। परन्तु इस बातका खयाल रहे कि रहस्य छुपाना न्यायसंगत हो। न्यायसंगतता न होनेसे वह पूर्ण असत्यकी कक्षामें आ जायगा।

एक विद्यार्थी आकर पूछता है कि क्या आपने अमुक प्रश्न निकाला है ? मैं जानता हूँ कि निकाला है परन्तु अगर उत्तर देनेमें ज़रा भी झिझकता हूँ तो विद्यार्थी समझ जाता है, इस तरह परीक्षाका उद्देश ही मारा जाता है तथा मैं भी विश्वासघाती परीक्षक ठहरता हूँ। इसलिये उस समय दृढ़ताके साथ झूठ बोलना मेरा कर्तव्य होजाता है क्योंकि इस जगह रहस्य छुपाना न्यायसंगत है।

इसी प्रकार एक आदमीने कोई आविष्कार किया है जिससे वह आजीविका करेगा, परन्तु पूछने पर अगर वह अपना रहस्य प्रगट करदे तो उसकी न्यायसंगत आजीविका ही मारी जाय, इसलिये उसे अपना रहस्य छुपाने का अधिकार है, भले ही उसे इसके लिये मिथ्या बोलना पड़े।

**प्रश्न**— स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार झूठ बोलनेका भी विधान क्यों किया जाता है ? वह चुप रहे, हूँ हूँ करके रहजाय या और किसी तरहसे टालटूल करदे तो ठीक है। असत्य भाषण से तो बचना ही चाहिये।

**उत्तर**— स्पष्ट बोलने में और अस्पष्ट बोलने में थोड़ा अन्तर अवश्य है, फिर भी असत्यभाषण दोनों हैं। क्योंकि जो मनुष्य हूँ हूँ करके टाल देता है उसका भी अभिप्राय तो यही है कि पूछने वालेसे असली बात छुपी रहे। इसलिये वह जो कुछ बोला है,

धोखा देनेके भावसे ही बोला है इसलिये हूँ-हूँ करना भी असत्य भाषण है। वञ्चनाके अभिप्रायसे मौन रखना भी असत्य भाषण है। हाँ, अभिप्राय दोनोंमें एक सरीखा होने पर भी बाह्य दृष्टिसे उसमें अन्तर है. इसलिये होसके तो मौन रखकर या हूँ-हूँ करके काम चलाना चाहिये परन्तु इससे काम न चले तो न्यायसंगत रहस्यकी रक्षाके लिये असत्यभाषण करना भी अनुचित नहीं है।

अगर रहस्य न्यायसंगत न हो तो छुपाने के लिये झूठ बोलना अनुचित है। जैसे तक मुनिवेषी दुराचारी है, वह अपने दुराचारको छुपाता है या उसके भक्त दुराचारको छुपाते हैं, तो यह पूरा असत्य है, क्योंकि दुराचार न्यायसंगत नहीं है। ऐसे समाचार कब कितने कैसे छुपाना चाहिये, इस विषय का विस्तृत और स्पष्ट विवेचन सम्यग्दर्शन के प्रकरण में उपगूहन या उपबृंहणका कथन करते हुए किया गया है वहाँ से समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार जो दूकानदार ग्राहकको कुछ का कुछ माल देते हैं, वे अगर इसे औद्योगिक असत्य कहकर असत्य के पापसे बचना चाहें तो नहीं बच सकते, क्योंकि उनका यह रहस्य न्यायसंगत नहीं है।

इसी प्रकार जो स्त्री या पुरुष अपने दुराचार को छुपाते हैं, वे आत्मरक्षा के नामपर असत्यके पापसे बचना चाहें तो नहीं बच सकते क्योंकि समाजके साथ उनने यह प्रतिज्ञा करली है कि हम अमुक जातिका दुराचार न करेंगे। अब अगर वे दुराचार करते हैं और आत्मरक्षा के नामपर उसे छुपाते हैं तो वे घोर असत्यवादी हैं, क्योंकि उनका इस प्रकार पाप छुपाना न्यायसंगत नहीं है। हाँ, जो दुराचार नहीं है परन्तु समाजने उसे दुराचार कह दिया हो तो

हमें स्पष्ट घोषण करना चाहिये कि हम इसे दुराचार नहीं मानते। ऐसा असत्य कदाचित् विरोधी असत्य की श्रेणीमें भी जा सकता है, परन्तु इनकी कसौटी न्यायसंगतता है उसपर ध्यान पूरा रखना चाहिये।

४– अन्याय या अनुचित प्रतिज्ञा तोड़ना असत्य नहीं है।

अज्ञानवश या भ्रमवश मनुष्य अनुचित प्रतिज्ञाएँ कर जाता है। उन प्रतिज्ञाओंको पूरा किया जाय तो अनर्थ या अन्याय होता है, इसलिये उन प्रतिज्ञाओंको प्रतिज्ञा ही न मानना चाहिये। क़ानून भी इस प्रकार का विचार करता है, वह अनेक प्रतिज्ञाओंको अनुचित ठहरा देता है।

मान लीजिये किसी आदमीने यह प्रतिज्ञा की कि अगर मेरा पुत्र स्वस्थ हो जायगा तो मैं देवीके आगे बकरोंका वध करूँगा। परन्तु किसी आदमी ने उसे समझाया कि 'देवी तो जगन्माता है इसलिये वह बकरोंकी भी माता है। जब कोई अपनी मौतसे मर जाता है तब मातापिता उसको जलाने भी नहीं जाते, फिर माता अपने बच्चेको कैसे मरवा सकती है? कैसे उसके खूनमांसका भोगकर सकती है?' इस प्रकार समझानेसे वह समझ गया कि पशुबलि करना घोर पाप है। ऐसी अवस्थामें वह पहिले की हुई प्रतिज्ञाको तोड़दे तो इसमें असत्य-भाषणका पाप नहीं लगेगा क्योंकि उसकी पहिली प्रतिज्ञा अन्याय्य और अनुचित थी।

अर्जुन के विषय में कहा जाता है कि उसने प्रतिज्ञा की थी कि जो मुझसे कहेगा कि तू अपना गांडीव धनुष छोड़ दे, मैं उसका सिर काट लूँगा। इसके बाद जब युधिष्ठिर कर्णसे पराज़ित

हुए तब उनने अर्जुन से कहा–'तेरा गांडीव हमारे किस कामका ? तू इसे छोड़ दे'। बस, अर्जुन तो तलवार उठाकर युधिष्ठिर का सिर काटनेको तैयार हो गया ! श्रीकृष्ण वहीं खड़े थे उनने अर्जुन से कहा–तू मूर्ख है, तुझे अभी तक धर्म का मर्म नहीं मालूम हुआ। तुझें अभी समझदारोंसे कुछ सीखना चाहिये। यदि तू प्रतिज्ञाकी रक्षा करना ही चाहता है तो तू युधिष्ठिरकी निर्भर्त्सना कर, क्योंकि सभ्यजनोंको निर्भर्त्सना मृत्युके समान है। श्रीकृष्णने अर्जुनसे इस प्रकार प्रतिज्ञा भंग कराके धर्मकी रक्षा की। इतना ही नहीं, महाभारतका इतिहास ही वदल दिया।

इस अनुचित प्रतिज्ञाको तुड़वाकर श्रीकृष्णने अच्छा ही किया, इसकेलिये उनकी युक्ति भी उस मौके के लिये ठीक ही है, परन्तु इससे भी अच्छी युक्ति यह मालूम होती है कि अर्जुनसे यह कहा जाता कि 'मूर्ख, तेरी यह प्रतिज्ञा ही पाप है, तुझसे कोई कुछ भी कहे, परन्तु उसे मारडालने का तुझे क्या हक़ है ? अगर तू उसे दण्ड देने का अपने को अधिकारी समझता है तो अपराध के अनुकूल ही दण्ड देना चाहिये। परन्तु इस प्रकार वोलने का अपराध इतना वड़ा नहीं है कि किसी को मृत्युदंड दिया जाय।' यहां तो युधिष्ठिर थे जिन के लिये भर्त्सना भी मृत्यु के समान थी परन्तु यदि कोई साधारण मनुष्य होता तो क्या उस का वध करना उचित कहलाता ? सच पूछा जाय तो यहां पर अर्जुनने युधिष्ठिरकी भर्त्सना करके भी अनुचित किया, क्योंकि युधिष्ठिरने जो कुछ कहा उसे कहने का वड़े भाई के नाते उन्हें हक़ था; परन्तु अर्जुन को वड़े भाई का अपमान करने का हक़ न था। वल्कि उसने ऐसी

अनुचित प्रतिज्ञा करके केवल युधिष्ठिर का नहीं, किन्तु मनुष्यमात्र का अपराध किया था।

इसी प्रकार आज कोई किसी मिथ्यात्वीके चक्कर में पड़कर यह प्रतिज्ञा करले कि मैं अमुक वर्गको अछूत समझूंगा, हरिजनों का स्पर्श न करूँगा, पीछे उसे अपनी भूल मालूम हो कि मनुष्य को पशुओंसे भी नीच समझना घोर पाप है, ऐसी अवस्था में मिथ्यात्वी के द्वारा दी हुई इस पापमय प्रतिज्ञाका नष्ट कर देना ही सत्य की रक्षा करना है।

एक आदमीने जनेऊ पहिरने की प्रतिज्ञा यह समझकर ली है कि जिससे मैं शूद्र न कहलाऊँ। पीछे उसे मालूम हुआ कि शूद्रको, हमारे समान सदाचारी होनेपर भी अगर जनेऊ पहिरने का हक़ नहीं है तो जनेऊ पहिरना पाप है क्योंकि इससे मनुष्य मनुष्यका अपमान करता है, अहंकार की पूजा करता है। ऐसी अवस्था में जनेऊकी प्रतिज्ञाको और जनेऊ को तोड़ डालना ही सत्य की रक्षा रखना है। इस प्रकार और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

इसी श्रेणीमें नासमझी में की गई या करादी गईं प्रतिज्ञाएँ भी शामिल हैं। जैसे किसी अबोध बालिका का किसी के साथ विवाह कर दिया गया, विवाह के समय सप्तपदी उससे पढ़ा दी गई; परन्तु होश सम्हालने पर वह देखती है कि जिस के साथ विवाह हुआ है वह वृद्ध है, उसके साथ मेरा दाम्पत्य जीवन निभ नहीं सकता, तब वह उस सम्बन्धको तोड़ डाले तो इस में उसे प्रतिज्ञाभंग का दोष नहीं लग सकता। इसी नियम के अनुसार

बालविधवा भी वास्तव में विधवा नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसकी प्रतिज्ञाएँ नाजायज़ हैं।

जिस बात को मानकर प्रतिज्ञा की गई है, वह अगर भ्रमरूप निकले तो भी प्रतिज्ञाको तोड़ना पाप नहीं है। जैसे कोई विद्यार्थी परीक्षा में प्रथम आया इसलिये मैंने उससे कहा कि मैं तुझे अमुक पारितोषिक दूँगा। परन्तु पीछे यह सिद्ध हुआ कि उसने चोरी की थी इसलिये प्रथम आगया है, ऐसी हालत में अगर मैं उसे पारितोषिक न दूं तो प्रतिज्ञाभंग का दोष न लगेगा।

शंका—इस प्रकार अगर आप प्रतिज्ञाओं के तोड़ने का विधान बना देंगे तो दुनिया में प्रतिज्ञा का कुछ मूल्य न रहेगा, क्योंकि कोई न कोई बहाना हरएक को मिल ही जायगा। कल कोई स्त्री पतिसे कहेगी कि तुम्हें भला आदमी समझकर मैंने तुम्हारे साथ शादी की थी, परन्तु तुम भले आदमी नहीं हो इसलिये मैं सम्बन्ध तोड़ती हूं। कल कोई किसी से महीने भर काम करायगा और अंत में कुछ भी पारिश्रमिक न देकर कहेगा कि तुमको सदाचारी समझ कर मैंने काम कराया था, परन्तु तुम तो सदाचारी या योग्य नहीं हो इसलिये मैं कुछ नहीं देता। इस प्रकार जगत में अंधेर हो जायगा।

**समाधान**—इस नियम में मनचाहा बहाना निकाल कर प्रतिज्ञा तोड़ने की आज्ञा नहीं है, किन्तु प्रतिज्ञा के पालन से जगत्कल्याण में बाधा पहुंचती हो तब प्रतिज्ञा तोड़ना चाहिये। प्रतिज्ञा यदि अन्याय्य या अनुचित न हो तो उसे तोड़ना विश्वासघात करना है। ऊपरके उदाहरणमें अगर स्त्रीने यह शर्त कराली हो कि 'जबतक तुम भले आदमी रहोगे, तभीतक मेरा तुम्हारा सम्बन्ध रहेगा और तुम्हारी

भलमानसाहत का निर्णय भी मैं ही करूँगी' तो इस बहानेसे वह संबंध तोड़ सकती है। जिस आदमी ने महीने भर काम कराया है उसे सदाचार का बहाना निकालकर पारिश्रमिक रोकने का हक नहीं है क्योंकि पारिश्रमिक परिश्रम का दिया जाता है न कि आचार का। दूसरी बात यह है कि ऐसे मामलों में मात्रा का विचार करना चाहिये। जितने अंश की कमी हो उतने ही अंश में हमें अपनी प्रतिज्ञा को भंग करना चाहिये। 'ककरी के चोर को कटार मारिये नहीं' की कहावत यहाँ भी चरितार्थ होती है। दुरुपयोग करनेवाले तो हरएक नियम का दुरुपयोग करते हैं, परन्तु नियम के आशय पर विचार करके निःपक्षता से उसका पालन किया जाय और कराया जाय तो दुरुपयोग की सम्भावना नहीं है।

५—शब्द का अर्थ करते समय उसके आशय पर ध्यान देना चाहिये। आशय को ही वास्तविक अर्थ समझना चाहिये। आशय को गौण करके प्रतिज्ञा से बचना या दूसरे पर असत्यता का आरोप करना ठीक नहीं।

यह कार्य भी बहुत कठिन है परन्तु इसके बिना छुटकारा भी नहीं है। सत्य और असत्य कुछ शब्दों का धर्म नहीं, आत्मा का धर्म है, इसलिये भावों के ऊपर ही अवलम्बित है। व्यवहार में भी हमें अभिप्राय के अनुसार अर्थनिर्णय करना पड़ता है। शास्त्रकारों ने भी कुछ भेद-प्रभेदों के साथ इस विषय का विवेचन किया है। गोम्मटसार जीवकांड में दस प्रकार के सत्य वचनों का उल्लेख किया गया है। जनपद, सम्मति, स्थापना, नाम, रूप, प्रतीत्य,

व्यवहार, संभावना, भाव और उपमा ।

**जनपद**—ऐसे अनेक शब्द हैं जिनका एक भाषा में या एक देश में एक अर्थ होता है और दूसरे में दूसरा । जैसे दस्त का अर्थ हिंदी में 'विष्ठा' और उर्दू में 'हाथ' है । पाद का अर्थ हिन्दी में 'अपानवायु' और संस्कृत में 'पैर' है । ऐसे प्रयोग होनेपर अर्थ का निर्णय देशके अनुसार करना चाहिये । जिस देशमें हम बोल रहे हों, वहाँपर उसका जो अर्थ होता हो वही मानना चाहिये । अथवा बोलनेवाला जिस भाषा में बोल रहा हो, उसीके अनुसार अर्थ समझना चाहिये । तथा बोलनेवालेकी योग्यता आदिका विचार करके भी अर्थ करना चाहिते । बोलनेवालेके आशय को बदलकर उसे असत्यवादी ठहराना ठीक नहीं ।

जुदी जुदी भाषाओं में एकही अर्थ को कहनेवाले जुदे जुदे शब्द होते हैं । हिन्दी में जिसे प्याज बोलते हैं, मराठी में उसे काँदा कहते हैं । एकबार दिल्ली के कुछ आदमी महाराष्ट्रमें गये और उनने एक दूकान से भजिये खरीदते हुए दूकानदारसे पूछा कि इसमें प्याज तो नहीं है ? दूकानदार प्याजका अर्थ न समझ कर बोला 'नहीं जी ! इस में प्याज़ नहीं, काँदा है ।' ग्राहकोंने जब भाजिये खाये तब बिगड़कर बोले कि इस में तो प्याज है, तुमने हमें धर्म भ्रष्ट करदिया । उनका धर्मभ्रष्टतासे कैसे उद्धार हुआ यह तो नहीं मालूम, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि दूकानदार सत्यवादी था, वह देश-सत्य बोला था ।

**सम्मति**— बहुतजन आदर आदि भावसे सहमत होकर जिस शब्दका प्रयोग करें उसके अनसार बोलना सम्मति सत्य है ।

जैसे स्त्रियोंको देवी और पुरुषोंको देव कहना। आदर होनेपर ऐसे शब्दोंका * प्रयोग किया जाता है। जैसे देवोंने महावीर निर्वाण का कल्याणक किया। यहाँ देव शब्दका अर्थ श्रेष्ठ मनुष्य करना चाहिये। मनुष्योंमें देव देवी शब्दका प्रयोग करनेवाले को कोई मिथ्यावादी कहे तो यह ठीक नहीं।

**स्थापना**- मूर्ति आदि में किसी की स्थापना करके हम मूर्तिको भी उसी नामसे कहने लगे। जैसे कुण्डलपुर जाकर मैंने महावीर भगवान की वन्दना की। वाक्यमें महावीर का अर्थ महावीर-प्रतिमा है, इसलिये इस प्रकार बोलनेवाला असत्यवादी नहीं कहला सकता। यह स्थापना सत्य है।

**नाम**—अर्थ का अर्थात गुणागुण का विचार न करके व्यक्ति को अलग पहिचानने के लिये जो संज्ञा रक्खी जाती है उसके अनुसार बोलना नामसत्य है। जैसे यह देवदत्त है, ऐसा कहने पर कोई कहे कि तुम झूठ क्यों बोलते हो? क्या यह देव-दत्त है? क्या इसे देवने दिया है? यह आरोप व्यर्थ है, क्योंकि यह नाम सत्य है।

**रूप**—रूपादिगुण की अपेक्षा किसी का वर्णन करना रूप सत्य है। जैसे अमुक मनुष्य बहुत सुन्दर है। इस पर कोई कहे कि हाडमांस का देह कैसे सुन्दर हो सकता है? तो यह ठीक नहीं, यहां सिर्फ़ रूप का विचार है। इसी प्रकार रस गंधस्पर्श पर भी विचार करना चाहिये। रूप तो यहां गुण का उपलक्षण है।

अथवा बहुभाग की अपेक्षा कुछ वर्णन किया जाय तो वह

---

* देव देवैरविज्ञातं विज्ञाप्य श्रयतामिदम्। क्षत्र चूडामणि! शोके न मुह्यति मनागपि देव देवी॥ चन्द्रप्रभचरित

भी रूप सत्य है। जैसे अमुक मनुष्य बहुत गोरा है। बाल आदि काले होने पर भी बहुभाग की अपेक्षा गोरा कहा गया।

**प्रतीत्य**—आपेक्षिक कथन को प्रतीत्य सत्य कहते हैं। जैसे यह आम बहुत बड़ा है। यद्यपि सैकड़ों चीजें आम से बड़ी हैं परन्तु यहां आमकी अपेक्षा से ही उसकी लघुता महत्ता का विचार किया जाता है, न कि समस्त पदार्थों की अपेक्षा से।

**व्यवहार**--संकल्प आदि की अपेक्षा से व्यवहार के अनुसार बोलना व्यवहार सत्य है। जैसे देहली कौन जा रहा है? इसके उत्तर में कोई कहे कि मैं जा रहा हूं। यद्यपि वह खड़ा हुआ है, फिर भी व्यवहार में ऐसा बोला जाता है, इसलिये व्यवहार सत्य है।

**सम्भावना**-असंभव अर्थ को छोड़कर उसी भावको लिये हुए सम्भव अर्थ को लेना सम्भावना सत्य है। जैसे, युवक अगर संगठित होकर कार्य करें तो मेरु को हिलादें। यहाँ मेरु का हिलाना असंभव है परन्तु इसका अर्थ यह है कि संगठित युवक मनुष्यसाध्य सब कुछ काम कर सकते हैं। महावीर ने तीनों लोकों को क्षुब्ध कर दिया। तीनों लोकों को अर्थात् समस्त विश्व को क्षुब्ध करना मनुष्य की शक्ति के पर है, परन्तु उसका यही अर्थ है कि जिस समाज में महावीर क्रान्ति मचा रहे थे, वह समाज महावीर के आन्दोलन से क्षुब्ध होगया।

**भाव**--भाव के अनुसार किसी वस्तु का वर्णन करना, जैसे मैं कल उसके यहां अवश्य जाऊंगा। यहां पर इसका अर्थ सिर्फ यही है कि मैं जाने का प्रयत्न करूँगा, यह बात मैं सच्चे दिल से

कह रहा हूँ, बाकी होना न होना मनुष्य के वश की बात नहीं
है। दो मिनिट बाद क्या होगा, यह कौन कह सकता है? इसी
प्रकार 'यह वस्तु शुद्ध है, यह वाक्य भी भाव-शुद्धि के अनुसार है,
अर्थात् मेरी समझ से शुद्ध है। वास्तव में क्या है, यह कौन कह
सकता है? इत्यादि।

**उपमा**–समानता बतलाकर किसी अपरिचित वस्तुका परि-
णाम बताना। जैसे पल्योपमकाल, सागरोपमकाल। दो हज़ार कोसके
गड्ढे में कोई छोटे छोटे रोम भर कर सौसौ वर्ष में निकालने नहीं
बैठता। परन्तु असंख्य वर्षों के समझाने का यह तरीका है। असंख्य
और अनन्त की संख्या के प्रयोग प्रायः इसी प्रकार किये जाते हैं।

इस प्रकार दस प्रकार से शब्दों का सत्य अर्थ निर्णीत किया
जाता है। नये प्रकरण में भी इस विषय में कुछ कहा जायगा।
यह सत्य अपने अपने स्थान पर सत्य हैं। स्थानका खयाल न किया
जाय तो असत्य हो जायँगे। इसलिये प्रकरण आदि के अनुसार
आशयका विचार करना चाहिये। इन दस भेदों के समझने से
आशय के निकालने में कुछ सुभीता होजाता है।

शब्दों की अर्थ-सूचक शक्ति सिर्फ इतने में ही समाप्त नहीं
होजाती। कभी कभी प्रचलित अर्थ को छोड़कर बिलकुल जुदाही
अर्थ लिया जाता है, और कभी कभी सुननेवालोंके भावोंपर
शब्दका अर्थ निश्चित रहता है। इस प्रकार शब्दोंके अर्थ तीन
प्रकारके हैं। अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना; जिसमें अभिधा तो
साधारण अर्थ है, लक्षणा और व्यञ्जना में विचार रहता है। जहाँ

मुख्य अर्थ सम्भव न हो वहाँ उससे सम्बद्ध दूसरा अर्थ लेना लक्षणा है। जैसे सारा देश शिक्षित होगया। यहाँपर देश शब्दका अर्थ देशवासी है। व्यञ्जनामें प्रकरण आदिके अनुसार इच्छित अर्थ किया जाता है। जैसे 'सन्ध्या होगई' इस वाक्यके अर्थ, सामायिक करना चाहिये, नमाज़ पढ़ना चाहिये, प्रार्थना करना चाहिये, भोजन करना चाहिये, घर चलना चाहिये आदि अनेक हैं। जैसा प्रकरण, वैसा अर्थ।

रूपक आदि अलंकारमय भाषामें भी शब्दका अर्थ बदल जाता है इसलिये सत्यासत्यके विचारमें केवल सीधे अभिधेय अर्थका ही विचार नहीं किया जा सकता किन्तु यह देखना चाहिये कि बोलनेवाले का अभिप्राय क्या है? अभिप्रायके ऊपरही सत्यासत्यका निर्णय किया जाना चाहिये।

अभिधेय अर्थका त्याग तभी करना चाहिये जब वह असंगत मालूम होता हो। वैदिकयुगमें अग्नि की पूजाकी जाती थी। इस वाक्य में अग्निका आलंकारिक अर्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह बात ऐतिहासिक दृष्टिसे असंगत है। परन्तु 'मेरे हृदय में आग जल रही है' इस वाक्य में आगका भौतिक अर्थ असंगत है इसलिये सत्यासत्यके निर्णयमें विवेक और निःपक्षतासे उसके अभिप्रायको जानने की कोशिश करना चाहिये, साथही अपने शब्दों का अपने अभिप्रायके अनुसारही पालन करना चाहिये। अभिधेय अर्थकी दुहाई देकर अभिप्राय का लोप करनाभी असत्य है।

६—यद्यपि सत्यके लिये अतथ्य-भाषण क्षन्तव्य कहा गया है फिर भी अतथ्य में कुछ न कुछ हानिकारकता है

फिर भी अतथ्य में कुछ न कुछ हानिकारकता है भविष्यमें ऐसा मौका न आवे इसके लिये प्रायश्चित्तभी करे ।

धर्मका फल सुख है और अधर्मका फल दुःख हैं । अतथ्य-भाषणसे कुछ न कुछ दुःख पैदा होता है इसलिये उसको दूर करने की ज़रूरत है । अतथ्य का फल अविश्वास है । एक डाकूके सामने आत्मरक्षा के लिये भी झूठ क्यों न बोला जाय किन्तु इसका फल यह अवश्य होगा कि वह विश्वास करना छोड़ देगा । आज हम झूठ बोलकर भले ही आत्मरक्षा करलें परन्तु जब वह वञ्चित होगा तो भविष्य में कोई झूठ भी बोलेगा तो वह विश्वास न करेगा, इसलिये झूठ बोलकर के भी आत्मरक्षा कठिन हो जायगी । एक रोगी को झूठा आश्वासन दिया जा सकता है, परंतु जब रोगी के साथ झूठ बोलने का नियम सा बन जायगा, तब रोगी का विश्वास उड़ जायगा । फिर आश्वासन देने पर भी वह विश्वास न करेगा, क्योंकि जब वह नीरोगी था तभी जानता था कि रोगी के साथ लोग झूठ बोलते हैं ; इसलिये कभी कभी सच्चे आश्वासन पर भी वह विश्वास न करेगा । इसी प्रकार अन्य अतथ्य भाषणों के विषय में भी समझना चाहिये ।

**प्रश्न**—जब अतथ्य-भाषण निरर्थक और दुःखप्रद है तब अपवाद के रूप में भी उसका विधान क्यों किया गया ?

**उत्तर**—बिलकुल निरर्थक तो नहीं कहा जासकता, क्योंकि बिलकुल निरर्थक होता तो झूठ बोलने का कष्ट ही कोई क्यों उठाता ? जबतक लोग सत्यभाषण करते हैं तबतक उसकी ओट

में छुपकर असत्य अपना काम करता है। असत्य वचनों पर अविश्वास करने वालों की अपेक्षा सन्देह में पड़ने वालों और विश्वास करनेवालों की संख्या कई गुणी है। इसलिये निरर्थक तो नहीं कहा जा सकता; हाँ दुःखप्रद अवश्य है। परन्तु आपवादिक मिथ्या भाषण, जिसका विधान ऊपर किया गया है, जितना दुःखप्रद है उससे भी अधिक सुखप्रद है। इसलिये उसका विधान किया गया है। धर्मफल का विचार करते समय अधिकतम--सुख+ का ही विचार किया गया है।

**प्रश्न**—जब अपवादिक मिथ्याभषाण कर्तव्य ही है तब प्रायश्चित की क्या ज़रूरत ?

**उत्तर**--इसके लिये अन्य किसी प्रायश्चित्त की ज़रूरत नहीं है, सिर्फ़ आलोचना की ज़रूरत है। यह भी एक प्रायश्चित्त है। अर्थात् मैं अमुक कारण से अतथ्य बोला, इस प्रकार प्रकट करने की ज़रूरत है। इसका फल यह होगा कि लोग मिथ्यावादी न समझेंगे। मैं दूसरे के हित के लिये झूठ बोला या अपने लिये झूठ बोला, लोग इस पर विचार न करके अपने को मिथ्यावादी समझने लगते हैं। इससे ऐसी जगह भी वे अपना विश्वास न करेंगे, जहाँ आपवादिक मिथ्याका प्रकरण नहीं है। इस अविश्वास को दूर करने के लिये प्रायश्चित्त, आलोचना, असत्यताकी स्वीकारता, की आवश्यकता है। इससे आपवादिक मिथ्याभाषण भी

---

+ सुखाधिक दुःख जनकत्वं धर्मसामान्यलक्षणम्।

जहाँ तक होगा कम बोला जायगा । अपवादों का उपयोग आपद्धर्म समझकर करना चाहिये ।

**प्रश्न**–आलोचना कर देने पर अतथ्य भाषण की उपयोगिताही नष्ट होजायगी । महात्मा महावीर अगर मेघकुमार से कह देते कि 'मुझे तुम्हारे पूर्वभवों का स्मरण तो नहीं आया था परन्तु उस समय तुम्हें समझाने के लिये मैंने पूर्वभव की बात कहीथी' तो मेघकुमार के ऊपर जो प्रभाव पड़ा था, वह भी नष्ट हो जाता और इस तरह वह असंयम की तरफ़ फिर झुक जाता; इतनाही नहीं किन्तु दूसरे लोगों पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ता ।

**उत्तर**–जहाँ आलोचना करने से अपवादिक असत्य-भाषण का उद्देश पर-कल्याण आदि माना जाय वहाँ उन लोगों के सामने आलोचना न करना चाहिये । अगर कोई भी आदमी ऐसा न हो जिस पर रहस्य प्रगट किया जाय तो मानसिक आलोचना ही करना चाहिये ।

प्रायश्चित्त का यह सारा विधान इसीलिये है जिससे कोई अपवादों का अधिक उपयोग न करे, तथा लोगों पर उसका बुरा प्रभाव न पड़े, वे अविश्वासी न हो जावें । इसलिये मूल उद्देश्य की रक्षा करते हुए जितनी बन सके, उतनी आलोचना करना चाहिये ।

**प्रश्न**–अहिंसा व्रत में भी आपने बहुत से अपवाद बताये थे किन्तु वहाँ पर प्रायश्चित्त का आपने ज़िक्र नहीं किया । इसका क्या कारण है ?

**उत्तर**–यह पहिले ही कहा जा चुका है कि हिंसा जीवन के लिये जितनी अनिवार्य है, उतना असत्य नहीं । इसलिये अहिंसा

के लिये जितनी ढील दी जा सकती है उतनी सत्य के लिये नहीं। इसके अतिरिक्त आपवादिक हिंसा के प्रायश्चित्त की उपयोगिता प्रायः कुछ नहीं है जब कि अपवादिक असत्य का प्रायश्चित्त अविश्वास को दूर करके सत्य के उद्देश्य में सहायक होता है। इसलिये यहाँ पर प्रायश्चित्त का उल्लेख किया गया है।

७--सत्य वचन भी अगर दूसरे को दुःखी करने के लिये बोला जाय अथवा शब्दों की पकड़ में आने पर भी दूसरे को धोखा देने के लिये आड़ी टेढ़ी शब्द रचना की जाय तो वह असत्य ही कहलायगा।

अंधे का तिरस्कार करने के लिये उसे अन्धा कहना, मूर्ख को मूर्ख कहना भी, असत्य है; गाली देना आदि भी इसी असत्य में शामिल हैं, क्योंकि इससे दूसरे को अनुचित पीड़ा पहुँचती है। यह हिंसात्मक होने से असत्य है। हां, कभी कभी ऐसे वचन विरोधी हिंसा में भी शामिल होते हैं। जैसे कोई आदमी अपना अनुचित तिरस्कार करता हो, उससे बचने का सब से अच्छा उपाय यही हो कि उसका भी कटु शब्दों से सत्कार किया जाय तो यह विरोधी हिंसा के समान क्षतव्य होगा। हाँ, इसमें मर्यादा का और आवश्यकता का विचार तो करना ही पड़ेगा।

अपना कोई शिष्य या पुत्रादि आलसी हो, उसको उद्योगी बनाने के लिये कभी कुछ कठोर बोलना पड़े तो यह असत्य न समझना चाहिये; परन्तु शर्त यह है कि ऐसे समय कषायका आवेश न हो, सिर्फ दूसरे के सुधार की भावना हो। साथ ही मर्यादा का

उल्लंघन न किया जाय, आवश्यकतासे अधिक प्रयोग न किया जाय। प्रतिक्रिया-उल्टा असर-न होने लगे, इसका भी विचार किया जाय। मतलब यह कि दूसरे को दुःखी करनेका भाव जरा भी न होना चाहिये। फिरभी इसमें छट्ठे नियमके उपयोगकी जरूरत है।

छल कपटसे आड़ीटेढ़ी रचना भी असत्य है। जैसे महाभारत के समय युधिष्ठिर ने 'अश्वत्थामा हतः नरो वा कुंजरो वा' अर्थात अश्वत्थामा मारा गया परन्तु कह नहीं सकते कि वह मनुष्य था या हाथी, कहकर द्रोणाचार्य को धोखा दिया था। युधिष्ठिर ने अपने बचाव के लिये 'नरो वा, कुंजरो वा' कह दिया था परन्तु वह जानबूझकर इतने धीरेसे कहाथा कि जिससे द्रोणाचार्य धोखा खाजाँय, हुआ भी यही। परन्तु इससे युधिष्ठिरका रथ जमीन पर चलने लगा जोकि चार अंगुल ऊँचा चलता था। युधिष्ठिर का रथ चार अंगुल ऊँचा चलता था, इस पर विश्वास करनेका काम अगर भोले भक्तोंपर छोड़ दिया जाय तो भी इसमें संदेह नहीं कि सत्यवादितामें युधिष्ठिर का स्थान पृथ्वीसे अर्थात पृथ्वीपर रहनेवाले प्राणियोंसे अर्थात् साधारण समाजसे चार अंगुल ऊँचा था। परन्तु द्रोणाचार्य की वञ्चना करनेके बाद वे पृथ्वीपर आगये अर्थात साधारण लोगों की तरह हो गये।

यह तो हुई बोलनेकी बात। ऐसी ही लिखनेकी कुटिलता होती है। असली बातको खराब अक्षरोंमें लिख जाना, ऐसी जगह लिख जाना जहाँ पाठकका ध्यानही न पहुँचे, अथवा आगे पीछे ऐसी बातें लिख देना जिससे उसका ध्यान दूसरी तरफ चला जाय और मौके

पर साफ निकल जाने आदि भी असत्य की कक्षामें हैं, क्योंकि इन सब क्रियाओंमें वञ्चनाके परिणाम होते हैं तथा इसका फल भी वञ्चना है।

सत्यासत्यके निर्णयके लिये ये थोड़ीसी सूचनाएँ हैं। सच्चा संयम होनेपर इनका पालन अपने आप होने लगता है और असंयमी जीव इन नियमोंके पंजेसे बचकर भी सम्भवतः झूठ बोल सकता है हाँ, निःपक्ष होकर इन सूचनाओंकी कसौटी पर कसकर अपने व्यवहारकी जाँच की जाय तो अवश्य ही हम सत्यके बहुत समीप पहुँचेंगे।

यद्यपि हम कितनी भी कोशिश करें, हमारे अज्ञानसे हम दूसरोंको कष्ट देते रहते हैं। इसलिये अहिंसाकी दृष्टिसे भी पूर्ण सत्यका पालन नहीं हो सकता। इसलिये हम अपना प्रयत्न ही कर सकते हैं। जो इस प्रयत्नमें पूर्ण तत्पर है, वही पूर्ण सत्यवादी है।

## अचौर्य

दूसरेकी वस्तुको उसकी अनुमतिके बिना अपनी बनालेना चोरी है और इसका त्याग अचौर्य है। चोरी भी दुखःप्रद होनेसे हिंसा है तथा सत्यका नाशक होनेसे, या यों कहना चाहिये कि सत्यका घात किये बिना चोरी हो नहीं सकती इसलिये, चोरी भी असत्य है। व्यवहारमें किसी को मारनेमें ही हिंसा शब्दका व्यवहार होता है इसलिये स्पष्टताके लिये चोरी को अलग पाप और अचौर्य को एक स्वतन्त्र व्रत रूप में स्वीकार करना पड़ा है।

अहिंसा और सत्यके विषय में कहा था कि अहिंसा हिंसा और हिंसा अहिंसा होजाती है ; सत्य असत्य, और असत्य सत्य हो जाता है, इसी प्रकार चौर्य अचौर्य और अचौर्य चौर्य हो जाता है। बहुत से कार्य ऐसे हैं जो स्थूल दृष्टिसे देखने पर चोरी मालूम होते हैं फिर भी वे चोरी नहीं होते; और बहुतसे काम ऐसे हैं जो चोरी नहीं मालूम होते, फिर भी वे चोरी ही हैं। इसप्रकार अहिंसा और सत्य के समान यह व्रत भी सूक्ष्म है तथा निरपवाद नहीं है। कुछ उपनियमों तथा उदाहरणोंसे यह बात स्पष्ट होजायगी।

१—कोई वस्तु अगर अपनी हो परन्तु यह बात अपनेको मालूम न हो, फिरभी उसे लेलेना चोरी है, क्योंकि लेनेवालेने उसे अपनी समझकर नहीं लिया है। यह तो आकस्मिक बात हुई कि वह अपनी निकली परन्तु अगर वह दूसरेकी होती तो उसे ग्रहण करनेमें इसे कुछ ऐतराज़ नहीं था। इसलिये ऐसा मनुष्य चोर ही है। यह अपनी है या नहीं, इस प्रकार के संदेहमें पड़करभी ग्रहण कर लेना * चोरी है।

२—अपने कुटुम्बियोंसे छुपाकर अपनी वस्तु का ग्रहण करना चोरी है। कुटुम्बकी सम्पत्ति पर प्रत्येक कुटुम्बीका न्यूनाधिक अधिकार है। इसलिये जब हम कोई चीज ग्रहण करते है तब अन्य कुटुम्बियों का अधिकार हड़प करते हैं। मानलो कि हमे कोई रोकनेवाला नहीं, है या अनुमति माँगने भरकी देर है, सूचना देनेपर तुरंत मिल जायगी; तो भी अनुमति न लेकर किसी चीज का उपयोग

+ स्वमपि स्वं मम स्याद्वा न वेति द्वापरास्पदम्। यदा तदाऽऽदीयमानम् व्रतभङ्गाय जायते। सागारधर्मामृत ४—४९

करलेना चोरी ही है । अनुमति लेनेका समय न हो तो पीछेसे सूचना देना चाहिये, अथवा उसके छुपाने का भाव तो कदापि न होना चाहिये । कल्पना करो हम बाजारसे दस आम लाये । घरमें पाँच आदमी हैं परन्तु दूसरोंने यह सोचकर कि इनका परिश्रम उच्च श्रेणीका है इसलिये मुझे दो के बदले चार आम दिये और मैं खागया । यद्यपि यहाँ कुछ कहने सुनने की आवश्यकता नहीं हुई फिर भी सबने मौनभाषामें यह कह दिया कि हमने तुम्हारा हिस्सा तुम्हारी योग्यता और परिश्रमके अनुसार चुका दिया है, अब हमारे ऊपर ऋण न रहा आदि, परन्तु यदि दो आम चोरीसे खाता हूँ और प्रकट रूपमें उतना ही हिस्सा खाता हूँ जितना दूसरोंको मिला है तो इसका अर्थ यह हुआ कि मैं मौनभाषा में कह रहा हूँ कि मैंने अपनी योग्यताका अधिक भाग नहीं लिया इसलिये वह ऋण तुम लोगों पर चढ़ा हुआ है । आसामीसे रुपये लेकर भी यह कहना कि मैंने नहीं लिया, कुछ न देकर के भी यह कहना कि मैंने दान दिया है, जैसे यह चोरी है, उसी प्रकार इस आमके दृष्टान्तमें भी चोरी है । इसी प्रकार बच्चों वगैरहसे छुपाकर खाना भी चोरी है, क्योंकि इस में कुछ न देकर भी दूसरोंको ऋणी बनाये रहने की दुर्वासना है ।

२—मैं अर्थोपार्जन करता हूँ, इसलिये सम्पत्तिपर मेरा ही पूर्ण अधिकार है यह समझना भी चोरी है । समाजने सबकी सुविधाके लिये काम का बटवारा कर दिया है । कुछ काम पुरुषके हाथमें सौंपा, कुछ स्त्रीके हाथमें । वृद्धावस्थामें शरीर शिथिल होजाने पर या अपना गृहस्थोचित कर्तव्य कर जाने पर माता पिताको पेंशन दी । समाजके दो प्रतिनिधियों ( माता पिता ) ने तुम्हें पाला, इसलिये

तुम्हें अपनी सन्तानका पालन करना चाहिये, इस प्रकार मैं कर्तव्य में बँधा हूँ। माता पिता तथा सन्तान हमारे साहुकार या साहूकार के प्रतिनिधि हैं। मै जो कुछ देता हूँ वह अपना ऋण चुकाता हूँ। ऋण चुकानेको मैं दान समझूं इसका मतलब यह हुआ कि मैं ऋण को अस्वीकार करता हूँ। इस प्रकार परधनको जबर्दस्ती अपनाता हूँ, यह चोरपन ही नहीं है किन्तु जबर्दस्तीका भाव आजानेसे डाँकूपन भी है। और स्त्री तो स्पष्टरूपमें ही साझेदार है। हमारे अमुक परिश्रमका उपयोग वह करती है और उसके अमुक परिश्रमका उपयोग हम करते हैं, इस प्रकार वह हिस्सेदार है। अब अगर मैं उपार्जित सम्पत्तिपर अपना पूर्णाधिकार समझता हूँ तो मैं अपने हिस्सेदार का तथा साहुकार का हिस्सा हड़प जाता हूँ इस प्रकार मैं चोर हूँ। घरमें अगर कुटुम्ब विभक्त न हुआ हो तो पुत्रबधू भ्रातृबधू, या भौजाई विधवा हो तो उसका सम्पत्तिमें उचित हिस्सा न मानना तथा उसका हिस्सा उसकी इच्छा होने पर भी न देना भी चोरी है।

४–अविभक्त कुटुम्ब होनेपर भी जो सम्पत्ति किसी व्यक्तिके लिये नियत करदी गई हो, उसे उसकी इच्छाके बिना ग्रहण करना भी चोरी है। जैसे–अविभक्त कुटुम्बके भीतर स्त्रीधन अर्थात विवाह के अवसर पर दोनों पक्ष (वरपक्ष और कन्यापक्ष) से मिली हुई सम्पत्ति पर अधिकार करलेना चोरी ही है। इसका चौर्यपन स्पष्ट है।

५–कन्याविक्रय और वरविक्रय भी चोरी है। वरपक्षसे अमुक धन लेकर कन्याका विवाह करना कन्याविक्रय है, और कन्यापक्षसे अमुक धन लेकर वरका विवाह करना वरविक्रय है। ये दोनों

इसलिये कन्याशुल्क चोरी है, और कन्याविक्रय तथा वरविक्रय तो इससे भी कईगुणी चोरी तथा डाँकूपन है।

६—अन्याय्य उपायोंसे तथा बदलेमें कुछ भी न देकर धनोपार्जन करना भी चोरी है। किसी जगह जूआ या सट्टेकी मनाई हो तब इनसे धन कमाना तो चोरी है ही, परन्तु यदि इनकी क़ानूनसे मनाई न भी हो तो भी इन मार्गोंसे धन कमाना चोरी है। क्योंकि धनोपार्जनके अधिकारका नैतिक मूल यही है कि हम समाजसेवाका बदला प्राप्त करें। हमने ज्ञानसे, शब्दसे, कलासे शारीरिक श्रमसे कुछ सेवा की, उसके बदलेमें धन लेनेका हमें अधिकार मिलता है; अगर हमने कोई भी सेवा न की तो धन लेना चोरी है। जूए और सट्टेमें हम समाजकी कोई सेवा नहीं करते इसलिये हमें उससे धन प्राप्त करनेका कोई अधिकार नहीं है। फिर भी हम धन लेते हैं, इसलिये वह चोरी है।

७—जिस मालका वायदा किया है उसके बदले में दूसरा खराब माल देदेना भी चोरी है। इसका चोरीपन स्पष्ट ही है।

८— भ्रमसे, अनिच्छापूर्वक वा छलसे अनुमति प्राप्त करलेना भी चोरी है। जैसे कोई आदमी हमारे पास रुपये रखगया परन्तु भूलसे उसने थोड़े माँगे तो जानते हुये भी उसके बाकी रुपये न देना भी चोरी है। कोई आदमी देना तो नहीं चाहता किन्तु अगर न देगा तो हम यह नुकसान करदेंगे या अमुक काम ठीक तरहसे न करेंगे—ऐसे दबावसे धन लेना चोरी है। लाँच लेना इसी श्रेणीकी चोरी है। लाँच लेना और इनाम लेना, इन दोनों में अन्तर है। इनाम प्रसन्नताका फल है और लाँच विवशताका फल है। इसलिये

इनाम में जरा भी चोरी नहीं है और लाँच पूरी चोरी है ।

९—जनसाधारणकी सम्पत्तिका न्यायानुसार उपयोग करना चोरी नहीं है । इसमें व्यक्तिको अनुमति नहीं माँगना पड़ती, जैसे सड़कपर चलनेके लिये, तालाबसे पानी लेनेके लिये अनुमति नहीं लीजाती; फिरभी यह चोरी नहीं है । परन्तु यदि स्वच्छताके लिये यह नियम बनादिया गया हो कि अमुक घाट पर स्नान न किया जाय, अमुक बगीचेमें अमुक समयसे अधिक समय तक न बैठा जाय, तब इन नियमोंका भंग करना भी चोरी है । अगर हमें इन नियमोंके बाहर काम करनेकी ज़रूरत हो तो अनुमति लेना चाहिये । हाँ, अगर हमें यह मालूम हो कि अमुक प्रतिबन्ध अधिकारियोंने पक्षपातवश अन्यायपूर्वक बनाया तो उसे हम तोड़ सकते हैं । परन्तु उसमें सत्याग्रहके नियमोंका पालन होना चाहिये ।

१०—अनुमतिके बिना किसीकी चीज़ लेना ही चोरी नहीं है किन्तु उसीके पास रहने पर भी दूरसे उसका उपयोग कर लेनाभी चोरी है । जैसे छुपकर कोई ऐसा खेल देख लेना जिसपर टिकिट हो या छुप कर गाना सुन लेना चोरी है समाचार पत्र वालेकी दूकानपर आकर समाचार पढ़ लेना और फिर पेपर न खरीदना चोरी है । हाँ, जितना हिस्सा उसने विज्ञापनके लिये पढ़ने को छोड़ रक्खा हो उतना पढ़नेमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि उतना पढ़नेके लिये उसने सभीको अनुमति देरक्खी है, इसलिये हमें भी वह अनुमति प्राप्त है.

अभी तक जो चोरियाँ बताई गईं उनका सम्बन्ध धनसे है परन्तु धनकीही चोरी नहीं होती किन्तु धनसे भिन्न वस्तुकीभी चोरी होती है। जैसे

११–यशकी चोरी एक बड़ी भारी चोरी है। जैसे दूसरे की रचनाओंको अपना बताना चोरी है। रचनाकी मुख्य वस्तु हड़पकर उसको छुपानेके लिये कुछ दूसरा रंग चढ़ाना भी चोरी है। आवश्यकतावश अगर हमें ऐसा करना पड़े तो कृतज्ञता प्रगट करना चाहिये।

शंका—मनुष्यके पास अपना तो कुछभी नहीं है। मनुष्य अगर पैदा होनेके साथ समाजसे अलग कर दिया जाय तो वह जीवित ही न रह सकेगा। अगर वह जीवित भी रहा तो पशुसे भी बुरा होगा। वह मनुष्यके समान बोल भी न सकेगा। जब भाषा तक अपनी नहीं है तब और तो अपना क्या होगा! इसलिये वह अपनी किसी रचनाको कभी अपना नहीं कह सकेगा। कहेगा तो आप उसे चोर कहेंगे।

समाधान—जो ज्ञानधन जनसाधारणकी सम्पत्ति रूपमें प्रसिद्ध हो गया है, उसे लेनेमें चोरी नहीं है, न उसके लिये कृतज्ञता प्रगट करनेकी ज़रूरत है। मिट्टी जनसाधारणकी हो सकती है, परन्तु मिट्टी को लेकर जो कोई रचनाविशेष (घर आदि) बनाता है, वह उसीकी चीज़ कहलाती है। ज्ञानादि जो सम्पत्ति जनसाधारणकी चीज़ बन गई है उसके विषयमें व्यक्तिविशेषको व्यक्तिविशेषकी कृतज्ञता प्रगट करने की जरूरत नहीं है। करे तो

अच्छा, न करे तो भी कोई बुराई नहीं है। परन्तु किसीका जो विचार जब तक जनसाधारणकी सम्पत्ति न बन जावे तब तक कृतज्ञतापूर्वक ही हमें उसका उल्लेख करना चाहिये।

**शंका**—अमुक विचार जनसाधारणकी सम्पत्ति बन गया है, इसको कैसे समझा जाय!

**समाधान**—जब लोगोंमें यह खूब प्रसिद्ध होजाय कि यह विचार अमुकका है तो वह जनसाधारणकी सम्पत्ति है। महावीर, बुद्ध, रामायण, महाभारत आदि के उपदेश जनसाधरणकी सम्पत्ति कहे जासकते है।

इस विषयमें असली बात तो यह है कि जो बातें हमने अपने विचारसे खोजी हों, जो हमारे अनुभवका फल हों वे हमारी हैं. भलेही वे अन्यत्र भी पाई जाती हों। दार्शनिक जगत्में ऐसे विचारों की समानता बहुत होती है। वैज्ञानिक खोजके विषय में समानताकी बात इतनी नहीं कही जा सकती; तथा कहानियों तथा कविताओंके विषयमें तो समानता अशक्यही समझना चाहिये। मौलिक क्या है, और अमौलिक क्या है, इस विषयमें कदाचित् दुनियाँको धोका दिया जासके, परन्तु अपना अन्तरात्मा इस बातको अच्छी तरह जानता है कि मेरा क्या है और चोरीका क्या है।

१२—आवश्यकता होनेपर और मौका आनेपरभी कृतज्ञता प्रकाशित न करना भी चोरी है। जैसे किसीके उपदेशसे या सहायतासे कोई विद्वान ज्ञानी बना, या उसके मिथ्या विचार बदले अब यदि वह कहे कि इसमें तुम्हारा क्या, वह तो ऐसा होनाही

था इसलिये अपनेही आप मेरे विचार बदले हैं, तुममें मेरे विचारोंके बदलनेकी क्या ताकत है ? इस प्रकार उपकार न मानना उसके यशकी चोरी है ।

१३—स्वार्थवश, द्वेषवश एकका यश दूसरेको देना भी चोरी है ।

जैसे कोई ब्राह्मण जाति का पुजारी कहे कि धर्म का प्रचार तो ब्राह्मण ही कर सकते हैं, क्षत्रिय और वैश्य ब्राह्मणों की बराबरी कदापि नहीं कर सकते; महावीर का तो नाम है, काम तो उनके ब्राह्मण शिष्यों का है । यह भी जातिमद के कारण की जानेवाली यश की चोरी है । इसी प्रकार किसी आदमी से द्वेष होगया हो तो उसकी सफलताओं का श्रेय दूसरों को देना, उसकी सफलता की चर्चा में उसका नाम भी न लेना या दबेछुपे शब्दों में गाण बनाकर लेना आदि भी चोरी है, क्योंकि इसमें विपक्षी का यश चुराकर वह चोरी का माल अपने पक्षवालों को दिया जाता है ।

१४—दुनियाँ को बताना कि हमने इस चीज का त्याग किया है परन्तु छुपकर, या इस ढंग से जिससे लोगोंको यह पता न लगे कि हम इसका सेवन करते हैं, सेवन करना चोरी है । रात्रि-भोजन त्यागी समाज से छुपाकर—उस समाज से छुपाकर कि जिसके सामने उसे प्रगट करना है कि मैं अमुक का त्यागी हूं—रात्रिभोजन करना चोरी है । इसी प्रकार अन्य सब त्यागोंकी बात है ।

इस प्रकार यश की चोरी भी चोरी है ।

१५—दूसरेके नैतिक अधिकारोंकी भी चोरी होती है। स्टेशन पर टिकिट खरीदनेके लिये या और किसी जगहपर बहुतसे आदमी एकत्रित हैं। उनको क्रमशः टिकिट आदि लेना चाहिये परन्तु क्रम भंग करके अपनेसे पहिले वालोंकी पर्वाह न करके शक्तिसे, चञ्चलतासे, धृष्टतासे पहिले टिकिट लेलनाभी चोरी है। रेलमें हम चार आदमियोंकी जगह रोके हुए हैं। जगह यदि खाली पड़ी हो तो उसका उपयोग भलेही किया जाय परन्तु जब दूसरोंको बैठनेको भी जगह न मिले, फिर भी अधिक जगहको रोके रहना चोरी है। जगह होने परभी दूसरे यात्रियोंको न आने देना चोरी है। टिकटके दृष्टान्तमें हम दूसरेके अधिकार—समय—आराम आदिकी चोरी करते हैं। रेलमें बैठनेकी जगहके दृष्टान्तमें इन सब की चोरी स्पष्ट है।

इसप्रकार हम जीवनमें पद पद पर चोरी करते हैं। इनमेंसे बहुतसी चोरियाँ केवल हमारे पापकी ही सूचना नहीं देती किन्तु वे हमारी असभ्यताकी भी सूचना देती हैं। ये क्रियात्मक चोरियाँ जब हमारे मनमें भी स्थान जमा लेती हैं तबभी वे चोरी ही कहलाती हैं इन उदाहरणोंसे चोरीका स्वरूप समझ में आजाता है। चोरियोंकी सूची बनाना तो असम्भवही है परन्तु उसका श्रेणीविभाग करना भी कम कठिन नहीं है।

जब अहिंसाके अपवाद थे, सत्यके अपवाद थे, तब इस व्रतके अपवाद न हों यह कैसे हो सकता है! बाहिरी अहिंसा और बाहिरी सत्य कभी कभी कल्याणके विरोधी होजाते हैं, इसलिये

कल्याणकी रक्षाके लिये बाह्य हिंसा और बाह्य असत्यका उपयोग करना पड़ता है। कल्याणकर होनेसे हिंसाको हिंसा नहीं माना जाता। ये सब बातें अचौर्य व्रतके सम्बन्धमें भी हैं। इसलिये इसके भी बहुतसे अपवाद हैं। उदाहरणके तौरपर पाँच अपवाद यहाँ बताये जाते हैं।

१ किसीकी प्राणरक्षा, स्वास्थ्यरक्षा आदि के लिये उसके हितकी दृष्टिसे चोरी करना अनुचित नहीं है।

जैसे कोई आदमी विष खाकर आत्महत्या करना चाहता है। मुझे मालूम हुआ कि उसने अमुक जगह विष रक्खा है मैंने जाकर चुरा लिया तो यह वास्तवमें चोरी नहीं है। इसीप्रकार रोगीको अपथ्य से बचानेके लिये अपथ्यकी चोरी करनाभी चोरी नहीं है। पहिले कहा था कि बच्चोंसे छुपाकर वस्तु खाना चोरी है परन्तु अगर यह मालूम हो कि इस चीजको खिलानेसे बच्चे बीमार होजाँयगे तो उनसे छुपाकर खानाभी चोरी नहीं है। यद्यपि इस अपवादकी ओटमें हम वास्तविक चोरीको भी अचौर्य कह सकते हैं, परन्तु कह सकना एक बात है और होना दूसरी बात। अपने भावोंको हम अपनेसे नहीं छुपा सकते।

२— अन्यायसे अथवा अनधिकारी होने पर भी अगर किसीने किसी वस्तुको अपने अधिकारमें कर लिया हो तो उसे चुराना चोरी नहीं है। जैसे मानलो किसी सुलेखकने जनसमाज की भलाईके लिये कोई ग्रंथ बनाया और वह ग्रंथ किसीके हाथ लग गया अब वह अपनी प्रतिष्ठाको बनाये रखनेके लिये या और किसी

स्वार्थवश उसका उपयोग किसीको नहीं करने देता, या उसको बर्बाद हो जाने देता है तो उस ग्रंथका चुरा लेना उचित है। किसी ऐसी अनुचित प्रतिज्ञामें बाँधकर अगर वह ग्रंथ मिले, जिस प्रतिज्ञासे समाजके कल्याणमें बाधा पड़ती हो तो उसे तोड़ देनाभी उचित है अथवा किसीने ऐसे साधुका वेष बनाया हो जिसके अनुसार वह परिग्रह न रख सकता हो, फिरभी वह परिग्रह रखता हो तो उसका परिग्रह चुरा लेना भी उचित है; क्योंकि वह इस परिग्रहको रखनेका अधिकारी नहीं है।

३ — अत्याचार रोकनेके लिये अगर चोरी करना पड़े तो वह भी उचित है। एक आदमी खून करनेके लिये छुरी लिये बैठा है। मौका पाकर उस की छुरी चुरा लेनाभी उचित है। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि अन्यायमें खून करने पर जो उतारू है उसीकी चोरी उचित है। जो आत्मरक्षाके लिये छुरी लिये बैठा है, उसकी आत्मरक्षाका साधन चुरा लेना उचित नहीं है।

४— अन्यायका विरोध करनेके लिये यदि सत्याग्रह करना हो और उसमें अधिकारी की आज्ञा के बिना कोई वस्तु उठाना हो तब तो वह चोरी है ही नहीं। चोरीमें सत्यकी रक्षा नहीं होती। सत्याग्रह में तो सत्यकी रक्षा भीतरसे भी होती है और बाहिरसे भी होती है क्योंकी वह अधिकारीको सूचना दे देता है कि मैं ऐसा करनेके लिये आने वाला हूँ। इसलिये बाह्यदृष्टिसे भी सत्याग्रहके ऊपर चोरीका छींटा नहीं पड़ सकता और भीतरी दृष्टिसे तो वह ठीक है ही।

५—जिन बातों को स्वीकार करनेमें सिर्फ लज्जाही बाधक है, जिनको प्रगट करना सभ्यतानुमोदित नहीं है, ऐसी क्रियाएँ छुप कर भी कीजाँय तो भी वे चोरीमें शामिल नहीं हैं। जैसे पतिपत्नीका प्रेमक्रीड़ा आदि। परस्त्रीसेवनको छुपाना इस अपवादमें नहीं आसकता, क्योंकि उससे तो हम समाजको धोका देकर उसके नियमभंग करते हैं। पतिपत्नी की क्रीड़ा आदिमें ये बातें नहीं हैं।

इस प्रकार चोरीके रूप और अस्तेय व्रतके अपवादोंके कतिपय नियमों और उदाहरणोंसे इस व्रत के समझनेमें सुभीता होजाता है। और भी अपवाद मिल सकेंगे, परन्तु चोरीका स्वरूप समझ लेनेसे उनका समझना कठिन नहीं है।

**संकल्पी**—संकल्पपूर्वक अन्यायसे किसीका धन, यश, अधिकार आदिका चुराना।

**आरम्भी**—दूसरेके हितके लिये चोरी करना जैसे अपवादके पहिले नियममें बताई गई है। अथवा अनजानमें कभी चोरी होजाना।

**उद्योगी**— अपने आविष्कारों तथा न्यायोचित गूढ़ रहस्यों को छुपाये रखना उद्योगी चौर्य है।

**विरोधी** युद्ध आदिमें तथा न्यायोचित आत्मरक्षाके कार्यमें चौर्य करना पड़े तो वह विरोधी चौर्य है। कोई आदमी अपने राष्ट्र पर अन्यायसे आक्रमण करता हो तो उसकी युद्ध सामग्री चुरा लेना, छीन लेना आदि विरोधी चौर्य है।

इनमें से संकल्पी चोरी ही वास्तवमें पूर्ण चोरी है, इसलिये

उसीका पूर्ण त्याग करना चाहिये। बाक़ी तीन का तो यथाशक्ति संयमही पर्याप्त । है

## ब्रह्मचर्य

शास्त्रोंमें ब्रह्मचर्यका अर्थ अनेक तरहका किया गया है। ब्रह्ममें चर्या करना—आत्मामें लीन होना पूर्ण संयम का पालन करना ब्रह्मचर्य है । इस अर्थ के अनुसार अहिंसाभी ब्रह्मचर्य है, सत्यभी ब्रह्मचर्य है, अचौर्य भी ब्रह्मचर्य है, अपरिग्रह भी ब्रह्मचर्य है और ब्रह्मचर्य तो ब्रह्मचर्य है ही। परन्तु जब संयमके अहिंसा आदिक पाँच भेद किये जाते हैं तब उसका यह व्यापक अर्थ नहीं माना जाता। ब्रह्मचर्यका अर्थ हैं मैथुनका त्याग । इसी अर्थको मानकर यह चतुर्थ व्रत बनाया गया है।

यद्यपि ब्रह्मचर्यकी महत्ता शास्त्रोंमें बहुत बतलाई गई है और प्रायःसभीने एक स्वरसे उसे एक महान् व्रत बतलाया है, फिर भी यह एक प्रश्न है कि ब्रह्मचर्यका व्रत है क्यों ? और मैथुनमें पाप क्या है ? मनुष्य समाजकी स्थिरताके लिये मैथुन तो आवश्यक है ही मैथुन करनेवाले दोनों पात्र [स्त्री और पुरुष] सुखानुभव करते हैं, इससे किसीके अधिकारोंका नाश भी नहीं होता, फिर क्या बात है कि इसे पाप माना गया है ? हाँ, बलात्कार पाप है, परपुरुषसेवन या परस्त्रीसेवन पाप है, यह कहना ठीक है। परन्तु बलात्कार आदि इसलिये पाप नहीं कहे जा सकते कि उनमें मैथुन प्रसंग है, किन्तु इसलिये पाप कहे जा सकते हैं कि उनमें जबर्दस्ती की जाती है इसलिये वह हिंसात्मक है, उसमें छुपाकर काम किया जाता है

इसलिये चोरी है, आदि । परन्तु जिस मैथुन में जबर्दस्ती नहीं है, चोरी नहीं है, उसे पाप कैसे कहा जा सकता है ?

मैथुनमें रागपरिणति है, इसलिये उसे पाप कहा जाय तब तो भोजनादि भी पाप कहलाँयगे ; प्रत्येक इन्द्रियका विषय पाप कहलायगा । यदि उन सबको पाप माना जाय तो पापको पाँचही भागोंमें विभक्त क्यों किया ? मैथुनके समान अन्य इन्द्रियोंके विषय को भी स्वतंत्र पाप गिनना चाहिये था । अथवा ब्रह्मचर्यको भी भोगोपभोग परिणाम नामक व्रत में रखना चाहिये । इसे प्रधान पापोंमें क्यों गिना ? इन सब समस्याओंके ऊपर विचार करनेके पहिले ब्रह्मचर्यके विषयमें कुछ ऐतिहासिक विवेचन कर लेना उचित है ।

यह बात प्रसिद्ध है कि महात्मा पार्श्वनाथके समयमें चार ही व्रत थे, ब्रह्मचर्यव्रत नहीं था । ब्रह्मचर्यको नया व्रत बनाया महात्मा महावीरने ! अब प्रश्न यह है कि यदि उस समय ब्रह्मचर्यव्रत नहीं था तो क्या उस समयके साधु सपत्नीक थे ? अथवा हर किसी स्त्रीसे सम्बन्ध स्थापित कर लेते थे ? अथवा ब्रह्मचर्यव्रतका पालन तो करते थे किन्तु उसे अपरिग्रहव्रतमें शामिल करते थे । जैनशास्त्रोंके अनुसार पार्श्वतीर्थके साधुभी ब्रह्मचर्य रखते थ, किन्तु उसे वे अपरिग्रहमें शामिल करते थे । परन्तु इस मतमें यह सन्देह तो रह ही जाता है कि जैनशास्त्रोंका यह समन्वय ऐतिहासिक दृष्टिसे (Historioal Method) किया गया है या संगतताकी दृष्टिसे (Logical Method) । पार्श्वतीर्थके श्रमणोंका और महात्मा महावीरका

जब समझौता होगया और दोनोंकी एकही परम्परा मानली गई तब यह बहुत सम्भव है कि एक परम्परा सिद्ध करनेके लिये ऐतिहासिकता को किनोर रखकर संगतताकी दृष्टिसे समन्वय किया गया हो। जैनशास्त्रोंके देखनेसे यह बात साफ़ मालूम होती है कि पार्श्वतीर्थमें शिथिलाचार बहुत आगया था, उस समयके मुनि ऐय्याश और कष्टोंको न सहनेवाले होगये थे*।

खैर, माना कि मैथुनविरति अपरिग्रहव्रतमें शामिल थी परन्तु इससे भी इतना तो मालूम होता है कि उस समय स्त्रीसेवनका पाप इतना ही बड़ा था जितना स्वादिष्ठ भोजन या अन्य किसी इन्द्रिय विषयके सेवनका पाप हो सकता है। महात्मा महावीरके बाद ब्रह्मचर्यको जो महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ, वह उसे पहिले प्राप्त नहीं था।

जैनशास्त्रोंमें ही क्या, दुनियाँके सभी इतिहासों में इस विषयके पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि पहिले मैथुनको लोग कोई पाप नहीं समझते थे, यद्यपि वे अहिंसा, सत्य, अचौर्य और त्यागके गीत उच्चस्वर में गाने लगेथे।

---

* जं सिप्पेगे पवेयन्ति सिसिरे मारूए पवायंते। तंसिप्पेगे अणगारा हिमवाए निवायमेसन्ति। टीका—पार्श्वनाथ तीर्थप्रव्राजिता गच्छवासिनः एव शीतार्दिता निवातमेषन्ति घंघ शालादिका वसती वातायनादिरहिताः प्रार्थयन्ति। किंच इह संघाटीशब्देन शीतापनोदक्षमं कल्पद्वयं त्रयं वा गृह्यते, ताः संघाटीः शीतार्दिता वयं प्रवेक्ष्यामः एवं शीतार्दिता अनगाराः अपि विदधति—आचाराङ्ग ९-२-१२।

महाभारतके अनुसार तो सतयुगमें स्त्रियाँ बिलकुल स्वच्छन्द थीं। वे चाहे जिसके साथ चली जाती थीं, उस समय उसमें अधर्म नहीं माना जाता था, वह धर्म ही था। यह धर्म उत्तर कुरुमें अभी भी पाला जाता है। इस समाजमें भी विवाहकी मर्यादा अभी थोड़े दिनोंसे आई है जो कि उद्दालकके पुत्र श्वेतकेतु ने चलाई ‖ है।

द्रौपदी पाँच पति+ रखतीथी और फिर भी सती थी। इसीप्रकार हजारों स्त्रियाँ रखनेवाले राजा लोग भी अणुव्रती कहलाते थे। इतनाही नहीं, किन्तु वेश्यासेवन करनेपर भी उनका अणुव्रत नष्ट नहीं होता था।

जैनशास्त्रोंके अनुसार आदिम युगमें (भोगभूमिके युगमें) बहिन भाईही पतिपत्नी बनजाते थे। बादमें यह रिवाज़ तो बन्द हुआ; फिर मामाकी लड़की लेनेमें कोई ऐतराज़ न था। इससे मालूम होता है कि मैथुन के विषयमें पुराने लोगोंके विचार बहुत साधारण थे।

---

‖ अनावृताः किलपुरा स्त्रिय आसन् वरानने। कामाचार विहारिण्य स्वतंत्राश्चारुहासिनि ॥ तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात्सुभगं पतीन् नाधर्मो ऽभूद्वरारोहे सहिधर्मः पुराऽभवत् ॥ तमद्यापि विधीयन्ते तिर्यग्योनि गता प्रजा। उत्तरेषु च रंभोरु कुरुष्वद्यापि पूज्यते ॥ अस्मिंस्तुलोके न चिरान्मर्यादेयं शुचिस्मिते उद्दालकस्य पुत्रेण स्थापिता श्वेतकेतुना ॥ म भा. आदिपर्व।

+ एए णं मए पंचपंडवा वरिया, तते णं तेसिं वासुदेव पामोक्खाणं बहूणि राय सहस्साणि महया महया सद्देणं उग्घोसेणा २ एवं वयंति सुवरियं खलु भोदोवइए रायवर कन्नाए। ... हत्थिणाउरे नयरे पंचण्हं पंडवाणं दोवतीए य देवीए कल्लाणकरे भविस्सति। णायधम्मकहा १६-१२०।

इस विषयमें ज्यों ज्यों सुधार होता गया त्यों त्यों हमारे साहित्यमें इन सुधरे रूपोंके वर्णन बढ़ते गये और पुराने रिवाजोंके वर्णन नष्ट होगये। फिर भी जो कुछ बचे हैं, वे कुछ कम नहीं हैं। परन्तु जिन देशों और जातियोंमें इस प्रकारके सुधार नहीं हुए उनमें मैथुन सम्बन्धी स्वच्छन्दता अब भी पाई जाती है। हमारे पड़ोसी तिब्बतमें जिसे संस्कृतमें स्वर्ग त्रिविष्टप कहते हैं, आजभी एक एक स्त्री अनेक पति रखती हैं।

बेबीलोन शहर आजसे पाँचहज़ार वर्ष पहिले एक प्रसिद्ध नगर था, जो भूगर्भस्थ होगया। उसकी खुदाई बहुत वर्षोंसे होरही है, जिससे हजारों वर्ष पुराने सामाजिक जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है। खुदाईमें कई शिलास्तूप मिले हैं जो चारहज़ार वर्ष पुराने हैं और जिनमें उस समय के कानून खुदे हुए हैं। इससे मालूम होता है कि उस समय वहाँ देशकी प्रत्येक स्त्रीको—वह अमीर हो या ग़रीब—जीवनमें एकबार वेश्या अवश्य बनना पड़ताथा। माता पिता अपनी लड़कियोंको और पति अपनी पत्नीको पैसा ठहराकर परिमित समयके लिये दूसरोंके हवाले कर देतेथे। वहाँपर स्त्रियाँ एक़ही साथ अनेक पतियोंके साथ शादी करती थीं। पीछेसे उरुकागिना नामके एक सुधारक राजाने बहुपतित्वकी यह प्रथा बन्द करदी।

सीथियन जातिमें प्रत्येक स्त्री प्रत्येक पुरुषकी पत्नी है। इस प्रथासे वे लोग यह बड़ा लाभ समझते हैं कि इससे सब पुरुष आपसमें भाई भाई होकर रहेंगे। कौरम्बा जातिमें भी ऐसाही अभेद

समागम होता है ।

केल्टिक जातिमें तो माँ और बहिन को भी पत्नी बना लिया जाता है । यही बात पेल्क्सि अरेबियाके लोगोंमें है ।

चीनमें फूब्रीके राज्यकाल तक यह प्रथा थी कि समस्त पुरुषोंका समस्त स्त्रियोंपर समान अधिकार था ।

आस्ट्रेलियामें कुमारी अवस्थामें व्यभिचार करना बुरा नहीं समझा जाता । वहाँ पहिले विवाह की प्रथा थी ही नहीं । जब वहाँ कुछ सुधारकोंने विवाहकी प्रथाको चलाना चाहा तो स्थितिपालकोंने यह कहकर बहुत विरोध किया कि इससे हमारी स्वतन्त्रताका अपहरण होता है । परन्तु सुधारक, जो कि विजयी बननेके लिये ही पैदा होते हैं, जब बलवान् होगये तो स्थितिपालकोंको उनके साथ समझौता करना पड़ा और इस शर्तपर उनने विवाह-प्रथाको अपनाया कि विवाहके पहिले प्रत्यक कन्याको वेश्या का काम करना चाहिये ।

अर्मीनियन जातिकी कुमारी लड़कियाँ वेश्या जीवन बितानेके लिये अनेटिस देवीके मन्दिरमें रख दी जाती थी । इसके बाद वे किसी एक पुरुषसे विवाह करतीथीं ।

प्राचीन रोममें, जो स्त्री विवाहके पहिले वेश्यावृत्ति से अगर कुछ धन पैदा न करले तो वह घृणाकी दृष्टि से देखी जाती थी । रेड इंडियन जातियोंमें भी यह कार्य उचित समझा जाता है । वहाँ कुटुम्बियोंकी अनुमतिसे स्त्रियाँ परपुरुषोंसे प्रेम-भिक्षा माँगती हैं ।

किचनूक जातिके लोगोंके यहाँ जब कोई मेहमान आता है

तब वे अपनी पत्नी या बेटी सहवासके लिये उपस्थित करते हैं। मेहमान अगर इस भेंटको अस्वीकार करदे तो इसमें वह घोर अपमान समझता है। चुकची जातिमें भी ऐसा ही रिवाज़ है। और यही हाल उत्तरी एशियाकी कमैरकैडल और अलीढस जातियोंका है।

एस्किमो जातिमें दो एक रात्रिके लिये दो मित्र अपनी स्त्रियोंको बदल लेते हैं। इस प्रकार अपनी स्त्रीको मित्रके हवाले करना मित्रताकी पराकाष्ठा समझी जाती है। ऐसा मालूम होता है कि भारतवर्ष में भी ऐसा रिवाज़ था। यहाँ भी मित्रको पत्नी समर्पित करके मित्रताकी पराकाष्ठा बतलाई जाती थी। इसलिए इस प्रकारके चरित्रोंका चित्रण जैनपुराणोंमें भी पाया जाता है।

विमलसूरिके 'पउमचरिय' और रविषेणाचार्य के पद्म चरितमें दो मित्रोंकी ऐसी ही कथा है। यद्यपि इस प्रकार पत्नीप्रदानको जैनाचार्य अच्छा नहीं समझते, फिर भी इससे इतना तो मालूम होता है कि यहाँकी समाजमें कहीं और कभी ऐसे रिवाज़ होंगे तभी ऐसा चित्रण किया है, भलेही वे पीछे से निंदनीय होगये। खैर, वह कथा इस प्रकार है।

सुमित्र और प्रभव नामके दो मित्र थे। सुमित्र महाराजा था और प्रभव मामूली आदमी। परन्तु सुमित्रने धन देकर उसे श्रीमान् बनादिया था। एक बार सुमित्र एक जंगलमें पहुँच गया। वहाँ एक भीलने उसके साथ अपनी लड़की (बनमाला) का विवाह कर दिया। इस नवविवाहिता पत्निको देख कर प्रभवको काम ज्वर होगया। सुमित्रने जब बीमारी का कारण प्रभवसे पूछा तो उसने

कहदिया कि मेरा चित्त तुम्हारी पत्नीपर आसक्त होगया हैं। उसने जाकर तुरन्तही अपनी स्त्रीसे कहाकि तुम मेरे मित्र की इच्छा पूरी करो, मैं तुम्हें एक हजार ग्राम दूँगा। यह सुनकर वह अपने पतिके मित्रको सन्तुष्ट करने के लिये गई। उसका पति भी छुपकर उसके पीछे इस आशयसे आया कि अगर यह मेरे मित्रकी इच्छा पूर्ण न करेगी तो इसे दंड दूँगा [1]।

पीछेसे उसके मित्र प्रभवको ही यह कार्य अनुचित मालूम हुआ परन्तु इससे किसी समयके वातावरणको जानके पर्याप्त साधन मिलते हैं। इसलिये एस्किमो जातिका यह रिवाज़ अनुचित होने पर भी आश्चर्यजनक और भारतके लिये अभूतपूर्व नहीं मालूम होता।

मौंगोलकारेन, डोडा और डकोटा जातिमें सतीत्वका ज़रा भी मूल्य नहीं है।

नाइकेर गुआमें वर्षमें एक त्यौहारके दिन सभी स्त्रियोंको व्यभिचार करनेके लिये छुट्टी दी जाती है। हमारे यहाँका होलीका

---

[1] श्रुत्वा प्राणसमस्यास्य दुःखं स्त्रीनिमित्तकम्। तामाशु प्राहिणोत्प्राज्ञः सुमित्रो मित्रवत्सलः। ३६। अचिंतयच्च यद्येषा मत्रेन्ना स्यादनुकूलिका। ततोनिग्रहमेतस्याः कर्तास्मि सुविनिश्चतम्॥ ३८॥ अथैतस्याश्रया भूत्वा कामं संपादयिष्यति। ततोग्रामसहस्रेण पूजयिष्यामि सुन्दरीं। ३९। पद्मचरित पर्व १२।

नमिऊण तस्स चलणे पभवो परिकहइ दुक्खउप्पत्ती। दट्ठूण तुज्झ महिलं सामिय आयल्लयं पत्तो। १८। सुणिउण वयणमेयं भणइ सुमित्तो निसासु वणमालं वच्च तुमं वीसत्था पभवसयासं पसन्नमुही। १९। गाम सहस्सं सुंदरि देमितुमं जइ करेहिमित्तहियं। जइतं नेच्छसिभद्दे घोरं ते निग्गहं काहं २० भणिऊण वयणमेयं वणमाला पत्थिया समपओ से पत्ता पभवागारं तेणय सा पुच्छिया सहसा २१ पउमचरियं उद्देस १२

त्यौहार शायद ऐसी ही किसी प्रथाका भग्नावशेष है और यहाँकी कुमारियोंको तो व्यभिचारकी पूरी छुट्टी है। वे वेश्यावृत्तिसे पहिले धन कमाती हैं, फिर उसी धनसे अपना विवाह करती हैं।

रेडकारेन लोग स्त्री-पुरुषके अभेद समागमका खूब समर्थन करते हैं। अगर उनको कोई इस प्रथा की बुराई बतावे तो बाप-दादोंकी दुहाई देकर वे इसका समर्थन करते हुए कहते हैं कि-वाह! यह तो पुरानी रीति है। क्या हमारे पुरखा मूर्ख थे!

अपर कौंगो, टहीटी, मैक्रोनेशिया, कैण्ड्रोन, और पील्यूद्वीपमें रहनेवाली जातियों में अपनी बहिन-बेटी को थोड़े धनके लिये चाहे जिसके हवाले कर देते हैं। इससे न तो उनकी इज्जतमें बट्टा लगता है न उस कुमारी के विवाहमें कुछ अड़चन पैदा होती है।

बेटियाक लोगोंमें किसी कुमारीकी सबसे बड़ी शोभा यही है कि वह बहुतसे युवकोंसे फँसी हो। उसके पीछे अगर युवकोंका झुंड नहीं चलता तो उसके लिये यह अपमानकी बात है। अगर कुमारी अवस्थामें ही उसके बच्चा पैदा होजाय तो इससे उसका सन्मान और भी बढ़ता है। इससे वह श्रीमन्त घरानेमें विवाही जाती है और उसके पिताको खूब धन भी मिलता है।

चिपचा जातिके किसी पुरुषको अगर यह मालूम होजाय कि उसकी पत्नीका कुमारावस्थामें किसी भी पुरुषके साथ सम्बन्ध नहीं था तो वह इसलिये अपने भाग्यको कोसने लगता है कि उसकी स्त्री इतनी तुच्छ है कि वह किसी भी पुरुषको आकर्षित न कर सकी।

प्राचीन जापानियोंमें यह रिवाज था कि पिता का ऋण चुकानेके लिये स्त्री व्यभिचारसे धन पैदा करती थी। और जब

लड़की इस प्रकार पैसा पैदा करके आती थी तब कमाऊ पूतकी तरह उसका सन्मान बढ़ जाता था।

नीतिके अन्य अंगों पर भी ऐसा ही विवेचन किया जासकता है जिससे मालूम होगा कि हज़ारों वर्षोंके अनुभवने मनुष्यको नीतिधर्म की शिक्षा दी है। आदिमयुग में मनुष्य हिंसा, अहिंसा आदिको नहीं समझता था। धीरे धीरे सुख शान्तिकी खोज करते करते उसने अहिंसा आदि का आविष्कार किया। उनमें ब्रह्मचर्यका आविष्कार सबसे पिछला है। इसलिये महात्मा पार्श्वनाथके युगमें चार ही व्रत हों, यह बहुत स्वाभाविक है पीछेसे महात्मा महावीरने ब्रह्मचर्य नामक नया व्रत बनाया।

इतिहासके ऊपर इस प्रकार एक विहंगम दृष्टि डालनेसे इतना तो मालूम होता है कि मनुष्य समाज ने मैथुनको पाप बहुत देरमें समझा। और उसे स्वतंत्र पाप माननेकी कल्पना तो और भी देरमें उठी। इसका कारण यही है कि जिस प्रकार हिंसा झूठ चोरी आदि साक्षात् दुःखके कारण हैं, उस प्रकार मैथुन नहीं। परिग्रहमें तो मनुष्य बहुतसी सम्पत्ति एकत्रित करके दूसरोंकी गरीबी और बेकारीमें कारण होता है, परन्तु मैथुनमें तो इतना भी दोष देखनेमें नहीं आता। इस प्रकार अन्य सब पापोंकी अपेक्षा मैथुनकी दुःखप्रदता बहुत कम होनेसे प्रारम्भका मनुष्यसमाज इसे पापमें न गिनसका। पीछे जब इसे अधिक अनुभव हुआ, उस अनुभवसे उसे सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त हुई, तब वह मैथुनको संयममें रखनेका तथा पूर्ण ब्रह्मचर्यका आविष्कार कर सका। फिर तो इस दिशा में समाज इस प्रकार

सरपट दौड़ा कि उसे मर्यादा का भी खयाल न रहा। ब्रह्मचर्यके नाम पर स्त्रियोंको जीते जलानेका, उन्हें बलाद्वैधव्य देने का भी रिवाज़ पड़गया।

मैं पहिले कह चुका हूँ कि धर्म सुखके लिये है। इसलिये जो सुखका कारण है वह धर्म है; जो दुःख का कारण है वह अधर्म है। इस कसौटी पर कसकर यहाँ विचार करना चाहिये कि मैथुन कितने दुःखका कारण है।

१—पराधीनता दुःखका कारण है। अन्य इन्द्रियोंके विषयोंमें जितनी पराधीनता है, उससे कई गुणी पराधीनता मैथुनमें है। अन्य इन्द्रियोंमें भोग या उपभोग्य सामग्री जड़ या जड़तुल्य होती है इसलिये उसमें इच्छा नहीं होती, जिसका हमें खयाल रखना पड़े। परन्तु मैथुनमें दूसरेकी इच्छाका पूरा खयाल रखना पड़ता है। अगर खयाल न रक्खा जाय तो वह हिंसात्मक और नीरस होजाता है। इसलिये वह अन्य विषयोंकी अपेक्षा दुःखप्रद है।

२—उपर्युक्त विषमता होनेसे उसमें पीछेका कार्यभार और बढ़ता है। जैसे गर्भाधानादि होने पर जीवनकी शक्तियाँ उसीके संरक्षण आदिमें खर्च होने लगती हैं। जो विश्वको कुटुम्ब मानकर उसकी सेवा करना चाहता है उसकी शक्तियोंका बहुभाग इस छोटेसे कुटुम्बकी सेवामें लग जाता है। और इसके लिये उसे थोड़ी बहुत मात्रामें परिग्रहादि अन्य पापों को भी स्वीकार करना पड़ता है

३—अन्य इन्द्रियोंके विषय शारीरिक और मानसिक शक्तिका

क्षय नहीं करते या इतना नहीं करते जितना मैथुनसे होता है। बल्कि भोजनादिसे शक्ति की वृद्धि तक होती है। इसलिये भी मैथुनको अन्य विषयोंकी श्रेणीसे जुदा किया गया है।

४—मैथुनसेवनके बाद एक प्रकारकी ग्लानि पैदा होती है इसलिये यह सुख पीछेसे ग्लानिरूप दुःख का देनेवाला है।

५—इस में स्थायिता नहीं है।

६—जल, वायु और भोजनादि जिस प्रकार जीवनके लिये आवश्यक हैं, उस प्रकार मैथुन नहीं। इसलिये मैथुनसेवन विकारों की तीव्रताका सूचक होनेसे पाप है।

**प्रश्न**—जिस प्रकार भोजन वगैरह शरीरकी माँग है, उसी प्रकार मैथुन भी शरीरकी माँग है। शरीरकी इस माँगकी अगर पूर्ति न की जाय तो इसका शरीर पर बुरा प्रभाव पड़ता है' और अनेक तरहकी बीमारियाँ भी पैदा होजाती हैं।

**उत्तर**—बीमारियाँ पैदा होती हैं तब, जब इच्छाएँ तो पैदा होकर हृदयमें घूमती रहती हैं और उनको कार्यरूपमें परिणत होनेका मौका नहीं मिलता। परन्तु उन इच्छाओंका अगर रूपान्तर करदिया जाय तो मैथुनकी आवश्यकता नहीं रहती। ऐसी वासनाएँ मातृभक्ति, भगिनीप्रेम, पुत्रीवात्सल्य, विश्वप्रेम, दीनसेवा आदि अनेक सद्वृत्तियोंमें परिवर्तित हो सकती हैं। जब हमारे ऊपर कोई भयंकर विपत्ति आजाती है या असह्य इष्टवियोग होजाता है तब ऐसी वासना लुप्त हो जाती है अर्थात् उसका रूप परिवर्तित हो जाता है।

**प्रश्न**—जब तक इन सद्वृत्तियोंका प्रभाव तीव्र रहता है तभीतक वे मैथुनकी वासना परिवर्तित करती रहती हैं, परन्तु कोई भी सद्वृत्ति सदैव तीव्र नहीं रह सकती। ज्योंही उसमें कुछ मन्दता आयगी, मैथुनकी वासना अपने ही रूपमें काम करने लगेगी।

**उत्तर**—ऐसे भी कुछ असाधारण लोकोत्तर व्यक्ति होते हैं या हो सकते हैं जिनकी सद्वृत्तियाँ सदैव इतनी तीव्र बनी रहती हैं जिससे कामवासना परिवर्तितरूपमें ही बनी रहे यह बात अवश्य है कि ऐसे व्यक्ति करोड़ोंमें एकाध ही होते हैं, परन्तु होते हैं। फिर भी यह राजमार्ग नहीं कहा जा सकता इस-लिये उचित यही है कि इस प्रकार तीव्र वेग के समयमें विवाहित जीवन बिताया जाय। आजकलके हिसाबसे पचास वर्ष तककी उमर तक इस प्रकार जीवन बिताना चाहिये। इतना समय तो बहुत ही पर्याप्त है, परन्तु इससे भी कम समयमें इस वासनाका वेग इतना मंद हो सकता है जो कि सरलतासे दूसरी सद्वृत्तियोंके रूपमें परिवर्तित किया जा सके।

मैथुनकी वासनाका वेग सामाजिक परिस्थिति पर भी निर्भर है। कई प्राचीन जातियँ ऐसी भी हैं जिनमें कामवासनाकी आश्चर्यजनक मन्दता पाई जाती है। स्त्रियोंका मासिकधर्म कामवासनाका ही सूचक है परन्तु ऐस्किमो आदि जातिकी स्त्रियोंके वर्षमें तीन बार ही ऋतुकाल आता है। इसी प्रकार पुरुष भी कामका आवेग कम होनेसे शीघ्रही स्खलितवीर्य नहीं होते। ये सब बातें वंशपरम्पराका फल है। परन्तु जिन लोगोंको यह परिस्थिति प्राप्त नहीं है वे

कुछ समय संयम मैथुनसे अपनी वासनाओंके वेगको कम करें, बादमें उसको अन्य सद्वृत्तियोंमें परिवर्तित करें।

**प्रश्न**--मैथुनमें जो आपने दोष बतलाये हैं उनका बहुत कुछ परिहार किया जा सकता है। अगर पति-पत्नी दोनोंही संयमी हों तो उनकी इच्छाओंका बलात्कार एक दूसरेपर नहीं हो सकता इससे पराधीनताका कष्ट बहुत कुछ कम हो जाता है। जब अनिच्छापूर्वक कोई काम करना पड़ता है तब पराधीनताका कष्ट होता है। यदि दोनों संयमी हो तो कोई किसीको विवश न करेगा जब दोनों स्वेच्छासे राजी होंगे तब पराधीनताका कष्ट न रहेगा। गर्भाधानादि रोकनेके लिये कृत्रिम उपायोंसे काम लिया जा सकता है। इसलिये दूसरा भी दोष दूर होजाता है। तीसरा दोष भी इतना जबर्दस्त नहीं है क्योंकि मात्रासे अधिक मैथुन ही शक्तिक्षय करता है अगर थोड़ा हो भी तो वह इतना नहीं हो सकता जिससे कि मनुष्य कर्तव्यच्युत होजाय। ग्लानिका कारण भी जबर्दस्त नहीं है क्यों कि वह तृप्तिका फल है। यों तो पेट भरनेके बाद भोजन से भी ग्लानि होजाती है, परन्तु इससे भोजन पाप नहीं हो जाता। स्थायिता न हो तो क्या हानि है? जब अन्तमें वह दुःखप्रद नहीं है, तब क्षणिक हो इससे भी लाभ ही है। थोड़ा सही, पर है तो लाभ ही। विकारकी तीव्रता नामक दोष भी विशेष महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि जब यह पाप सिद्ध हो जाय तभी इसमें विकारकी तीव्रताका दोषारोप किया जा सकता है उपर्युक्त कारण न होनेसे यह कारण भी नहीं रहता।

उत्तर—यद्यपि दोषों का यह परिहार बिल्कुल निर्बल नहीं है, फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं जिनसे यह बात मानना पड़ती है कि मैथुन पूर्णसुख में बाधक है। पहिला परिहार यद्यपि सम्भव है फेर भी इतना दुर्लभ है कि अपवाद के नाम पर उसका उल्लेख ही किया जा सकता है, नियमरूपी राजमार्ग में उसको जगह नहीं दी जा सकती। दूसरा परिहार ठीक कहा जा सकता है और तीसरा भी किसी तरह ठीक है, परन्तु चौथा कुछ विचारणीय है; क्योंकि संगीत आदि के श्रवण करने से जो तृप्ति होती है उसका फल ऐसी ग्लानि नहीं है जैसी कि यहाँ होती है। इसलिये अन्य विषयों की तृप्ति की अपेक्षा इसकी तृप्ति कुछ विचित्र है। पाँचवाँ परिहार इससे भी अधिक विचारणीय है क्योंकि क्षणिक सुखका परिणाम दुःख है। जिसका संयोग सुखरूप है उसका वियोग दुःखरूप होता है। अगर संयोगका समय अल्प और वियोगका समय अधिक है, तो यह मानना चाहिये कि सुखकी अपेक्षा दुःख अधिक है। इसलिये अगर संयोगज सुखका भोग ही करना हो तो यथाशक्ति ऐसा भोग करना चाहिये जिसमें संयोग अधिक और वियोग कम हो। इस दिशामें मैथूनका प्रचलित रूप बहुत निम्न श्रेणीका ठहरता है इसलिये जैनशास्त्रों में मैथुनके विविध रूपोंका वर्णन है इस वर्णनसे यह बात मालूम होती है कि ज्यों ज्यों सभ्यता का विकास और सुखकी वृद्धि होती है त्यों त्यों मैथुनका प्रचलित रूप विकसित होता जाता है और अन्त में ब्रह्मचर्यमें परिवर्तित हो जाता है।

जैनशास्त्रों में देवगति का जो वर्णन मिलता है उसमें इस

सिद्धान्तका सुन्दर चित्रण है। देवगतिके इस वर्णनपर अगर विश्वास न भी किया जाय तो भी इस सिद्धान्त की सत्यता को धक्का नहीं लगता, क्योंकि वर्तमान में अपने अनुभव से भी इस चित्रण की सत्यता को समझ सकते हैं।

पहिले और दूसरे स्वर्ग के देव मनुष्यों के समान ही मैथुन करते हैं, तीसरे और चौथे स्वर्ग के देव आलिङ्गनादि से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। इससे आगे के देव ※ सौन्दर्य के अवलोकन से सन्तुष्ट हो जाते हैं। इससे आगे सहस्रार स्वर्ग तक के देव संगीत सुनने से ही संतुष्ट हो जाते हैं और इससे आगेके देव मानसिक सङ्कल्प से ही संतुष्ट हो जाते हैं। और इससे आगे के देवों के मैथुनकी वासना ही नहीं होती—वे ब्रह्मचारी की तरह होते हैं। ये देव सबसे अधिक सुखी माने जाते हैं। इससे कम सुखी मानसिक सङ्कल्प वाले, उनसे भी कम सुखी संगीत से सन्तुष्ट होनेवाले, उनसे भी कम सौन्दर्य से सन्तुष्ट होनेवाले और उससे भी कम आलिंगन से सन्तुष्ट होनेवाले और उससे भी कम सुखी साधारण मैथुन करनेवाले हैं। जैनधर्ममें देवगति में संयम नहीं माना जाता, इसलिये सुख की यह अधिकता संयम की दृष्टि से तो है नहीं, इसलिये यह एक विचारणीय बात है

---

※ दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव और कापिष्ट स्वर्गके देव। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग एक ही ब्रह्म नामसे पुकारा जाता है इसी प्रकार लान्तवकापिष्ट, लान्तव नामसे आगेके शुक्र महाशुक्र, महाशुक्रके नामसे और शतार सहस्रार, सहस्रारके नामसे। इसप्रकार दिगम्बर सम्प्रदायमें स्वर्गों की संख्या १६ और श्वेताम्बर में १२ हैं। वस्तुस्थिति में कुछ भेद नहीं है। फिर भी १२ की मान्यता प्राचीन और दोनों सम्प्रदायों में प्रचलित है।

कि यह सुख किस दृष्टि से अधिक है ? निरीक्षण करनेसे इस सुख का कारण स्थायित्व ही मालूम होता है । मनुष्यों के समान मैथुन बहुत थोड़े समय तक किया जा सकता है और पीछे से इसमें ग्लानि अधिक है । इसकी अपेक्षा आलिङ्गन आदि अधिक समय तक हो सकता है और इसमें ग्लानि कम है । रूपदर्शन इससे भी अधिक समय तक हो सकता है और स्पर्श न होने से इसमें ग्लानि और भी कम है तथा संगीत तो और भी अधिक आकर्षक तथा स्थायी है और शरीर के अवयवोंका प्रत्यभिज्ञान भी इससे कम होता है इससे ग्लानि तो बिल्कुल कम है । मानसिक विचार तो इन सबसे अधिक समय तक स्थायी रह सकता है, इसमें पराधीनता भी नहीं है और ग्लानिके कारणों का किसी भी इन्द्रियसे प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिये यह और भी अधिक सुखमय है और ब्रह्मचारीके समान रहनेवाला तो मानसिक दृष्टि से भी बिल्कुल स्वतंत्र और निराकुल रहता है इसलिये उसका सुख सबसे अधिक है ।

उपर्युक्त क्रम विकासवादकी दृष्टि से भी उचित मालूम होता है । पशुओं में स्त्री-पुरुष का सुख प्रायः साधारण मैथुनकी क्रियामें समाप्त हो जाता है, जब कि मनुष्यों में इससे आगे की चार श्रेणियाँ ( स्पर्श रूप शब्द, मन ) भी पाई जाती हैं । ज्यों ज्यों सभ्यता का विकास होता है त्यों त्यों कलाओं का भी विकास होता है, और पाशविक लिप्सा कलाप्रेममें परिणत होती जाती है । इससे इतना अवश्य मालूम होता है कि सुख की वृद्धि ब्रह्मचर्य की दिशा में ही है ।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य सुखवर्द्धक सिद्ध होजाने पर भी हिंसा

आदि जिस प्रकार दुःख के कारण हैं और साक्षात् दुःखस्वरूप हैं उतना मैथुन नहीं है, और न वह भोजनादि की श्रेणी में ही आता है। उसका स्थान मध्य में है। हाँ, अगर वह अन्य पापों से मिश्रित हो जाय तो उसकी पापता बहुत भयंकर होजाती है, तथा अन्य भोगोपभोग सामग्रियोंकी अपेक्षा इसमें आरम्भ परिग्रह की वृद्धि भी बहुत होती है या होने की अधिक सम्भवना है।

ब्रह्मचर्य के मुख्य तीन प्रयोजन हैं १—शक्ति का संचय या उसकी रक्षा, २—कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन की शान्ति, ३—विश्वप्रेम या समभाव की रक्षा।

१—शरीर में बहुमूल्य धातु वीर्य है। मैथुन में पुरुष-स्त्री के शरीर का यही बहुमूल्य धन नष्ट होता है। अगर इसकी रक्षा की जाय तो शरीर की शक्ति सुरक्षित रहती है तथा बढ़ती है। शारीरिक शक्तिके साथ मानसिक शक्ति पर इसका प्रभाव और भी अधिक पड़ता है। अन्य पापों की अपेक्षा मैथुनका मन से अधिक सम्बन्ध है। मनमें दूसरा पाप होनेसे मन अपवित्र होता है परन्तु उसका बाह्य प्रभाव उल्लेखनीय नहीं होता, जब कि मानसिक मैथुनका बाह्यप्रभाव बहुत अधिक होता है। इससे वीर्यका स्खलन होता है और शरीर कमजोर होजाता है। इसलिये बाहर से ही मैथुन का त्यागी अगर मनको वशमें नहीं रखता तो वह ब्रह्मचारी तो है ही नहीं; साथ ही बाहिरी ब्रह्मचर्यका बाहिरी फल भी प्राप्त नहीं कर सकता। विवाहित जीवन में पति-पत्नी में परिमित ब्रह्मचर्य का पालन होता है। वह भी शक्तिसंचय का कारण है; परन्तु अगर

उसमें मर्यादा न रक्खी जाय, उससे दो में से किसी एक की भी शक्तिका ह्रास होने लगे तो उसे एक प्रकार का व्यभिचार ही कहेंगे। नियम के शब्दों की दृष्टि से वह व्यभिचारी भले ही न कहा जाय, परन्तु नियम के लक्ष्य की दृष्टि से वह व्यभिचारी है।

भोजनादि की सात्त्विकता भी ब्रह्मचर्य का अंग है। जिस भोजन को हम पचा नहीं सकते अर्थात् जिसकी उन्मादकता को हम सहन नहीं कर सकते, मनोवृत्तियाँ जिससे विकृत होती हों उससे बचना चाहिये। इसी प्रकार शृंगार तथा अन्य इन्द्रियोंकी लोलुपता भी ब्रह्मचर्य में बाधक है।

**शंका**—धर्मका लक्ष्य अगर सुख है तो वह सौन्दर्य आदि सुखसाधनों का विरोध क्यों करता है? सौन्दर्योपासना में आखिर पाप क्या है? क्योंकि इससे न तो किसी को कष्ट पहुँचता है, न किसी की कोई सामग्री छीनी जाती है। यह तो एक ऐसा आनन्द है जिसके लिये हमें किसी की गुलामी नहीं करना पड़ती। प्रकृति के भण्डार में जो अनंत सौन्दर्य भरा हुआ है उसको बिना नष्ट किये अगर हम उसका उपभोग कर सकते हैं तो इसमें क्या हानि है? क्या आप यह चाहते हैं कि मनुष्य गंदा रहे? इस गंदगी और नीरसता के कष्ट सहन करने से क्या आत्मोन्नति हो जायगी?

**समाधान**—कष्ट सहन से आत्मोन्नति नहीं होती; न धर्मके नामपर गंदगी फैलाने की ज़रूरत है। गंदगी तो पाप है और स्वच्छता धर्म है। परन्तु सौन्दर्य या शृंगार को स्वच्छता समझना भूल है। सुंदर से सुंदर वस्त्राभूषण स्वच्छ नहीं होते और स्वच्छ

वस्त्रादि भी सुन्दर नहीं होते । यह सम्भव है कि कहीं स्वच्छता और सुंदरता का मेल होजाय परन्तु इनके मेल का नियम नहीं है । धर्म, विशुद्ध सौन्दर्य की उपासना का विरोध नहीं करता । मन्दाकिनी की निरवच्छिन्न धारा, समुद्रकी असंख्य कल्लोलें या उसकी अनंत नीरवता, गिरिराज की हिमाच्छन्न चोटियाँ और वसन्त में प्रकृतिका अनन्त शृंगार जो आनन्द प्रदान करता है, धर्म उसका विरोध नहीं करता क्योंकि इससे ब्रह्मचर्यके उपरिलिखित तीन प्रयोजनों में से किसी की भी हानि नहीं है । इस सौन्दर्योपासना में व्यक्त या अव्यक्त रूपमें विश्वमें तल्लीन होजाने की भावना है, संकुचितता का त्याग है । इतना ही नहीं किन्तु इस आशयसे हम प्राणियोंके और मनुष्योंके भी सौन्दर्यकी उपासना कर सकते हैं । जैसे वनस्पति आदि प्राणियोंमें प्रकृतिका सौन्दर्य दिखलाई देता है उसी प्रकार मयूर की शिखा और कोकिल की कुहूकुहू भी प्रकृति का सौन्दर्य है । स्वयं मनुष्य भी प्रकृतिका एक अंग है । जिस निर्दोष बुद्धि से हम वसन्त आदि की शोभा निरखते हैं या जिस निर्दोष बुद्धि से हम बालक या बालिकाको या अपनी बहिन और माताको देखते हैं, उसी निर्दोष बुद्धिसे हम किसी भी स्त्री या पुरुषके सौन्दर्य को देखें तो यह ब्रह्मचर्य का दोष नहीं है । परन्तु यह याद रखना चाहिये कि इस निर्दोष बुद्धिका सुरक्षित रखना कठिन है । यह पहुँचे हुए महात्माओंका कार्य है । जैनशास्त्रों के अनुसार जैनसाधु स्त्रियोंके साथ विहार नहीं कर सकता परन्तु महात्मा महावीर के साथ सैकड़ों स्त्रियाँ ( आर्या और श्राविकाएँ ) विहार करतीं थीं । इससे मालूम

होता है कि यदि सौन्दर्योपासना में मैथुन की वासना न हो तो वह अधर्म नहीं है, क्योंकि इस दुर्वासनाके आनेसे उपर्युक्त तीनों प्रयोजन नष्ट हो जाते हैं।

शंका—सौन्दर्य की उपासना में मैथुन की वासना न हो, यह असम्भव है। जगत्का सारा सौन्दर्य मैथुन की वासना का रूपान्तर या सूक्ष्म रूप है। बल्कि यों कहना चाहिये कि जो हमारी इस वासना की पूर्ति करता है, उसीका नाम सौन्दर्य है। स्त्री और पुरुषमें जो लैङ्गिक आकर्षण है उसको या उसके साधनोंकी जहाँ समानता दिखलाई देती है उसी का नाम सौन्दर्य है। चन्द्रमा इसीलिये सुन्दर है कि वह प्रेयसी के मुखका स्मरण कराता है। हंस इसीलिये प्यारा है कि वह स्त्री की गतिका अनुकरण करके हमें उसका प्रत्यभिज्ञान कराता है। आँखोंकी समानतासे कमलों की शोभा है। इतना ही नहीं किन्तु मैथुनके लिये जो समय या जो वातावरण अनुकूल होता है उससे विशेष सम्बन्ध रखनेवाली वस्तु भी सुन्दर मालूम होती है। वसन्त का समय अगर अनुकूल है तो वसन्त में होनेवाली प्रत्येक वस्तु हमारे लिये सुन्दर होजाती है। बालक आदि में जबतक यह वासना पैदा नहीं होती तबतक उसका पूर्वरूप रहता है। लैङ्गिक विज्ञानके अनुसार तो माता का पुत्र से स्नेह भी इसी वासना का रूपान्तर है। इसलिये सौन्दर्योपासना को मैथुन की वासना से अलग करना असंभव है। इसलिये अब या तो सौन्दर्योपासना को पाप कहना चाहिये या मैथुन को धर्म कहना चाहिये।

**समाधान**— मैथुन की वासना का रूपान्तर मैथुन नहीं है। यों तो अच्छी से अच्छी मनोवृत्ति भी बुरी से बुरी मनोवृत्ति का रूपान्तर कही जासकती है, परन्तु इसीलिये वह बुरी नहीं होती। स्वादिष्ट और सुगंधित फलफूल आदि भी उस खादके रूपान्तर होते हैं जो दुर्गंध आदि का समूह है। जैनशास्त्र के अनुसार कषाय और संयम एक ही गुण के रूपान्तर हैं, इसलिये कोई किसी का रूपान्तर होजाने से ही अच्छा या बुरा नहीं होजाता। इसका निर्णय करने के लिये हमें उसकी स्वतंत्र परीक्षा करना चाहिये। ब्रह्मचर्य के जो तीन उद्देश्य ऊपर बतलाये हैं उन में अगर बाधा न आवे तो मैथुन की वासना का रूपान्तर होकर के भी सौन्दर्योपासना मैथुन में शामिल नहीं की जा सकती, न पाप मानी जा सकती है।

इसके साथ एक बात और ध्यान में रखने की है कि ब्रह्मचारी को लोलुप न होना चाहिये। किसी सुन्दरी का दिखजाना एक बात है और उसके लिये लोलुप मनोवृत्ति का होना दूसरी बात। अगर यह लोलुपता रहेगी तो बहुत ही शीघ्र मन विकृत और अशान्त हो जायगा जिसका अनिवार्य फल मानसिक और शारीरिक मैथुन होगा इसलिये लोलुपतारहित समभावपूर्वक सौन्दर्यकी उपासना करना चाहिये। अगर इससे मैथुन की वासना को उत्तेजना मिलती हो तो इसका त्याग करना ही श्रेयस्कर है। अगर इससे वह वासना परि-वर्तित हो जाती हो तो यह उचित है।

यद्यपि हरएक पुण्य-पाप का विश्लेषण मनोवृत्ति पर ही निर्भर है परन्तु ब्रह्मचर्य तो मनोवृत्ति से और भी अधिक घनिष्ठ

सम्बन्ध रखता है। शक्ति के संचय और उसकी रक्षा के लिये मनको वश में रखना या दुर्वासनाओं को विश्वप्रेम प्रकृतिप्रेम आदि में रूपान्तरित करना उचित है।

२ — कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन की शांति के लिये भी ब्रह्मचर्य अत्यावश्यक है। गृहस्थ जीवन की दृष्टिसे अकेली स्त्री और अकेले पुरुष का जीवन अपूर्ण है। दोनों के योग्य सम्मिलन से ही पूर्णता आती है। यह सम्मिलन एक ऐसा साम्मिलन है जिसमें तीसरे को स्थान नहीं मिल सकता है। अगर तीसरे का प्रवेश हुआ तो वह विश्वास और प्रेम नष्ट होजाता है जिससे यह सम्मिलन हुआ है। इससे यह आवश्यक है कि स्वीकृत पति-पत्नी को छोड़कर शेष सभी स्त्रीपुरुषों के साथ पवित्र प्रेम ही रक्खा जाय। उसके साथ मैथुन की वासना की कलुषितता न आने पावे।

स्त्री, पुरुषके लिये भोग की सामग्री है और पुरुष, स्त्री के लिये भोग की सामग्री है इस तरह इन दोनों में दुतरफा भोज्य-भोजक भाव है। इसलिये दोनों ही समान हैं। यह समानता अन्यत्र देखने में नहीं आती। वहाँ एक ही भोज्य और एक ही भोजक होता है और भोजक की प्रधानता रहती है। स्त्रीपुरुष में यह सम्बन्ध दुतरफा होने से अन्य जड़ या जड़तुल्य भोग्यों की अपेक्षा इसमें विशेषता आती है। हमारी कुर्सी के ऊपर अगर कोई दूसरा आदमी बैठ जाय तो भी हमारे और कुर्सी के सम्बन्ध में कोई फर्क न पड़ेगा, परन्तु अगर कोई पुरुष दूसरी स्त्रीसे सम्बन्ध स्थापित करले तो पहिली स्त्री से उसका वह सम्बन्ध (प्रेम आदि) न रहजायगा

इसी प्रकार स्त्री के विषयमें भी कहा जासकता है। प्रेम की यह शिथिलता अविश्वासको पैदा करती है और इस प्रकार यह शिथिलता और अविश्वास कौटुम्बिक शान्तिको बर्बाद कर देते हैं; इतना ही नहीं किन्तु इनसे सभ्यसे सभ्य समाज भी असभ्य बन जाता है।

दुतरफ़ा भोज्यभोजक भाव होनेसे यद्यपि स्त्री और पुरुषमें समानता बतलाई जाती है, फिर भी व्यक्तिगत रूप में तो दोनों ही अपने को भोजक समझते हैं और भोजनकी दृष्टिमें तो भोज्य शिकार के तुल्य है। इसलिये अगर इनमें संयमकी मात्रा न हो तो समाज अविश्वास और भय से इतना त्रस्त हो जाय कि उसे नरक ही कहना पड़े। स्त्रियाँ शृंगारसे, सौन्दर्यसे, छलसे, विश्वासघातसे पुरुषों का शिकार करें और पुरुष भी पशुबल तथा छल आदि से स्त्रिया का शिकार करें। इसका फल यह हो कि स्त्रियों का घर से निकलना भी मुश्किल हो जाय, और पुरुषोंको भी स्त्रियों से सदा सतर्क रहना पड़े। न पति को पत्नीका विश्वास रहे, न पत्नी को पतिका।

इन सब कष्टों से बचने के लिये शील ब्रह्मचर्य (स्वदार सन्तोष, स्वपति सन्तोष) की अत्यावश्यकता है। स्वदार को छोड़कर अन्य स्त्रियों में माँ, बहिन और पुत्रीकी भावना और स्वपतिको छोड़कर अन्य पुरुषों में पिता भाई और पुत्र की भावना अगर हो तो प्रत्येक स्त्री और पुरुष निर्भयताका अनुभव करे। जिस समाज के लोगों में ये पवित्र भावनाएँ नहीं होतीं और वासनाओं का वेग तीव्र होता है अर्थात् लोग नीतिभ्रष्ट और क्रूर होते हैं, वहाँ स्त्रियोंको चहार

दीवारियों में कैद रहना पड़ता है, घूँघट आदि आवरणों में ढका रहना पड़ता है। इससे स्त्रियों का विकास रुक जाता है और उनकी सन्तान (स्त्री और पुरुष) मनोबल आदिसे शून्य तथा नीच प्रकृति की होती है। यदि स्त्रियों के विषय में मातृत्व आदि की भावना और पुरुषों के विषय में पितृत्व आदि की भावना हो तो इन अनर्थोंसे समाजका रक्षण होता है। इससे जीवन के विकास तथा निर्भयता, स्वतन्त्रता और विश्वास का अनंत आनन्द मिलता है।

इस प्रकार ब्रह्मचर्यके दो प्रयोजन हैं। उनका विचार करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये।

जिस प्रकार हिंसा आदि पापों के चार भेद किये गये हैं, उसी प्रकार मैथुन के भी चार भेद हैं--संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी।

संकल्पी--व्यवहार में जिसे व्यभिचार कहते हैं, वह संकल्पी मैथुन है। पति या पत्नी की इच्छा न रहते हुए भी मैथुन करना संकल्पी मैथुन है। इसी प्रकार मर्यादा से अधिक [ स्वास्थ्य-नाशक ] मैथुन भी संकल्पी मैथुन है। यद्यपि इनकी सांकल्पिकता में परस्पर अंतर है--सब से अधिक सांकल्पिकता व्यभिचार में है-फिर भी ये हिंसात्मक, दुःखप्रद और निवार्य होनेसे संकल्पी है।

आरम्भी —सन्तानोत्पत्ति के लिये या शारीरिक उद्वेगों को शान्त करने के लिये जो मर्यादित मैथुन है, वह आरम्भी मैथुन है। दाम्पत्य जीवन में या नियोग की प्रथा में आरम्भी मैथुन होता है।

**शंका** विधवा विवाहसे जो मैथुन होता है उसे आप किसमें शामिल करेंगे ?

**समाधान**—विधवा-विवाह हो या कुमारी-विवाह हो, जब स्त्री पुरुष बिना चोरी के तथा स्वेच्छापूर्वक एक दूसरे को स्वीकार कर लेते हैं तब उसमें परस्त्रीत्व या परपुरुषत्व रह ही नहीं जाता वे दोनों दम्पति बन जाते हैं। दाम्पत्य जीवन का मैथुन तो आरम्भी मैथुन है यह पहिले कहा जा चुका है। इस विषय का विशेष विवेचन आगे भी किया जायगा ।

**शंका**—विधवा विवाहको आप आरम्भी मैथुन भले ही कहें परन्तु नियोगको आप आरम्भी मैथुन कैसे कह सकते हैं, क्योंकि नियोग में तो विवाह भी नहीं होता ? जब किसी कुटुम्ब में कोई सधवा स्त्री नहीं रहती और विधवाएँ निःसन्तान होती हैं तब वंश-रक्षाके लिये उन विधवाओं का या विधवा का किसी योग्य पुरुष से संयोग कराया जाता है इसे नियोग कहते हैं। यह बात स्पष्ट है कि इसमें परपुरुष से संयोग कराया जाता है, इसलिये इसे व्यभिचार की तरह संकल्पी मैथुन ही कहना चाहिये ।

**समाधान**—नियोग की प्रथा विधवा-विवाह और कुमारी विवाह की अपेक्षा भी अधिक पवित्र है। उपर्युक्त दोनों विवाहों में तो सन्तानोत्पत्ति आदि के साथ मर्यादित भोग-लालसा भी है, परन्तु नियोग तो शुद्ध वंशरक्षा के उद्देश से ही किया जाता है। सन्तानोत्पत्ति तक ही वह सीमित है। महाभारत के अनुसार पांडु धृतराष्ट्र और विदुर इसी प्रकार नियोग से पैदा हुए थे। यह बात

दूसरी है कि आज इस प्रथा की आवश्यकता नहीं है। अब तो गोद लेने का रिवाज़ प्रचलित है तथा जनसंख्या भी बढ़ रही है। अगर किसी समय इस प्रथा की आवश्यकता हो तो इसे व्यभिचार कदापि नहीं कह सकते, वह आरम्भी मैथुन ही कहलायगा। व्यभिचार में हिंसकता या चौर्य-वासना और असत्याश्रितता है परन्तु नियोग में इनमें से कुछ भी नहीं है। इसलिये भी यह संकल्पी मैथुन में नहीं आ सकता।

**प्रश्न**—किसी देश में विवाह की प्रथा ऐसी हो जिससे विवाहित स्त्रियों का स्थान पुरुष की अपेक्षा नीचा हो जाता हो, इसलिये कोई स्त्री इस प्रकार स्त्रीत्व का अपमान करना स्वीकार न करे इसलिये, अथवा यह सोचकर कि संतान के लिये अधिक से अधिक बलिदान तो स्त्री को करना पड़ता है और संतान का अधिकांश स्वामित्व और नाम पुरुष ले जाता है इसलिये, अथवा और किसी कारण से कोई स्त्री विवाहित जीवन अस्वीकार करके गर्भाधान मात्र के लिये किसी पुरुष से क्षणिक सम्बन्ध स्थापित करे तो + इसे आप व्यभिचार कहेंगे या आरम्भी मैथुन ?

**उत्तर**—हिंसकता या चौर्य-वासना और असत्याश्रितता आदि व्यभिचार के दोष यहाँ भी बिलकुल नहीं पाये जाते इसलिये इसे भी संकल्पी मैथुन या व्यभिचार नहीं कह सकते। यह भी आरम्भी मैथुन है; शर्त यह है कि उसका यह सम्बन्ध पर-पुरुष

---

+ कुछ वर्ष हुए जब इंग्लैंड की एक बाईन—जिसका नाम मैं भूल गया हूँ—इसी प्रकार सम्बन्ध किया था। इस विषयका उसने आन्दोलन खड़ा कर दिया था।

के साथ न होना चाहिये।

शंका— जब उसने विवाह ही नहीं कराया तब उसको स्वपुरुष कहां से मिलेगा ? पर-पुरुष शब्द से आपका क्या मतलब है ?

**समाधान**—जो पुरुष विवाहित है उसके लिये अपनी पत्नी को छोड़कर बाकी सब स्त्रियां पर-स्त्री हैं, भले ही वह वेश्या हो, विधवा हो या कुमारी। इसी प्रकार जो स्त्री विवाहित है उसके लिये अपने पति को छोड़कर बाकी सभी पुरुष पर-पुरुष हैं, भले ही वे कुमार हों या विधुर। परन्तु अविवाहित स्त्री पुरुषों के लिये पर-पुरुष और पर-स्त्री की व्याख्या इस प्रकार नहीं हो सकती क्योंकि 'पर' यह सापेक्ष शब्द है। अविवाहितों को 'स्व' कहने के लिये ही जब कोई नहीं है तब उनके लिये 'पर' कौन हो सकता है, यह विचारणीय है। इसलिये ऐसे पुरुषों के लिये वही पर-स्त्री है जो किसी पुरुष के साथ विवाह सम्बन्ध से बँधी है और ऐसी (अविवाहित आदि) स्त्री के लिये वही पर-पुरुष है जो किसी स्त्री के साथ विवाह सम्बन्ध में बँधा है। जो अविवाहित स्त्री गर्भाधान करना चाहे वह ऐसे पुरुष से गर्भाधान करे जो अपत्नीक हो। अन्यथा उसे पर-पुरुष सेवन का दोष लगेगा। वह संकल्पी व्यभिचार होगा।

**प्रश्न**—यदि अविवाहितों को इस प्रकार की छुट्टी दी जायगी तो विवाहित होना कोई पसंद क्यों करेगा ? अविवाहित रहकर वेश्या सेवन आदि से वह स्वतन्त्रता का उपभोग क्यों न करेगा ?

**उत्तर**— स्वतन्त्रता का यह उपभोग बहुत महँगा दुःखद
और घृणित है। एक मनुष्य घर के मकान में रहता है और एक
भाड़े के मकान में रहता है। भाड़ेवाला चाहे तो हर महीने मकान
बदल सकता है और घरू मकानवाला अपने घर में बँधा है,
परन्तु गृह-स्वामी की अपेक्षा भाड़तू बनना कोई पसन्द नहीं
करता। गरीबी आदि से या आर्थिक लाभ की दृष्टि से भाड़तू बनना
पड़े, यह दूसरी बात है। अथवा, कोई आदमी घर में रहता है और
दूसरा किसी घर में नहीं रहता, वह आज इस मुसाफ़िरखाने में पड़
रहता है, कल उस होटल में और परसों उस धर्मशाला में। क्या यह
स्वतन्त्रता स्थिरवासी से अधिक सुखप्रद है? मँहगेपन की दृष्टि से
अविवाहित के लिये मैथुन की स्वतन्त्रता कष्ट-प्रद है ही। ऐसे
मनुष्य का जीवन अव्यवस्थित, अशान्त, सतत वासनापूर्ण और
अधिक पराधीन रहता है। इसके अतिरिक्त इस स्वच्छन्दता में
घृणितता भी रहती है क्योंकि वेश्यासेवन आदि में सुसंगति
स्वच्छता आदि नहीं मिलती या नहीं के बराबर मिलती है। बहुत
से कार्य ऐसे हैं जिन्हें हम मूल पापों में शामिल नहीं कर सकते,
फिर भी वे बहुत घृणा की दृष्टि से देखने योग्य होते हैं, क्योंकि
वे अपने और पर को साक्षात् नहीं तो परम्परा से दुःखप्रद होते
हैं। एक मनुष्य दुर्जनों की संगति में रहे, अशुचि भक्षण करे तो
उसका यह कार्य हिंसादि पापों में साक्षात् रूप में अन्तर्गत न
होगा, फिर भी दुःखप्रद और घृणित होने से वह हेय होगा।
इसी प्रकार अविवाहित के वेश्या सेवन को संकल्पी व्यभिचार में
शामिल न कर सकने पर भी वह उपर्युक्त दोषों से पूर्ण होने

से हेय है ।

हाँ, जो बाई अविवाहित रहने पर भी सिर्फ़ गर्भाधान के लिये क्षणिक सम्बन्ध करती है, इसको वह व्यसन नहीं बनाती, वह संकल्पी व्यभिचार के पाप में नहीं डूबती ।

असली बात तो यह है कि इस प्रश्न का सम्बन्ध ब्रह्मचर्य मीमांसा से उतना नहीं है जितना कि समाज में स्त्री-पुरुषों के अधिकार की मीमांसा से । सन्तान के निर्माण में जब अत्यधिक भाग माता का है, तब उसपर माता का ही अधिक अधिकार क्यों न रहे ? सन्तान के नाम के साथ पिता का नाम क्यों रहे, माता का क्यों न रहे ? पिता का निर्णय करना तो अशक्यप्राय है तथा वेश्याओं की और विधवाओं की सन्तान के नाम के साथ उस के पिता का नाम लगाना नहीं बन सकता, इसलिये व्यापकता की दृष्टि से माता का ही नाम क्यों न लगाया जाय ? अगर दायभाग के निर्णय के लिये पिता का नाम लगाया जाता है तो दायभाग के नियम इस प्रकार पक्षपातपूर्ण क्यों हैं ? उन्हें बदलना क्यों न चाहिये ? इत्यादि अनेक समस्याएँ हैं जिनके साथ उपर्युक्त समस्या का सम्बन्ध है । व्यभिचार का अर्थ सामाजिक वातावरण के अनुकूल ही लगाया जा सकता है । मैथुन के जिस सम्बन्ध को समाज स्वीकार कर लेती है वह व्यभिचार नहीं कहा जा सकता । इतना ही नहीं किन्तु सामाजिक विधि में कोई अन्याय मालूम होता हो तो उसको सुधारने के लिये नैतिक बल से किसी दूसरी विधि का अवलम्बन लेना भी व्यभिचार नहीं है ।

**उद्योगी**—संकल्पी मैथुन को बचाकर समाज की किसी आवश्यकता को पूर्ण करते हुए अर्थ लाभ के लिये जो मैथुन किया जाता है, वह उद्योगी मैथुन है।

वेश्याओं का धंधा इसी प्रकार का मैथुन है। यद्यपि उसमें सांकल्पिकता का बचाव नहीं किया जाता, इसलिये वह सदोष है, फिर भी यह बचाव किया जा सकता है। अगर यह बचाव किया जाय तो वह उद्योगी मैथुन कहलायगा।

वेश्याओं का अस्तित्व यद्यपि समाज का कलंक है, तथापि जबतक समाज में विषमता है और न्याय का पूर्ण साम्राज्य नहीं है, तब तक वेश्याओं का होना अनिवार्य है। इतना ही नहीं किन्तु अगर यह विषमता दूर नहीं की जाय और न्याय की रक्षा न की जाय तो वेश्याओं का होना आवश्यक भी है।

वेश्याप्रथा के अस्तित्व में स्त्री और पुरुष दोनों का हाथ है। अगर स्त्रियों को वेश्या बनने के लिये विवश न होना पड़े तो यह कुप्रथा नष्ट हो सकती है, अथवा पुरुषों को वेश्याओं की जरूरत ही न हो तो यह प्रथा नष्ट हो सकती है। अभी तक समाज की रचना इतनी सदोष है कि उसके लिये वेश्याएँ आवश्यक हो गई हैं। हम देखते हैं कि अच्छे अच्छे युवक अविवाहित रहते हैं। कुमारियों की संख्या कम होने से युवकों को स्त्रियाँ नहीं मिलतीं। इनमें से सभी युवक आजन्म ब्रह्मचारी नहीं रह सकते इसलिये यह अनिवार्य है कि परस्त्रियों के ऊपर छल से या बल से इनके आक्रमण हों। उनके इस आक्रमण को रोकने के लिये

वेश्या प्रथा कुछ समर्थ हो सकती है। इधर स्त्रियों के ऊपर भी समाज का अत्याचार कम नहीं है। वैधव्य प्राप्त करने पर उन्हें ब्रह्मचर्य के लिये विवश किया जाता है, जिसको वे पालन नहीं कर सकतीं, इससे व्यभिचार बढ़ता है। बाद में गर्भ रहजाने पर वह बिलकुल बहिष्कृत कर दीजाती हैं। अन्त में वह गिरते गिरते पतन की सीमा पर पहुँच कर वेश्या बन जाती हैं। इस प्रकार समाज की अव्यवस्था और अत्याचारशीलताने एक तरह वेश्याओं के निर्माण का कारखाना खोल रक्खा है और दूसरी तरफ युवकों को अविवाहित रहने के लिये विवश कर दिया है। ऐसी अवस्था में वेश्याओं का होना अनिवार्य है। वेश्याएँ कुछ इसलिये अपना धन्धा नहीं करतीं कि उन्हें काम सुख लूटना है किन्तु इसलिये करती हैं कि उन्हें पेट की ज्वाला शान्त करना है। उन बेचारियों में भूखों मरने का साहस नहीं है। इसलिये उनका कार्य संकल्पी मैथुन अर्थात् व्यभिचार न कहलाकर उद्योगी मैथुन कहलाता है।

इस उद्योगी मैथुन में सांकल्पिकता का प्रवेश न होना चाहिये अर्थात् इसमें पर-स्त्री-सेवन और पर पुरुष-सेवन का पाप न आना चाहिये। जो पुरुष विवाहित है उसके लिये वेश्या भी (स्वस्त्री से भिन्न होने से) परस्त्री है, इसलिये वेश्यागमन करके वह व्यभिचार करता है, और विवाहित होने से वेश्या के लिये भी वह पर-पुरुष (पर=दूसरी स्त्री का पुरुष) है, इसलिये उससे सम्बन्ध करके वह भी व्यभिचारिणी होती है। जिनको अनिवार्य कारणवश अविवाहित जीवन व्यतीत करना पड़ता है, सिर्फ उन्हीं के लिये

वेश्याओं की सृष्टि है। इससे आगे ज्योंही वह संबंध बढ़ा त्योंही व्यभिचार हो गया।

**शंका**—विवाहित पुरुष वेश्या सेवन से व्यभिचारी कहलावे, यह तो ठीक है क्योंकि वह जानता है कि 'मैं विवाहित हूँ'। परंतु वेश्या तो नहीं जानती कि 'यह पुरुष विवाहित है या अविवाहित' इसलिये उसका क्या दोष ?

**समाधान**—वेश्या के लिये इस विषय में कुछ असुविधा जरूर है, परन्तु शुद्ध मन से उसे इस बात की जांच करना चाहिये और पता लग जाने पर उसको पास न आने देना चाहिये, और उससे अपलीक होने का वचन ले लेना चाहिये। शक्य उपायों के कर लेने पर भी अगर कोई धोका दे जाय तो वेश्या व्यभिचार के दोष से मुक्त रहेगी, सिर्फ पुरुष ही व्यभिचारी कहलायगा।

**शंका**—तब तो वेश्या अपना धंधा करते हुये भी अगर विवाहित पुरुषों से संबंध न रक्खे तो पंच अणुव्रत ले सकती है।

**समाधान**—जो वृत्ति समाज की किसी अनिवार्य और अहिंसक आवश्यकता का फल है उसे करते हुए अणुव्रतों में बाधा नहीं पड़ सकती। इसलिये उपर्युक्त विवेक रखने वाली वेश्या भी अगर चाहे तो पांच अणुव्रतों का पालन कर सकती है।

वेश्या का धंधा संकल्पी मैथुन न होने पर भी वह किसी समाज की शोभा नहीं है, बल्कि वह कलंक है—समाज की अव्यवस्था का सूचक है। इसलिये ऐसे साधनों को एकत्रित करना चाहिये जिससे इस प्रथा की जरूरत ही न रहे। इसके लिये निम्न

लिखित उपाय काम में लेना चाहिये।

क—समाज का प्रत्येक पुरुष और स्त्री विवाहित हो इस लिये विवाह की पूर्ण स्वतन्त्रता होना चाहिये, इसमें जाति-पाँति का तथा विधवा-कुमारी का विचार न रक्खा जाय।

ख—विवाहोत्सव का खर्च इतना कम हो कि पैसे के अभाव से किसी का विवाह न रुक सके।

ग—जिस मनुष्य की आमदनी इतनी अधिक नहीं है कि वह संतान का पालन कर सके तो वह कृत्रिम उपायों से सन्तान निग्रह करे।

घ—विधवाओं को किसी भी हालत में समाज से बाहिर न किया जाय। अगर वह ब्रह्मचर्य से न रह सकती हो या न रह सकी हो तो उसके पुनर्विवाह का आयोजन किया जाय।

ङ—व्यभिचार के कार्य में व्यभिचारजात सन्तानका कोई अपराध नहीं है, इसलिये उनका दर्जा वैसा ही समझा जाय जैसा कि अन्य सन्तान का समझा जाता है।

च—अगर कोई विधवा आजीविका से दुःखी हो तो उसे आजीविका दी जाय, जिससे वह पेट के लिये वेश्या न बने।

इस प्रकार अगर एक तरफ पुरुषों को वेश्या की आवश्यकता न रहेगी, दूसरी तरफ स्त्रियों को पेट के लिये इस घृणित व्यापार की आवश्यकता न रहेगी तब यह व्यापार आप ही आप उठ जायगा।

विरोधी—आत्मरक्षा या आत्मीय रक्षा के लिये यदि

व्यभिचार करना पड़े तो वह विरोधी व्यभिचार कहलायगा। अगर युद्ध के समय कोई स्त्री जासूस का काम कर रही है और इस कार्य में वह शत्रु का गुप्त रहस्य तभी जान सकती है, जब वह शत्रु पक्ष के किसी अफसर के साथ प्रेम का नाट्य करे, ऐसी अवस्था में जो व्यभिचार होगा वह विरोधी व्यभिचार होगा। यदि किसी स्त्री को किसी अत्याचारीने कैद कर लिया है और अगर वह उसकी इच्छा तृप्त नहीं करती तो वह उसके बच्चे को मार डालता है, ऐसी अवस्था में अगर वह व्यभिचार करती है तो उसका यह कार्य आत्मीय रक्षा के लिये होने से विरोधी व्यभिचार है। इसी प्रकार प्राणरक्षा के लिये भी विरोधी व्यभिचार हो सकता है।

**प्रश्न**—सीता आदि सतियों ने आत्म रक्षा की पर्वाह न करके सतीत्व की रक्षा की, उसी प्रकार प्रत्येक स्त्री को क्यों न करना चाहिये? अथवा कम से कम उस स्त्री को अवश्य करना चाहिये जिसने अणुव्रत लिये हैं। अणुव्रत-धारिणी को भी आप इतनी छूट दें तब सतीत्व आखिर रहेगा कहाँ? सीता आदि के जीवन तो दुर्लभ ही हो जांयगे।

**उत्तर**—सीता आदि ने जो प्राणों की बाजी लगाकर सतीत्व रक्षा की, वहाँ सतीत्व का प्रश्न मुख्य नहीं है किन्तु वह अत्याचार के आगे सत्याग्रह नामक महाशस्त्र का उपयोग है। अगर रावण ने बलात्कार किया होता तो महासती सीताजी के ब्रह्मचर्य व्रत को ज़रा भी धक्का न लगता, अथवा दुर्भाग्यवश अगर रावण ने

रामचन्द्रजी को क़ैद कर लिया होता और वह उन्हें छोड़ने के लिये सिर्फ़ इसी शर्त पर तैयार होता कि सीता रावण की इच्छा पूरी करे और पति-रक्षा के लिये सीताजी ने रावण का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया होता तो सीताजी का ब्रह्मचर्याणुव्रत कभी भंग न होता। भगवती सीता ने लोकोत्तर दृढ़ता का परिचय दिया इसलिये उनके विषय में ऐसी कल्पना करते भी संकोच होता है, परन्तु अगर कोई दूसरी स्त्री इस प्रकार दृढ़ता का परिचय न दे सके तो हम उस की गिनती वीराङ्गनाओं में भले ही न करें परन्तु उसे चरित्र-भ्रष्ट या असंयमी नहीं कह सकते।

व्यभिचार किस वासना का फल है, इसका विचार करने पर यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जायगी। व्यभिचार में समाज के ऊपर एक प्रकार का आक्रमण किया जाता है, दूसरे के कुटुम्ब के बन्धन को शिथिल बनाया जाता है, कौटुम्बिक जीवन विश्वासशून्य और अशान्त बनाया जाता है और इन सब कार्यों के लिये कोई भी नैतिक अवलम्बन नहीं होता; जब कि विरोधी मैथुन में ये सब बातें नहीं होतीं। व्यभिचार जिस प्रकार काम वासना की उत्कटता-अमर्यादिता का परिणाम है, उस प्रकार उपर्युक्त विरोधी मैथुन नहीं।

**शंका**—क्या इस छूट का दुरुपयोग न होगा? क्या इस की ओट में वास्तविक व्यभिचार न छुपाया जायगा?

**समाधान**—छुपाने को मनुष्य किसकी ओट में क्या नहीं छुपा सकता? देखना इतना चाहिये कि छूट के भीतर पाप को पकड़ने के पर्याप्त साधन हैं कि नहीं? उदाहरणार्थ कोई स्त्री व्यभिचार करके

अगर यह कहे कि यह विरोधी मैथुन है तो उसे अपने इस काम को बलात्कार सिद्ध करना पड़ेगा और उस पुरुष को शत्रु बताना पड़ेगा। परन्तु स्वेच्छापूर्वक किये गये इस कार्य में ऐसा होना अत्यन्त कठिन है।

मैथुन के इन चार भेदों के बलाबल पर अवश्य विचार करना चाहिये। सुख शांति के लिये ब्रह्मचर्य आदर्श है, परन्तु समाज संरक्षण के लिये अमुक सीमा तक मैथुन भी आवश्यक है। दोनों का समन्वय करके ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये, तथा द्रव्यक्षेत्र कालभाव के विचार को न भूलना चाहिये। अपनी शक्ति और स्वतन्त्रता की तथा दूसरों के अधिकारों की रक्षा के लिये लिये ब्रह्मचर्य उपयोगी है।

## अपरिग्रह

साधारण लोग परिग्रह को पाप नहीं मानते, बल्कि उन की दृष्टि में जो जितना बड़ा परिग्रही है वह उतना ही बड़ा पुण्यात्मा है, आदरणीय भी है। धन और धनवानों की महिमा से समस्त जगत का साहित्य भरा पड़ा है, दुनियाँ के बड़े बड़े राज्य शासन——चाहे वे प्रजातंत्र हों या एक तंत्र—और बड़े बड़े विद्वान—भले ही वे बात-बात में धर्म के ही गीत गाते हों, प्रायः सभी धनवानों के इशारों पर नाचते रहे हैं और नाचते हैं। आज 'बड़ा आदमी' शब्द का बहु-प्रचलित और सुगम अर्थ 'श्रीमान' है। जो धन सर्व-शक्तिमान् के स्थान पर विराजमान है उस के संग्रह को पाप कहना और उसके त्याग को व्रत संयम आदि

कहना विचारणीय तो अवश्य है।

'परिग्रह पाप है'—इस सिद्धान्त की छाप लोगों पर इतनी अवश्य बैठी है कि वे इस सिद्धान्त का मौखिक विरोध नहीं करते, परन्तु मन में और व्यवहार में इस सिद्धान्त पर जरा भी विश्वास नहीं रखते। इस विषमता का कारण क्या है, यह भी विचारणीय है।

इस सिद्धान्त के विषय में यह भी एक प्रश्न है कि जब परिग्रह में हिंसा नहीं है, झूठ नहीं है, चोरी नहीं है अर्थात् यदि किसी ने ईमानदारी से धन पैदा किया है तो उसका संग्रह पाप क्यों है ? हाँ, अगर पैसा बेईमानी से, चोरी से या क्रूरता से पैदा किया गया है तो अवश्य पाप है। परन्तु उस समय उसे परिग्रह-पाप नहीं कह सकते; वह तो हिंसा, झूठ या चौर्य पाप कहा जा सकता है। मतलब यह कि शुद्ध परिग्रह—ईमानदारी से एकत्रित किया हुआ धन—पाप कैसे कहा जा सकता है ?

इन सब समस्याओं पर प्रकाश डालने के लिये हमें परिग्रह पर मूल से ही विचार करना पड़ेगा कि परिग्रह क्यों और कैसे आया ? उससे जगत् की हानि क्या है ? परिग्रह किसे कहते हैं ? इसके भी अपवाद हैं या नहीं ? हैं तो क्या ? इत्यादि।

जब मनुष्य वन्य-जीवन व्यतीत करता था, बन्दरों की तरह स्वतन्त्रता से विचरण करता था, प्राकृतिक फल-फूलों से अपनी सब आवश्यकताएँ पूरी कर लेता था; जैन-शास्त्रों के शब्दों में जब मनुष्य भोग-भूमि के युग में था, तब वह परिग्रही नहीं था। प्राकृतिक सम्पत्ति अधिक थी और मनुष्य संख्या तथा उस

की आवश्यकताएँ थोड़ी थीं। तब परिग्रह की जरूरत ही क्या थी? तब खाने के लिये उसे मन चाहे फल मिलते थे, पत्र और पुष्प उसके शृंगार थे, बम्बूल आदि की फली तथा बाँसुरी वगैरह उसके वादित्र थे, बल्कल के वस्त्र थे, पर्वत की कन्दराएँ और वृक्षों की खोहें उसके मकान थे, अनेक वृक्षों का मादक-रस पीकर वह मद्य सेवन करता था। जब इस तरह चैन से गुजरती थी तब वह संग्रह करने के झगड़े में क्यों पड़ता? परन्तु इस शान्ति का भी अन्त आया। जन संख्या बढ़ने लगी, रुचि और बुद्धि का भी विकास हुआ। अब कृत्रिम वस्त्र, कृत्रिम गृह आदि की रचना हुई। इस प्रकार से समाज में अत्यन्त क्रान्तिकारी युगान्तर उपस्थित हुआ। पहिले तो प्राकृतिक सम्पत्ति के हिस्सा बाँट से ही काम चल गया परन्तु पीछे और भी अनेक विधि-विधानों की आवश्यकता हुई। अब मनुष्य प्राकृतिक सम्पत्ति से ही गुजर न कर सका, उसे परिश्रम भी करना पड़ा। इधर आवश्यकताएँ यहाँ तक बढ़ीं और इतने तरह की बढ़ीं कि एक मनुष्य से अपनी सारी आवश्यकताएँ पूरी न हो सकीं। इसलिये कार्य का विभाग कर दिया गया। इस प्रकार मनुष्य पूरा सामाजिक प्राणी बन गया।

परन्तु सब मनुष्यों की योग्यता और रुचि बराबर नहीं थी। कोई परिश्रमी थे, कोई स्वभाव से कुछ आरामतलब। कोई बुद्धिमान् थे, कोई साधारण। जो परिश्रमी थे, बलवान थे, बुद्धिमान् थे, वे अधिक और असाधारण काम कर सकते थे, इसलिये यह स्वाभाविक था कि वे अपने कार्य का अधिक मूल्य माँगें और यह उचित भी था। इस प्रकार के अधिक मूल्य चुकाने के दो ही उपाय थे—एक

तो यह कि उसने जितना अधिक काम किया है उसके बदले में उसका कुछ अधिक काम कर दिया जाय। उदाहरणार्थ, अगर वह अधिक परिश्रम करने से थक गया है तो उसके शरीर में मालिश कर दिया जाय, लेटने के लिये दूसरों की अपेक्षा अच्छा पलंग आदि दिया जाय आदि; दूसरा उपाय यह था कि उससे दूसरे दिन काम न लिया जाय और उसे भोगोपभोग की सामग्री दूसरे दिन भी दी जाय। बस, यहीं से परिग्रह का प्रारम्भ होता है। कोई कोई लोग कहने लगे कि अमुक मनुष्य को एक दिन के काम में अगर दो दिन की सामग्री दी गई है तो मेरा काम तो उससे बहुत अच्छा है, मैं चार दिन की लूँगा। इस प्रकार यह संख्या बढ़ती ही गई। दूसरी तरफ़ एक अनर्थ और हुआ। लोगों ने यह सोचा कि एक दिन काम करके चार दिन आराम करने की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि दस बीस वर्ष काम कर के शेष जीवन आराम किया जाय। परन्तु मरने का तो कुछ निश्चय न था, इसलिये लोग ज़िन्दगी-भर संग्रह करने लगे। खैर, यहाँ तक भी कुछ हर्ज़ नहीं था, अगर वे लोग इस संग्रहीत धन को भोग डालते या मरते समय समाज को ही दे जाते। परन्तु इसी समय मनुष्य के हृदय में अनंत जीवन की लालसा जागृत हुई। उसने अपने स्थान पर पुत्र को स्थापित किया और अपनी संग्रहीत संपत्ति उसे दे दी।

कहने को तो यह काम क़ानूनी था परन्तु इस कानून की जो मंशा थी उसकी इसमें पूरी हत्या हो गई थी। समाज के विधान की मंशा तो यह थी कि जिसने अपनी योग्यतासे अधिक

मूल्य की सेवा की है वह दूसरों से [अर्थात समाज से] अधिक सेवा लेले। परन्तु उसे दूसरों से सेवा लेने का अधिकार था, न कि उनकी जीवन-निर्वाह की सामग्री को छीनने का या दबा लेने का।

जिन लोगों ने अधिक सेवा की, उनका यह कहना था कि हमने अधिक सेवा की है, इसके बदले में हमें कुछ प्रमाण-पत्र तो मिलना चाहिये, जिसको देकर हम समाज के किसी सदस्य से इच्छानुसार उतने मूल्य की सेवा ले सकें। समाज ने कहा—अच्छा प्रमाण-पत्र के रूप में तुम अपने पास अधिक सामग्री रख लो, जो कोई तुम्हारी सेवा करे उसको तुम यह दे देना। इस प्रकार समाज ने जो सामग्री दी थी, वह सिर्फ़ इसलिये कि वह अपनी सेवा के बदले में सेवा ले सके, न कि इसलिये कि वह सदा के लिये उस सामग्री को रखले, भले ही उसके बिना दूसरे भूखे मरते रहें। यह तो एक प्रकार से विश्वासघात और हिंसा है।

शंका—जिस जमाने में सम्पत्ति का संग्रह अन्न, वस्त्र, गाय, भैंस, ज़मीन आदि में किया जाता था उस ज़माने में संग्रह करनेवाला अवश्य पापी था क्योंकि वह दूसरों की जीवन-निर्वाह सामग्री लेकर लौटाने की कोशिश नहीं करता था, जिससे दूसरे भूखों मरते थे। परन्तु जब धन का संग्रह चाँदी, सोना, हीरा आदि में होने लगा, या हुंडियों, नोटों में होने लगा तब कोई संग्रह करे तो क्या हानि थी? सोना, चाँदी, नोट आदि तो खाने-पीने की चीज़ नहीं है इसलिये उनका कोई कितना भी संग्रह करले, उससे किसी का क्या नुक़सान है?

समाधान--जीवनोपयोगी वस्तुओं का संग्रह करना या उनको प्राप्त करने के साधनों का संग्रह करना एक ही बात है। व्यवहार की सुगमता के लिये भोगोपभोग की वस्तुओं के स्थान में चाँदी-सोना या उसके सिक्के या नोट वगैरह स्थापित कर लिये जाते हैं, इसलिये सिक्का आदि का मूल्य मूल वस्तुओं के समान ही है। सिक्कों या नोटों का संग्रह जब एक जगह हो जाता है तब दूसरों को वे नहीं मिल पाते, इसलिये दूसरे लोग भोगोपभोग की सामग्री क्या देकर प्राप्त करें? इसलिये किसी भी रूप में धन का संग्रह किया जाय, वह दूसरों के न्यायोचित अधिकारों को छीनता है, इसलिये पाप है।

शंका-यदि परिग्रह को पाप माना जायगा तब तो समाज का विकास ही रुक जायगा। अगर धन-संचय का प्रलोभन न रह जायगा तो कोई असाधारण कार्य क्यों करेगा? फिर तो किसी भी तरह के आविष्कार न हो सकेंगे और मनुष्य जङ्गली ही रह जायगा

उत्तर—संयमी मनुष्य तो विना किसी प्रलोभन के कर्तव्यवश समाज की उन्नति के लिये असाधारण कार्य करता है। फिर भी यह ठीक है कि ऐसे संयमी इने-गिने ही होते हैं इसलिये प्रलोभन आवश्यक है। इसके लिये यह उचित है कि जो असाधारण काम करे, उसे तदनुसार ही असाधारण धन दिया जाय। परन्तु उसका कर्तव्य है कि वह या तो उस धन का दान कर दे अथवा भोग करले। पहिले मार्ग से उसे यश मिलेगा, दूसरे से काम-सुख। दोनों ही मार्ग से धन दूसरों के हाथ में पहुँच कर उन्हें

सुखी करेगा, बेकारी और ग़रीबी दूर करेगा।

शंका—धन के भोग करने की बात कहकर आप मनुष्य को विषय का गुलाम बनाते हैं। एक मनुष्य धन पैदा करने के साथ अगर सात्विक जीवन व्यतीत करना चाहता है, मौज-शौक़ की चीज़ोंका उपयोग नहीं करना चाहता तो क्या बुरा करता है?

समाधान—मूलव्रत की रक्षा न करते हुए उत्तरव्रत का पालन करना व्रत की दृष्टि से मृतक शरीर के शृंगार की तरह है। शृंगार अच्छी चीज़ भले ही हो परन्तु मुर्दे का शृंगार किस काम का? इसी प्रकार जब तक मूलव्रत अपरिग्रह नहीं है तब तक भोगोपभोग परिमाण नामक उत्तरव्रत का कुछ मूल्य नहीं है। भोगोपभोग सामग्री का परिमाण करने का या त्याग करने का यही उद्देश्य है कि बची हुई सामग्री दूसरों के काम आवे, परन्तु अपरिग्रह व्रत का पालन किये बिना इस उद्देश्य की सिद्धि हो ही नहीं सकती, क्यों कि उस सामग्री को प्राप्त करने का उपाय जो धन है वह तो उसने दबा रक्खा है। तब भोगोपभोग की सामग्री का उपयोग न करने पर भी वह दूसरे को कैसे मिलेगी? इस प्रकार यह व्रत निष्प्राण हो गया है। तब भोगोपभोग परिमाण के द्वारा इस निष्प्राण व्रत के सम्हाल-शृङ्गार से क्या लाभ है? यही कारण है कि जैनशास्त्रों ने भोगोपभोग परिमाण को मूलव्रतों में नहीं गिना, इसे अपरिग्रह-व्रत का सिर्फ़ सहायक कहा है। महात्मा महावीर ने अपरिग्रह और भोगोपभोग परिमाणव्रत में जो स्थानभेद बतलाया है और अपरिग्रह को जो महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है इससे उनकी अर्थशास्त्र मर्मज्ञता साबित होती है। इसीलिये उनने मौज-शौक़ की

अपेक्षा धन के संग्रहमें अधिक पाप बतलाया है। इसे मूल पाप में गिना है।

**शंका**—यदि आर्थिक दृष्टि से दो आदमी एक सरीखे हों तो मौज-शौक से जीवन बितानेवाला आपकी दृष्टि में अच्छा कहलाया। परन्तु इस तरह संयम की अवहेलना करना क्या उचित है ?

**समाधान**—यदि दोनों ईमानदारी से धन पैदा करते हों, दोनों की ऐहिक आवश्यकताएँ समान हों तो इन दोनों में जो रूखा सूखा आदि खाकर बाह्य संयम पालता है और उससे जो पैसे की बचत होती है उसका संग्रह करता है, उसकी अपेक्षा वह अच्छा है जो आई हुई लक्ष्मी का संग्रह करने की अपेक्षा उचित भोगों में उसे खर्च कर डालता है। हाँ, अगर उसमें भोग-लालसा इतनी बढ़ जाय कि वह उसके लिये पाप भी करने लगे या उसमें कष्टसहिष्णुता न रहे तो वह पापी कहलायगा। परन्तु अपरिग्रह की दृष्टि से नहीं, किन्तु अन्य पापों की दृष्टि से। स्पष्टता के लिये मैं यहाँ छः श्रेणी किये देता हूँ:—

१—जो मनुष्य समाज की सेवा में अपना सर्वस्व लगा देता है, बदले में समाज से कुछ नहीं लेता किन्तु पूर्वोपार्जित धन से निर्वाह करता है, अथवा जीवन-निर्वाह के योग्य सामग्री लेता है किन्तु संग्रह कुछ नहीं करता, वह प्रथम श्रेणी का अपरिग्रही है। इस श्रेणी में महावीर, बुद्ध, ईसा आदि आते हैं।

२—जो मनुष्य समाज की खूब सेवा करता है और उसके बदले में नियमानुसार यथोचित धन लेता है, साधारण गृहस्थ की

तरह जीवन निर्वाह करके बची हुई सम्पत्ति शुभ-दान में लगा देता है-यह दूसरे नम्बर का अपरिग्रही है ।

३-समाजकी सेवा करके यथोचित धन लेनेवाला (दूसरी श्रेणी के समान) अगर इस आशय से धन का संग्रह करता है कि इससे मैं भविष्य में अपना जीवन निर्वाह करता हुआ बिना किसी बदले के समाज की सेवा करूँगा, अपने जीवन-निर्वाह का बोझ भी समाज पर न डालूँगा, मरने के बाद मेरी संग्रहीत सम्पत्ति समाज की ही होगी, तो यह तीसरी श्रेणी का अपरिग्रही बनता है ।

४-न्याय-मार्ग से धन पैदा करनेवाला भोग करके अपने और अपनी सन्तान के लिये धन का इतना संग्रह करता है जितना उस की सन्तान की शिक्षा और सन्तान की नाबालिग अवस्था में जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक है, तो वह चौथी श्रेणी का अपरिग्रही है ।

५-पूर्वजों से उत्तराधिकारित्व में उसे बहुत धन मिला हुआ है इसलिये उसके पास धन का संग्रह है । अब वह इसमें जितना बढ़ाता है उतना किसी न किसी उचित उपाय से खर्च कर डालता है, मूलधन को भी शुभ-दान में लगाता है, वह पाँचवीं श्रेणी का अपरिग्रही है ।

६-पाँचवीं श्रेणी का अपरिग्रही अगर मूलधन को संग्रहीत रखता है किन्तु बाकी आमदनी खर्च कर डालता है तो वह छट्ठी श्रेणी का अपरिग्रही है ।

उपर्युक्त सभी श्रेणीवाले समाज की सम्पत्ति बढ़ाने के लिये उद्योग धन्धों के न्यायोचित प्रचार में पूर्ण सहयोग कर सकते

हैं। अपरिग्रही के लिये निष्कर्मा और निरुद्योग होने की आवश्यकता नहीं है। उसे संग्रह से बचना चाहिये अथवा संग्रह करके उसे समाज में किसी न किसी न्यायोचित उपाय से वितरण कर देना चाहिये। ऊपर अपरिग्रहियों की श्रेणियाँ बतलाई गई हैं। नीचे परिग्रही की श्रेणियाँ बतलाई जाती हैं:—

१—किसी तरह की समाजसेवा करके नहीं, किन्तु पूँजी के बलपर पैसा पैदा करके धनका अनावश्यक संग्रह करनेवाला, आमदनीमें से बहुत ही कम खर्च करनेवाला कंजूस, प्रथम श्रेणी का परिग्रही है।

२—अगर ऐसा ही मनुष्य धनसंग्रह की सीमा बाँध ले तो द्वितीय श्रेणी का परिग्रही है।

३—अगर सेवा करके धन संग्रह करे तो तृतीय श्रेणी का परिग्रही है।

४—अगर सेवा करके धन संग्रह की मर्यादा बाँध ले तो चतुर्थ श्रेणी का परिग्रही है।

इन चारों ही श्रेणियों के मनुष्य अगर भोगोपभोग की मर्यादा करते हैं किन्तु उनसे धन संग्रह की लालसा में कुछ भी कमी नहीं होती तो अपरिग्रह व्रत की दृष्टि से उनका कुछ मूल्य नहीं है। हाँ, इन्द्रिय-विजय ब्रह्मचर्य आदि की दृष्टि से भले ही उन का मूल्य हो। वे संयमी नहीं किन्तु उसके अभ्यासी कहे जा सकते हैं।

**शंका**—जो लोग धन-संग्रह की सीमा बाँध लेते हैं उन्हें तो अपरिग्रहियों की श्रेणी में रखना चाहिये। परिग्रहियों की

उपर्युक्त चार श्रेणियों में से द्वितीय और चतुर्थ श्रेणी को भी अपरिग्रहियों में रखिये।

**समाधान**—धन संग्रह करनेवाला मर्यादा बाँधकर अपरिग्रहियों की तीसरी-चौथी श्रेणी में आ सकता है अथवा अगर वह पहिले से ही श्रीमान है तो पाँचवीं-छट्ठी श्रेणी में आ सकता है। अगर मर्यादा बाँध करके भी वह इन श्रेणियों में नहीं आता तो उसकी मर्यादा स्वपर वञ्चना के सिवाय कुछ नहीं है। वह अपरिमित संग्रहियों की अपेक्षा कम परिग्रही अवश्य है, फिर भी अपरिग्रह व्रतियों में उसकी गिनती नहीं की जा सकती।

**प्रश्न**—अपरिग्रह व्रत का लक्ष्य तो साम्यवाद मालूम होता है। बल्कि साम्यवादी के पास भी कुछ न कुछ धन रहता है और आप तो संग्रह-मात्र का विरोध करते हैं। तब क्या मनुष्य बिलकुल पशु की तरह हो जाय? धन का जगह जगह कुछ अधिक मात्रा में संग्रह रहे, इसी में समाज की भलाई है; क्योंकि आवश्यकतावश वह संग्रहीत धन किसी अच्छे कार्य में लगाया जा सकता है। अगर सब लोग फाँकेमस्त हो जाँयगे तो किसी अच्छे कार्य के लिये धन संग्रह कहाँ से होगा और संग्रह करने में कठिनाई भी कितनी होगी? वर्षा का पानी कूप-तालाब आदि में जब संग्रहीत होता है तभी लोग सुभीते के साथ पानी का उपयोग कर सकते हैं। अगर इन जलाशयों का पानी समान रूप में सब जगह फैला दिया जाय तो पीने के लिये पानी का मिलना भी मुश्किल हो जाय।

**उत्तर**-जैनशास्त्र साम्यवाद के विरोधी नहीं, किन्तु उसके पूर्ण पोषक हैं। जैनशास्त्रों में जो पहिले, दूसरे, तीसरे (आरा) काल की कल्पना की गई है और जो सबसे अच्छा युग बतलाया गया है, वह पूर्ण साम्यवादी है। इसी प्रकार स्वर्ग लोक के भी दो भेद हैं--एक तो साम्राज्यवादी, दूसरे पूर्ण साम्यवादी। साम्राज्यवादी सौधर्म आदि स्वर्गों के देवों की अपेक्षा पूर्ण साम्यवादी ग्रैवेयक आदि के देवों का स्थान बहुत उच्च है। वे सभ्यता, शिक्षा, शान्ति, शक्ति, सुख आदि में साम्राज्यवादी देवों से बहुत बढे चढ़े हैं। साम्राज्यवादी देवों का सम्राट इन्द्र भी उनकी बराबरी नहीं कर सकता। इससे इतना तो मालूम होता है कि सुखमय-समाज का पूर्ण आदर्श साम्यवाद है। परन्तु यह साम्यवाद समाज के व्यक्तियों की योग्यता और निस्वार्थता पर निर्भर है। समाज अगर मूढ़ और स्वार्थी हो तो साम्यवाद महाभयंकर हो जाता है। वह या तो समाज को नरक बना देता है या साम्राज्यवाद या राज्यवाद में परिणत कर देता है। परन्तु इस प्रकार का दुरुपयोग तो प्रत्येक गुण का होता है या हो सकता है, इसीलिये वह गुण हेय नहीं हो जाता। सिर्फ़ योग्यता का विचार करना चाहिये। समाज की योग्यता और निस्वार्थता का विचार करके मात्रा से अधिक नहीं, फिर भी अधिक से अधिक साम्यवाद का प्रचार करना चाहिये। साम्यवाद और अपरिग्रह-व्रत का यह उद्देश्य नहीं है कि मनुष्य पशु की तरह हो जाय किन्तु यह उद्देश्य है कि दूसरे लोग अपनी न्यायोचित सुविधाओं से वंचित रहकर भूखों न मरें। समाज के पास जितनी सम्पत्ति है उसे देखते हुए जितना भाग हमारे हिस्से

का है अथवा कर्तव्य को पूरा करने के लिये जो हमें आवश्यक है उसका उपभोग और संग्रह करने में कोई परिग्रही नहीं कहलाता; किन्तु अनावश्यक तथा अपने हिस्से से बहुत अधिक संग्रह करना परिग्रह है। एक ही समान बाह्य परिग्रह रखने पर भी एक समय और एक जगह परिग्रह का पाप हो सकता है और दूसरे समय और दूसरी जगह नहीं। जब काम अधिक हो और करनेवाले कम हों तब भोगोपभोग की जितनी सामग्री किसी को परिग्रही बना सकती है उतनी बेकारी के ज़माने में नहीं बना सकती। जब काम कम और करनेवाले अधिक होते हैं और वे बेकार फिरते हैं तब भोगोपभोग की चीजों का अधिक संग्रह किया जा सकता है। मतलब यह कि समाज की परिस्थिति के ऊपर परिग्रह और अपरिग्रह की मात्रा अवलम्बित है। ढाई हज़ार वर्ष पहिले मुनि जितने उपकरण रख सकता था, आज उससे कई गुणे उपकरण रखकर भी अपरिग्रही हो सकता है। हाँ, उसके ऊपर अनावश्यक स्वामित्व न होना चाहिये; इसलिये अपरिग्रह-व्रत में संग्रह-मात्र का निषेध नहीं है, किन्तु उसके मात्राधिक्य का निषेध है। जगह जगह संग्रह करने की आवश्यकता तभी होती है जब एक तरफ़ अत्यंत कङ्गाली हो। यदि सभी को न्यायोचित साधन मिले तो किसी के पास अधिक संग्रह हो इसकी क्या आवश्यकता है? यदि कोई सार्वजनिक बड़ा-सा कार्य करना हो तो इसके लिये सरकार के पास सार्वजनिक कोष होता है, उसका उपयोग किया जा सकता है या सब लोग मिलकर वह कार्य कर सकते हैं, और जलाशयों की उपमा यहाँ भी लागू हो सकती है। जलाशयों का होना

अच्छा है परन्तु उसके ऊपर व्यक्ति विशेष की ठेकेदारी होना ही दुःखद है। विवश होकर यह व्यवस्था अपनाना पड़े यह ठीक है, परन्तु इसे आदर्श नहीं कह सकते। सफल साम्यवादी समाज में श्रीमानों का और दानवीरों का जितना अभाव होता है उससे भी बड़ा अभाव उनकी आवश्यकता का होता है। दानियोंका होना अच्छा है परन्तु भिखमंगों का न होना इससे हज़ार गुणा अच्छा है।

अभी तक के विवेचन से इतनी बात समझ में आ गई होगी कि परिग्रह किस प्रकार अन्याय है, विश्वास-घात आदि दोष उस में किस प्रकार जड़ जमाये बैठे हैं, समाज के असली ध्येय को वह किस प्रकार नष्ट करता है। परन्तु इसमें अभी एक और भयंकर दोष है जो कि अनेक आत्याचारों को जन्म देता है।

पहिले कहा जा चुका है कि हमें अधिक सेवा करके अधिक सेवा लेनेका ही अधिकार है, उसके प्रमाणपत्र रूप जो सम्पत्ति समाज ने हमारे पास रक्खी है उसको अनिश्चितकाल के लिये दबा रखने का नहीं। अगर हम दबा रखते हैं तो विश्वास-घात करते हैं। परन्तु यह विश्वासघात उस समय एक प्रकार के अत्याचार में परिणत हो जाता है, जब हम उस संग्रहीत धन को भी धनार्जन का उपाय बना लेते हैं। हमको जो धन मिला है वह सेवा के बदले में मिला है। सेवा के बदले में धन लेना उचित है परन्तु हमारे पास धन है इसलिये बिना सेवा किये ही हमें और धन दो, यह कहना अनुचित है। परन्तु होता यही है। हम मकान बनवाकर जो उसके भाड़े से आमदनी करते हैं, कारखानों के शेयर (हिस्से) लेकर या ब्याज पर रुपये देकर जो

आमदनी करते हैं, वह अनुचित है। इतना ही नहीं किन्तु जिस व्यापार की आमदनी हमारी योग्यता और श्रम का फल नहीं किन्तु पूँजी का फल है, वह आमदनी भी अनुचित है। यह बात दूसरी है कि इस प्रथा का सर्वथा बहिष्कार करना अशक्य है, परन्तु है यह अन्याय अर्थात् पाप ही।

यह पाप यहाँ जाकर ही नहीं अटकता परन्तु आगे चलकर यह बड़े बड़े अत्याचारों को जन्म देता है। उससे साम्राज्य नहीं किन्तु साम्राज्यवाद[::] रूपी एक भयंकर राक्षस पैदा होता है जिस

---

[::] लेनिन का मत है कि साम्राज्यवाद वह आर्थिक अवस्था है जो पूँजीवाद के विकास के समय पैदा होती है। उसकी पाँच विशेषताएँ या दोष हैं। (१) पूर्ण अधिकारों की स्थापना (२) कतिपय महाजनों का आधिपत्य (३) पूँजी का निर्यात (४) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक गुटों का निर्माण (५) आर्थिक दृष्टि से देशों का बटवारा। जब बहुत बड़ी पूँजी लगाकर कोई व्यापार किया जाता है तब उसके लिये बड़े क्षेत्र की आवश्यकता होती है परन्तु दूर के क्षेत्रों में दूसरे पूँजीपति अपना स्थान जमा बैठते हैं इसलिये इन लोगों में खूब प्रतियोगिता होने लगती है। इससे इनकी आर्थिक लूट बहुत कम हो जाती है। तब ये आपस में मिलकर एक गुट बना लेते हैं। जो व्यापारी इनके गुट में शामिल नहीं होना चाहता उसके विरुद्ध आर्थिक लड़ाई छेड़ दी जाती है, जिससे या तो वह इनके गुट में आजाता है अथवा मिट जाता है। इस प्रकार व्यापार के ऊपर अमुक गुट का

के दाँतों के नीचे करोड़ों मनुष्य पिस जाते हैं, पिसते रहते हैं। इतिहास के बहुत से पन्ने इसी प्रकार की काली कथाओं से भरे पड़े हैं। इसी के लिये उपनिवेशों की रचना होती है। उपनिवेश

---

पूर्णाधिपत्य स्थापित हो जाता है। किसी गाँव में एक ही दूकानदार हो तो वह किस प्रकार मनमानी लूट करेगा, इससे हम इस पूर्णधिकार की भयंकरता को समझ सकते हैं। ये गुट बड़ी भारी पूँजी और व्यापक क्षेत्र के कारण एक विशाल-काय दैत्य सरीखे होते हैं। इस प्रकार के दो गुटों में जब भिड़न्त होती है तब परिस्थिति विकट हो जाती है और कभी कभी तो दो राष्ट्रों के बीच में युद्ध छिड़ जाता है। इन गुटों में बल तो पूँजी का रहता है, इसलिये महाजनों का आधिपत्य हो जाता है। महाजनों के पास जब इतना रुपया इकट्ठा हो जाता है कि उनके बैंक अच्छा व्याज पैदा नहीं कर पाते तब बैंकों का रुपया व्यापार में लगा दिया जाता है। इस प्रकार देश के व्यापार पर बैंकों का अर्थात् बैंकों के मालिकों-श्रीमानोंका राज्य हो जाता है। देश के भीतर व्यापार मुख्य वस्तु होने से ये लोग उस देश के वास्तविक शासक हो जाते हैं। जब धन, धन को पैदा करने लगता है तब पूँजी-वाद का चक्र एक देश के भीतर ही सीमित नहीं रहता किन्तु पूँजी बाहर भेजी जाने लगती है, क्योंकि देश में काफ़ी पूँजी लग जाने से और अधिक पूँजी लगाने की गुंजायश नहीं रहती तब पूँजीपति लोग विदेशों में पूँजी भेजने लगते हैं और इस प्रकार व्याज की अपेक्षा कई गुणी आमदनी करते हैं। जिन देशों

पहिले भी होते थे; परन्तु उपनिवेश स्थापना के पहिले ध्येय और अब के ध्येय में जमीन आसमान का अन्तर है । पहिले तो लोग जीवन निर्वाह के लिये बस जाते थे, परन्तु अब तो पूँजी लगाकर पैसा पैदा करने के लिये उपनिवेश बनाये जाते हैं । इसके लिये

---

में यह पूँजी लगाई जाती है उनके पास अधिक पूँजी होती नहीं है इसलिये नफ़ा के बदले वहाँ प्राकृतिक और आवश्यक वस्तुएँ पूँजीपति देशों के पास पहुँचती हैं । यह एक तरह की सभ्य डकैती है । इस प्रकार पूँजी का प्रभाव क्षेत्र जब राष्ट्र के बाहर भी हो जाता है, तब प्रतियोगितासे बचने लिये जिस प्रकार राष्ट्र के भीतर आर्थिक गुट बनाये जाते थे उसी प्रकार राष्ट्र के बाहर भी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक गुट बनाये जाने लगते हैं । और इसके बाद अमुक गुट अमुक देश को लूटे और अमुक अमुक को, इस प्रकार संसार के देशों का बटवारा कर लिया जाता है । इस बटवारे के लिये भयंकर युद्ध तक किये जाते हैं । जो देश या जो व्यापारी लोहे के कारखानों में या बारूद आदि विस्फोटक पदार्थों के कारखानों में पूँजी लगाते हैं वे इस बात की चेष्टा करते हैं कि किसी प्रकार युद्ध हो । धनिक होने के कारण इनका प्रभाव बहुत होता है, प्रचार करने के साधन भी इन के पास बहुत अधिक होते हैं इसलिये ये लोग देशभक्ति आदि के नाम पर जनता को उत्तेजित कर लड़ा देते हैं । लोग बुरी मौत मरते हैं किन्तु इनका व्यापार चमकता है ।

दूसरी प्रजाओं को पशुओं की मौत* मरना पड़ता है। संसार के सभ्य से सभ्य और शान्तिप्रिय देश पराधीन बनाये जाते हैं! और

---

* कांगो ( आफ्रिका ) जब बेलजियम का उपनिवेश बनाया गया तब वहाँ की चीज़ों के संग्रह के लिये मूल-निवासियों के साथ सख्ती की जाने लगी। अनेक प्रकार की सख्ती पर भी जब वे लोग माल नहीं लाते थे तो उनसे रबर और हाथी दाँत के रूप में टैक्स लिया जाने लगा और जब तक वे रबर या हाथी दाँत नहीं लाते थे तब तक उनकी औरतें पकड़ कर रखी जाती थीं। इसके लिये गाँवों पर सैनिकों का पहरा बैठा दिया जाता था। दिन दिन भर बेगार कराई जाती थी। रबर की माँग इतनी अधिक की जाती थी कि मूलनिवासियों को खेती करने की फुरसत भी न मिलती थी। इससे दुर्भिक्ष फैलता था, लोग भूखों मरने लगते थे, बच्चों की मृत्यु संख्या असाधारण रूप में बढ़ जाती थी, आदमियों को देश छोड़ कर भाग जाना पड़ता था। कभी कुछ लोग उपद्रव भी कर बैठते थे तो उपद्रव दबाने के बहाने हजारों आदमियों को फाँसी दी जाती थी, अथवा कोई कठोर दण्ड दिया जाता था। इसी प्रकार पूर्व आफ्रिका में जब अच्छी ज़मीन जर्मन पूँजीपतियों को मिली तो उनने जबर्दस्ती मूल निवासियों से मज़दूरी कराना शुरू किया। इससे तंग होकर उनने उपद्रव कर दिया जिससे उनका बड़ी क्रूरता से दमन किया गया। सन् १८९८ में केनिया की सारी ज़मीन ब्रिटिश सरकारने छीन ली, और यूरोपियनों को बाँट दी। मूल निवासियों

पैसा पैदा करने के लिये उनके व्यापार को नष्ट कर * दिया जाता है। वे दूसरों के साथ व्यापार न कर सकें इस प्रकार की

---

को ज़मीन रखने का हक़ ही न रहा; जिससे वे गोरे पूँजीपतियों की गुलामी करें। इतने पर भी जब उद्देश सिद्ध न हुआ तो इन पर मुंड कर लगा दिया, और जो मज़दूरी न करे उसपर दूना कर लगाया गया। इतने पर भी जब काम न चला तो मजूर ज़बर्दस्ती पकड़े जाने लगे, और अगर वे भाग जाते तो उन्हें जेल भेज दिया जाता। तब कैदी की हैसियत से उनसे मुफ्त में ही काम लिया जाता। इससे दुःखी होकर जब उनने उपद्रव किया तो क्रूरता से दबाया गया। नेताओं को गोली मार दी गई या क़ैद कर लिया गया। भीड़ पर गोलियाँ चला कर अनेक स्त्रियों को भी सदा के लिये सुला दिया गया। ये तो थोड़े से नमूने हैं, परन्तु इस प्रकार के अत्याचार असंख्य हैं। आफ्रिका के अत्याचार असंख्य हैं। आफ्रिका के हब्सियों की गुलामी प्रथा के अत्याचार सुननेवालों के रोंगटे खड़े कर देते हैं। अमेरिका में रेडइंडियनों का पशुओं की तरह शिकार किया गया था। रेडइं-डियनों की सभ्यता यूरोपियनों से कुछ कम नहीं थी। उन के गाँव के गाँव नष्ट किये जाते थे। मतलब यह कि इन उपनिवेशों का जन्म लाखों निर्दोष और पवित्र आदमियों के रक्तप्रवाह में हुआ है।

* ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत के कारीगरों पर जो अत्या-चार किये हैं और विविध उपायों से भारत के व्यापार को जिस

शर्तें उन पर लादी * जाती हैं। पूँजीपति लोग कर्ज़ देकर शासक राजाओं को गुलाम ‡ बनाते हैं और व्यापार के लिये राज्य तक हड़पे ♂ जाते हैं।

---

तरह नष्ट किया है, उसका पुराण भी बहुत लम्बा और भयंकर है।

* ईस्ट इंडिया कम्पनी ने बंगाल के जुलाहों पर ऐसा ही अत्याचार किया था। बेलजियम की सरकार ने कांगो के मूल निवासियों पर भी ऐसा अत्याचार किया था, जिससे वे सरकारी एजेन्टों के सिवाय और किसी के हाथ कोई चीज़ नहीं बेच सकते थे।

‡ उत्तरी आफ्रिका के मुसलिम राज्य १९ वीं शताब्दी में कमज़ोर थे। यूरोपीय राष्ट्र उन्हें चकमा देकर ऋण देते थे, इस प्रकार वे और ऐयाश हो जाते थे। इससे आर्थिक अवस्था और ख़राब हो जाती थी; तब वे लोग और ऋण देते थे, जिसे चुकाने के लिये वह प्रजा पर अधिक कर लगाता था जिससे बलवा हो जाता था, जिसको दबाने के लिये वह और ऋण लेता। इस प्रकार जब ऋण न चुकने लायक हो जाता तब ये लोग राजा को अपने संरक्षण में ले लेते और अपने व्यापार के प्रसार के लिये मनमाना अन्याय करते। अगर वह या उसकी प्रजा कुछ चीं-चपड़ करती तो वह दबा दी जाती और राज्य पर पूर्णाधिकार कर लिया जाता। इस विषय की चालबाज़ियों का काला पुराण भी बहुत लम्बा है।

♂ भारत इसी तरह हड़पा गया। कोरिया, मंचूकुओ, जापान ने हड़प लिये। आस्ट्रेलिया, अमेरिका और आफ्रिका की

परिग्रह पाप—जिसको दुनियाँ ने अभी तक एक स्वर से पाप नहीं माना है—कितना दुःखप्रद है, यह बात साम्राज्यवाद के इतिहास से अच्छी तरह जानी जा सकती है। साम्राज्य और श्रीमान होना बुरा नहीं है, किन्तु साम्राज्यवाद और पूँजीवाद बुरा है। वास्तव में यही परिग्रह है। अगर आज दुनियाँ भर के देशों का एक साम्राज्य बना दिया जावे जिससे एक राज्य दूसरे से न लड़ सके अर्थात् युद्ध एक ग़ैरक़ानूनी चीज़ ठहर जाय, तो यह साम्राज्य बुरा नहीं है; परन्तु साम्राज्यवाद का यह लक्ष्य नहीं होता। इससे तो निर्बल ग़रीब और भोले मनुष्य, बदमाश और सबलों से पीसे जाते हैं। इसी प्रकार श्रीमान और पूँजीवाद में अन्तर है। जहाँ धन से धन पैदा न किया जाता हो वहाँ श्रीमत्ता है, पूँजीवाद नहीं। पूँजीवाद क्या है, उसका भयंकर रूप ऊपर बता दिया गया है।

यह न समझना चाहिये कि बड़े बड़े श्रीमान ही पूँजीवादी होते हैं। सम्भव है कि श्रीमान भी पूँजीवादी न हो और मध्यम तथा और भी नीची श्रेणी के मनुष्य भी पूँजीवादी हों; क्योंकि जब साधारण गृहस्थ भी श्रीमान बनना चाहता है तब वह पुराने श्रीमान से भी भयंकर हो जाता है। वह अपनी छोटी-सी पूँजी से भी अधिक से अधिक धन पैदा करता है, तथा बहुसंख्यक* होने से

---

भी यही दशा हुई। वहाँ के मूलनिवासियों का तो अस्तित्व भी नहीं के बराबर हो गया है।

* फ्रान्स के जिन किसानों और मज़दूरों ने मोरक्को की

इनके पाप का प्रतिकार भी कठिन होता है।

धन में जो धन को पैदा करने की शक्ति है, वह कभी नष्ट हो सकेगी या नहीं—यह कहना कठिन है; परन्तु परस्पर सहयोग के जिस तत्व पर समाज की रचना हुई है, उसके यह विपरीत है इसीलिये यह पाप है। यह बात दूसरी है कि अधिकांश लोग इसे पाप नहीं समझते, परन्तु इससे तो सिर्फ़ यही सिद्ध होता है कि समाज में अभी बहुत-सी जड़ता बाकी है। बहुत-सी जङ्गली जातियाँ ऐसी है जिनमें किसी मनुष्य को मार डालना और खा जाना बहुत साधारण बात है, वे इसे पाप नहीं समझतीं। हमारे पूर्वज भी किसी समय हिंसा को पाप नहीं समझते थे। धीरे धीरे उनमें से कुछ विचारशील लोगों ने हिंसा को पाप समझा, परन्तु उनकी समझ को अपनाने में समाज ने शताब्दियाँ नहीं, सहस्राब्दियाँ लगाई हैं। परिग्रह के पाप को पापरूप में घोषित कर देने पर भी इसको अभी समाज ने नहीं अपना पाया है; परन्तु एक न एक दिन वह इसे भी अपना लेगी।

हिंसा आदि को पापरूप में स्वीकार कर लेने पर भी हिंसा

---

सरकार को ऋण देने के लिये ऋणपत्र [ बौंड ] खरीदे थे, वे सब यही चाहते थे कि जैसे बने वैसे फ्रांस की सरकार मोरक्को पर अपना प्रभाव कायम रक्खे; इसलिये वे फ्रान्स की सरकार के अत्याचारों का भी समर्थन करते थे। अगर किसी एक ही श्रीमान ने यह ऋण दिया होता तो अधिकांश किसानों और मज़दूरों की सहानुभूति मोरक्को की तरफ़ होती।

दुनियाँ से उठ नहीं गई है, इससे सिर्फ़ अहिंसा को नैतिक-बल तथा समाज का पीठ-बल मिला है। इसी प्रकार परिग्रह-पाप भी नष्ट न होगा; किन्तु अपरिग्रह-व्रत को नैतिक-बल तथा समाज का पीठ-बल मिल जायगा,—यही क्या कम है?

**अपरिग्रह के अपवाद**—व्यवहार में तो लोगों ने अभी तक परिग्रह को पाप समझना नहीं सीखा है, परन्तु जब उनसे चर्चा करने बैठो तब वे 'बाल की खाल' निकालते हैं। उनकी दृष्टि में साधारण कपड़े पहिननेवाला या लँगोटी लगानेवाला, चलने के सुभीते के लिये एकाध लकड़ी रखनेवाला या दो चार पैसे रखने वाला भी परिग्रही है, अर्थात् उनकी दृष्टि में प्रत्येक वस्तु परिग्रह ही है। यद्यपि जुदे जुदे सम्प्रदायों ने जुदे जुदे उपकरणों को अपवादरूप स्वीकार किया है; किन्तु उनके वे नियम विशेष विशेष साधु-संस्था से सम्बन्ध रखते हैं, परन्तु मुझे तो यहाँ यह विचार करना है कि संयम की दृष्टि से इसके अपवाद क्या हैं? अपरिग्रही कितनी और कौन कौन चीज़ें रख सकता है?

१—जीवन-निर्वाह के लिये जो चीज़ें अनिवार्य हैं उन्हें परिग्रह नहीं कहते। जैसे, कोई आदमी रोटी आदि खाद्य सामग्री को रखता है तो वह परिग्रही नहीं कहलाता। अपरिग्रह-व्रत का पालन करनेवाला इसीलिये भिक्षा आदि से अगर अन्न लावे तो उसे परिग्रही नहीं कहेंगे।

**शंका**—एक आदमी किसी के यहाँ भोजन कर आवे यह तो ठीक है, परन्तु अगर वह किसी पात्र में भिक्षा-वस्तु लेकर रक्खेगा तब तो परिग्रही कहलायगा।

**समाधान**---किसी के यहाँ भोजन करना या अनेक घरों से भिक्षा माँगकर एक जगह भोजन करना अपरिग्रह की दृष्टि से एक ही बात है।

**शंका**---अपने स्थान पर भिक्षान्न लानेवाला कुछ समय के लिये धान्य का परिग्रह करता है; इसलिये वह परिग्रही ही है। अगर उसे परिग्रही न कहा जाय तो कोई जीवन भर के लिये धान्य का संग्रह करे तो उसे भी परिग्रही न कह सकेंगे---इसलिये कुछ न कुछ मर्यादा तो बाँधना ही पड़ेगी। कोई मर्यादा बाँधी जाय तो उसका कोई कारण तो बतलाना पड़ेगा, और ऐसा कोई कारण है नहीं जिससे यह कहा जाय कि अमुक समय तक संग्रह करना चाहिये और बाद में नहीं।

**समाधान**-अपने पास रखने से ही कोई परिग्रही नहीं होता अपने पास रखने पर भी अगर स्वामित्व की वासना न हो तो वह परिग्रही नहीं कहलाता। दूसरी बात यह कि जो चीज़ हम ग्रहण करें वह हमारे वास्तविक अधिकार के बाहर की न होना चाहिये। पहिले परिग्रह का विवेचन करते समय यह बताया गया है कि परिग्रह क्यों पाप है ? जिस संग्रह में परिग्रह का वह लक्षण नहीं जाता वह परिग्रह नहीं कहला सकता। समय की मर्यादा भी यहाँ आवश्यक नहीं है। वह तो देशकाल के अनुसार बाँधी जा सकती है। भिक्षा या परिश्रम के द्वारा प्रतिदिन भोजन मिलने की सुविधा हो तो दूसरे दिन के लिये संग्रह न करे, अन्यथा कई दिन के लिये भी संग्रह किया जा सकता है। प्रवास आदि में भी कई दिन के लिये संग्रह किया जा सकता है। हाँ, इस बात का विचार

अवश्य रखना चाहिये कि यह संग्रह दूसरों के अधिकारों में बाधा न डाले। उदाहरणार्थ दुर्भिक्ष आदि के समय कोई वर्षों का भोजन सामग्री का संग्रह कर ले—तो यह परिग्रह ही है। समाज के पास कौनसी चीज़ कितनी है और उसमें मेरा क्या हिस्सा है, इसके अनुसार संग्रह किया जा सकता है, उसमें काल की मर्यादा नहीं बाँधी जा सकती, अथवा देशकाल के अनुसार अस्थायी मर्यादा बाँधी जा सकती है।

**शंका**—जैनियों का एक सम्प्रदाय तो यह कहता है कि अपने स्थान पर भी भिक्षा न लाना चाहिये और दूसरा यह कहता है कि दूसरे दिन के लिये न रखना चाहिये; परन्तु आप काल की मर्यादा भी नहीं बाँधते, यह क्या बात है ?

**समाधान**—जैनियों के दोनों सम्प्रदायों में जो मुनियों के नियम हैं, वे एक मुनि-संस्था के नियम हैं। जुदी जुदी संस्थाओं के नियम जुदे जुदे होते हैं और वे देशकाल के अनुसार बदलते रहते हैं। मुनि-संस्था रखना चाहिये कि नहीं ? और रखना चाहिये तो उसके नियम कैसे हों ? पुराने नियम कितना परिवर्तन माँगते हैं ? आदि बातों पर तो आगे विचार किया जायगा। यहाँ तो अपरिग्रह-व्रत का विचार किया जाता है। मुनि-संस्था में तो उन नियमों की भी आवश्यकता हो सकती है, जो अपरिग्रह-व्रत में शामिल नहीं किये जा सकते किन्तु एक वर्ग से उसका पालन कराने लिये समयानुसार बनाये गये हैं। संस्था बात जुदी है और संयम जुदी। संयम तो संस्था के बाहर रहकर गृहस्थ वेष में भी पालन किया

जा सकता है और मुनि-संस्था में भी किसी संयम को शिथिल बनाया जा सकता है। यहाँ तो संयम का विचार किया गया है।

२–जीवन-निर्वाह के लिये अन्नादि जिन साधनों की अनिवार्य आवश्यकता है उसको प्राप्त करने के लिये जो न्यायोचित साधन हों, उनका संग्रह भी परिग्रह-पाप नहीं है। उदाहरणार्थ, खेती करने के लिये जिन ओज़ारों की आवश्यकता है–उनका रखना परिग्रह नहीं है।

**शंका**–इसे आप अल्प परिग्रह कह सकते हैं परन्तु बिलकुल परिग्रह ही न मानें यह कैसे हो सकता है? ऐसा मानने से तो एक मुनि भी खेती करने लगेगा? तब गृहस्थ और मुनि में अन्तर क्या रह जायगा?

**समाधान**–गृहि-संस्था और मुनि-संस्था का भेद अगर नष्ट भी हो जाय तो भी गृहस्थ और मुनि का भेद रहनेवाला है। जिस के कार्य विश्वप्रेम को लक्ष्य में रखकर होते हैं वह मुनि है, और जिसके कार्य परिमित स्वार्थ को लक्ष्य में लेकर होते हैं वह श्रावक है। जिस जमाने में कृषि आदि कार्य करनेवालों की कमी नहीं होती और निःस्वार्थ सेवकों की आजीविका आदि का प्रबन्ध करने के लिये समाज विनयपूर्वक तैयारी बताती है, उस समय साधुओं को निराकुलता के साथ समाजसेवा का मौका देने के लिये कृषि आदि की मनाही कर दी जाती है। परन्तु अगर परिस्थिति बदल जाय, साधु-संस्था समाज के लिये बोझ हो जाय अथवा समाज साधुओं को कुपथ में खींचना चाहे, रूढ़ियों और परम्परागत

अन्यायों का समर्थन कराना चाहे अथवा वातावरण ऐसा हो या राज्य के क़ानून ऐसे हों जिससे अपनी आजीविका स्वयं चलाने की आवश्यकता हो तो मुनि खेती भी कर सकता है और उसके योग्य उपकरण भी रख सकता है, वह रहने के लिये कुटी भी बना सकता है। दि० जैन सम्प्रदाय में द्राविड़ संघ ऐसा हुआ है जो खेती और व्यापार से अपनी आजीविका चलाना मुनित्व के बाहर नहीं समझता था। साम्प्रदायिक कट्टरता के कारण यद्यपि उसे पापी कह दिया गया है; परन्तु इस प्रकार की गालियाँ तो अच्छे से अच्छे व्यक्ति को भी दी गई हैं। इतने पर भी द्राविड़ संघ के अनुयायियों की संख्या कम नहीं रही, वह एक विशाल संघ हुआ है। आचार तथा आचार सम्बन्धी विचारों में उसने अनेक सुधार* किये थे; इसलिये जैन मुनि निर्लिप्तता के साथ कृषि आदि कार्य करें, इसमें आश्चर्यजनकता और अनुचितता बिलकुल नहीं है।

**शंका**—मुनित्व और श्रावकत्व का भेद भावों पर है यह ठीक, परन्तु निष्परिग्रहता और अल्प परिग्रहता का कोई बाहिरी रूप भी तो बतलाना चाहिये। बाह्यपरिग्रह की दृष्टि से एक मुनि कैसा होगा? और एक गृहस्थ से उसमें क्या अन्तर होगा?

**उत्तर**—मुनि और गृहस्थ का बाह्य अन्तर सदा के लिये नहीं बताया जा सकता; परन्तु जो आजकल की परिस्थिति के

---

* बीएसु णत्थि जीवो उब्भसणं णत्थि फासुगं अत्थि। सावज्जं णहु मण्णइ ण गणइ जिह कप्पियं अट्ठं। २६। कच्छं खेत्तं वसहिं वाणिज्जं कारिऊन जीवंतो। ण्हंतो सीयलणीरे पाव पउरं स संवेदि। २७। दर्शनसार।

अनुकूल हो वह बताया जा सकता है कि एक मुनि आवश्यकता-नुसार सम्पत्ति रक्खेगा, परन्तु उस सम्पत्ति का उत्तराधिकारित्व वह समाज को देगा, वह सन्तान को या सन्तान के स्थानापन्न किसी व्यक्ति को नहीं। इसके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार ही सम्पत्ति रक्खेगा, महत्ता बतलाने के लिये नहीं। इन दो बातों की रक्षा करता हुआ वह खेती करे या और कुछ, उसके मुनित्व में बाधा नहीं आ सकती अर्थात् वह परिग्रह का दोषी नहीं कहला सकता।

३—'देश की सम्पति में अपना जितना हिस्सा हो सकता है उससे अधिक ग्रहण करना परिग्रह है, इसमें इस बात का खयाल रखना चाहिये कि अगर समाज सेवा के लिये उपकरण रखना हों तो वे परिग्रह नहीं हैं। जैसे, एक विद्वान ज्ञान बढ़ाकर समाज का कल्याण करना चाहता है, इसके लिये उसे पुस्तकालय की आवश्यकता है तो वह परिग्रह नहीं है। हाँ, अगर वह काम कुछ नहीं करता या बहुत थोड़ा करता है, किन्तु सिर्फ़ महत्ता बतलाने के लिये पुस्तकों का ढेर एकत्रित करके रखता है, कोई असुविधा या हानि न होने पर भी उनका उपयोग दूसरों को नहीं करने देता तो वह परिग्रही है। उन पुस्तकों को अपनी सम्पत्ति समझता है तो परिग्रही है। जो बात यहाँ ज्ञानोपकरण के विषय में कही गई है वही बात और भी अनेक तरह की सेवा के उपकरणों के लिये लागू है। इतना ही नहीं किन्तु सेवा करने के लिये शरीर के लिये कुछ सुविधा देने की आवश्यकता हो तो वह भी परिग्रह नहीं है। उदाहरणार्थ अधिक परिश्रम के कारण औषध

वगैरह का सेवन करना पड़े या वाहन आदि का उपयोग करना पड़े तो वह सब परिग्रह नहीं है।

**शंका**—यदि अपवाद का क्षेत्र इतना विस्तृत कर दिया जायगा तब इसकी ओट में ऐयाशी का राज्य जम जायगा। मामूली नाममात्र की सेवा करनेवाले भी स्वास्थ्य की दुहाई देकर पहिले दर्जे में ही रेल-यात्रा करेंगे, दो-दो चार-चार रुपयों के फल उड़ायँगे, मोटर में सैर करेंगे और फिर भी कहेंगे कि हम अपरिग्रही हैं! क्या यह ठीक होगा?

**समाधान**—नियमों और उनके अपवादों का दुरुपयोग सदा से होता आया है और आज भी होता है, भविष्य में भी होगा, परन्तु इसीलिये अपवादों का विचार न किया जाय यह नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा करने से वास्तविक अपरिग्रहता रखते हुए भी उसके बाह्य रूप को न रख सकने के कारण अपरिग्रही की समाज-सेवक वृत्तियाँ व्यर्थ जाती हैं। हाँ, उपर्युक्त दुरुपयोगों को हम पहिचान सकें, इसके लिये कुछ विचार अवश्य ध्यान में रखना चाहिये। उदाहरणार्थ, अगर कोई समाज-सेवक पहिले दर्जे में रेल-यात्रा करता है तो हमें निम्नलिखित बातों पर विचार करना चाहिये :—

क्या उसके स्वास्थ्य के लिये यह आवश्यक है कि वह अगर पहिले दर्जे में रेलयात्रा न करेगा तो उसका स्वास्थ्य इतना खराब हो जायगा कि उससे सेवा-कार्य में क्षति पहुँचेगी? या उसका जीवन जोखिम में पड़ जायगा? क्या उसकी सेवा इतनी बहुमूल्य है? क्या समाज के लिये उसके व्यक्तित्व की प्रभावना

करना इतना आवश्यक है ? क्या समाज विना किसी कष्ट के इतनी सुविधा देने को तैयार है ? सेवक व्यक्ति इसके लिये सीधी या टेढ़ी रीति से किसी को विवश तो नहीं कर रहा है ? अहंकार से तो वह ऐसा नहीं कर रहा है ? इसी प्रकार के प्रश्न अन्य दुरुपयोगों के विषय में भी करना चाहिये । इन प्रश्नों के उत्तर से वास्तविकता का पता लग जायगा ।

नीति तो सिर्फ़ मार्ग बतला सकती है । उसका ठीक पालन करना हमारी शुद्ध बुद्धि पर निर्भर है ।

४— आत्म-रक्षा के लिये लकड़ी आदि के रखने की आवश्यकता हो तो वह भी परिग्रह नहीं है । मार्ग आदि चलने में लकड़ी आदि से बहुत सहायता मिलती है, इसलिये अगर कोई लकड़ी रखेगा तो वह परिग्रह न कहलायगी । हाँ, अगर वह उस से हिंसा करेगा तो अवश्य परिग्रह हो जायगी, क्योंकि अब उसका लक्ष्य आत्म-रक्षा न रहा ।

**प्रश्न**—पशुओं वगैरह से आत्म-रक्षा करने के लिये लकड़ी रखना परिग्रह है या नहीं ? अथवा अगर वह आत्म-रक्षा के लिये लकड़ी का प्रयोग करे, पशु को कदाचित मार भी दे तो फिर उसे परिग्रह कहेंगे या नहीं ?

**उत्तर**—यह प्रश्न हिंसा—अहिंसा से सम्बन्ध रखता है । प्रत्येक वाह्य हिंसा को हम हिंसा नहीं कह सकते, इस बात का विचार करके ही हम उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर दे सकते हैं । मनुष्य के समान पशुओं के भी आत्मा है इसलिये उन्हें नहीं सताना चाहिये, परन्तु वे अपनी भाषा नहीं समझते इसलिये लकड़ी

वगैरह का संकेत करके उन्हें रोका जाय तो यह हिंसा नहीं है। जैसे—पशु-पालन में ऐसे अनेक अवसर आते हैं, परन्तु इसीलिये पशु-पालक हिंसक नहीं कहला सकता। उसी प्रकार आत्म-रक्षा आदि के काम में भी समझना चाहिये।

५—समाज-सेवा के लिये समाजाश्रित न रहना पड़े, इसके लिये धन-संग्रह करनेवाला परिग्रही नहीं है।

समाज-सेवा का कार्य बड़ा जटिल है। समाज के सुधार के लिए जब कुछ ऐसे विचारों की आवश्यकता होती है जो प्रचलित मान्यता के विरुद्ध जाते हैं तब उनका प्रचार करना मुश्किल होता है। उस समय यदि कोई भी मनुष्य किसी भी तरह से समाजाश्रित हो तो उसका टिकना अत्यन्त कठिन हो जाता है। वह समाज को सत्पथ दिखला ही नहीं सकता। समाज, सुधारकों की पीठ पर तो मुक्के लगाती ही है; परन्तु पेट पर भी मुक्के लगाती है। इससे सिर्फ़ सुधारक का जीवन दुःखपूर्ण ही नहीं होता और उसकी बहुत-सी शक्ति बर्बाद ही नहीं जाती; किन्तु इससे सुधार का कार्य असफल या अत्यल्प सफल हो जाता है। इसके लिये अगर वह वैध उपायों से अर्थ-संग्रह करे तो भी वह परिग्रही नहीं कहला सकता। हां, उसे आवश्यकतानुसार ही सम्पत्ति का उपयोग करना चाहिये और उसका उत्तराधिकारित्व समाज को ही देना चाहिये।

शंका—समाज से मांगकर अगर कोई इसी बहाने से धन का संचय करे तो आप उसे परिग्रही कहेंगे या अपरिग्रही?

समाधान—समाज से पैसा लेकर अपने लिये या अपने नाम पर संग्रह करनेवाला व्यक्ति परिग्रही ही नहीं, विश्वासघाती भी

है। साधारणतः समाज से धन जिस लिये मांगा गया है उसी काम में लगाना चाहिये, विशेष अवस्था में अन्य किसी समाजोपयोगी कार्य में लगाया जा सकता है; परन्तु एक क्षण भर के लिये भी उस पर अपना स्वत्व स्थापित नहीं करना चाहिये। ऊपर जो अपवाद बतलाया है वह तो सिर्फ़ उस संचय के लिये है जो अपने परिश्रम आदि के बदले में वैध उपायों से प्राप्त किया गया है।

सब अपवाद गिनाये नहीं जा सकते और न सब अपवादों के दुरुपयोगों से बचाने के लिये उपाय गिनाये जा सकते हैं। हां, उसकी कुंजी बतलाई जा सकती है, या कसौटी दी जा सकती है। परिग्रह क्यों दुःखप्रद है, इसका वर्णन पहिले किया गया है। उस को समझ लेने से अपरिग्रह के अपवाद समझे जा सकते हैं, और अगर कोई उसका दुरुपयोग करे तो उसकी दुरुपयोगता भी ध्यान में आ सकती है।

**प्रश्न**—अभी तक जो आपने अपरिग्रह का वर्णन लिखा लिखा है वह सिर्फ़ पुरुष समाज के विषय में ही मालूम होता है परन्तु स्त्रियों के हाथ में तो साम्पत्तिक अधिकार ही नहीं है। वे न तो परिग्रह का पाप ही कर सकती हैं, न अपरिग्रह व्रत ही रख सकती हैं। उनके लिये इस व्रत का क्या रूप है?

**उत्तर**—अभी तक अपरिग्रह के विषय में जो कुछ कहा गया है वह जैसा पुरुषों लिये लागू है वैसा स्त्रियों के लिये भी। यह दूसरी बात है कि किसी स्त्री के हाथ में सम्पत्ति न हो, परन्तु अभी बहुत-सी स्त्रियों के हाथ में सम्पत्ति होती है। स्त्रियाँ व्यापार भी करती हैं, नौकरी भी करती हैं। कुटुम्ब में दूसरा न होने से

सारा उत्तराधिकारित्व भी उन्हें मिलता है। यूरोप, खासकर रूस में तो स्त्रियों का साम्पत्तिक अधिकार और भी अधिक है। बर्मा में व्यापारादि कार्य में स्त्रियाँ अधिकतर भाग लेती हैं, इसलिये परिग्रह और अपरिग्रह की चर्चा जैसी पुरुषों के लिये है वैसी ही स्त्रियों के लिये भी है। साधारणतः इस प्रकार इस प्रश्न का उत्तर दे देने पर भी इस प्रश्न का एक विचारणीय अंश पड़ा ही रह जाता है। उस पर विचार करना चाहिये। जो लोग गुलाम हैं, वे इस व्रत का पालन कैसे करें? अनेक स्त्रियाँ कहलाने को तो सेठानी कहलाती हैं, परन्तु सम्पत्ति पर उनका वास्तविक अधिकार बिलकुल नहीं रहता। वे इस व्रत का पालन कैसे करें?

इस प्रश्न के उत्तर के लिये हमें परिग्रह के या पाप के मूल स्वरूप पर विचार करना चाहिये। पाप केवल बाहिरी क्रिया का नाम नहीं है, किन्तु असली पाप अपने अभिप्राय पर निर्भर है। जहाँ आसक्ति है वहाँ परिग्रह है। एक स्त्री का अपने पति की सम्पत्ति में लोक प्रचलित क़ानून के अनुसार हक़ हो या न हो परन्तु वह उस सम्पत्ति में उतनी ही आसक्त होती है जितना कि उसका पति। बस, यही परिग्रह की भूमिका है। कुटुम्ब में दस आदमी हों और उनमें कोई एक मुखिया हो तो इसीलिये बाक़ी नौ आदमी परिग्रह के पाप से छूट नहीं जाते। स्त्रियाँ अपरिग्रह के लिये उसमें आसक्ति कम करें, दानादि देने में बाधक न बनें, इस तरह वे अपरिग्रह-व्रत का पालन कर सकती हैं।

जहाँ स्त्री-धन के रूप में स्त्रियों के पास सम्पत्ति रहती है वहाँ वे उसकी अपेक्षा से अपरिग्रह-व्रत का पालन कर सकती हैं।

दास और पशुओं के पास धन नहीं होता। वे अनासक्ति तथा भोगोपभोगों की परिमितता से इस व्रत का पालन कर सकते हैं। कदाचित् उनके हाथ में सम्पत्ति आवे तो वे अपनी अपरिग्रहता का परिचय दे सकते हैं।

**परिग्रह के चार भेद**—हिंसा, असत्य आदि के जैसे चार चार भेद पहिले किये गये हैं उसी प्रकार परिग्रह के भी चार भेद समझना चाहिये। यहाँ तो उनका नाममात्र वर्णन किया जाता है, बाकी विवेचन तो ऊपर किया ही जा चुका है।

**संकल्पी**—भोगों की लालसा से, अहंकार या मोह से अपने हिस्से से अधिक सम्पत्ति रखना संकल्पी-परिग्रह है।

कोई महात्मा या कर्मयोगी कारणवश अधिक सामग्री भी रक्खेगा परन्तु मौज उड़ाने के लिये नहीं, अपनी सन्तान के मोह से नहीं, बड़ा आदमी कहलाकर दूसरों के ऊपर धाक जमाने के लिये नहीं; किन्तु सिर्फ समाज-सेवा के लिये। इसलिये इसे सङ्कल्पी परिग्रह न कह सकेंगे।

**आरम्भी**—सेवा आदि कार्य के लिये या जीवन के निर्वाह के लिये जिन चीज़ों की आवश्यकता है उनका रखना आरम्भी परिग्रह है। जैसे पढ़ने के लिये पुस्तक (किसी के यहाँ पुस्तकों का व्यापार होता हो तो वह आरम्भी-परिग्रह न कहलायगा। यही बात सेवा के अन्य उपकरणों के विषय में भी समझना चाहिये) कुर्सी, पलंग आदि। परन्तु इनका अनावश्यक संग्रह किया जाय, या नाम मात्र की आवश्यकता से संग्रह किया जाय या सम्पत्ति मानकर इनका संग्रह किया जाय तो यह संकल्पी-परिग्रह हो जायगा।

उदाहरणार्थ, दूध पीने के लिये एक गाय रखना एक बात है परन्तु
इस आशय से कि अगर पचास गायें रखूँगा तो इस रूप में दो
चार हज़ार की सम्पत्ति हाथ में रहेगी, यह सङ्कल्पी-परिग्रह ही है।
परन्तु गौ-रक्षा की दृष्टि से रक्खीं जाँय तो यह संकल्पी-परिग्रह
नहीं है।

**उद्योगी** व्यापार आदि के उपकरणों को रखना उद्योगी
परिग्रह है। जैसे—आरम्भी-परिग्रह में मात्रा की अधिकता आदि से
संकल्पीपन आ जाता है, वैसा यहाँ भी आ जाता है। इसलिये
अपरिग्रही के लिये इसके मात्राधिक्य से बचना चाहिये।

**विरोधी**—अन्यायी और अत्याचारियों से आत्म-रक्षा करने के
लिये जो परिग्रह रक्खा जाता है—वह विरोधी-परिग्रह है। जैसे
चोरों से रक्षित रहने के लिये—द्वार, ताला, तिजोड़ी आदि; अथवा
शत्रुओं से रक्षित रहने के लिये तलवार बंदूक आदि। ये ही वस्तुएँ
अगर दूसरों पर आक्रमण करने के लिये रक्खी जाँय तो यहाँ
संकल्पी-परिग्रह कहलायगा।

इन चार प्रकार के परिग्रहों में संकल्पी-परिग्रह ही वास्तव में
परिग्रह है और वही पाप है। बाक़ी तीन परिग्रह तो तभी पाप
बन जाते हैं जब उनमें किसी तरह से संकल्पीपन आ जाता है।

चरित्र को पाँच भागों में विभक्त करके जो उसका वर्णन
किया गया है, वह सामान्य दृष्टि से है। उसमें पूर्ण—अपूर्ण का
विचार नहीं किया गया है, अथवा उसे पूर्ण-चरित्र का वर्णन
मानना चाहिये, और आगे बताई जाने-वाली कसौटियों से पूर्ण
अपूर्ण की कल्पना करना चाहिये।

चारित्र की पूर्णता और अपूर्णता का जैसा विचार आजकल किया जाता है या जैनशास्त्रों में किया गया है, वह एकदेशी है। आजकल गृहस्थ के व्रत को अणु-व्रत * और मुनि के व्रत को महाव्रत कहते हैं; परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से यह परिभाषा ठीक नहीं है; क्योंकि गृहस्थ और मुनि, ये तो दो संस्थाएँ हैं। कोई किसी भी संस्था में रहे, परन्तु इससे उसके व्रत अपूर्ण या पूर्ण नहीं कहे जा सकते हैं। मुनि-संस्था में रहने-वाला भी महाव्रती या अव्रती हो सकता है और गृहस्थ-संस्था में रहने-वाला भी महाव्रती और केवली हो सकता है। कूर्मापुत्र § केवलज्ञानी होने पर भी घर में रहे थे, इसके अतिरिक्त बहुत से मनुष्यों ने मुनि-संस्था में प्रविष्ट हुए बिना, मुनिवेष लिये बिना केवल-ज्ञान प्राप्त किया था। सम्राट् भरत ‡ ,इलापुत्र, आसाढ़भूति आदि इसके उदाहरण हैं। इससे यह बात स्पष्ट है कि जैन सिद्धान्त के अनुसार भी अणुव्रत और महाव्रत का सम्बन्ध गृहस्थ और सन्यास

---

* अणुव्रतोऽगारी। तत्त्वार्थ ७

§ भावेण कुम्मपुत्तो अवगयतत्तो य अगहिय चरित्तो।
गिहवासे वि वसंतो संपत्तो केवलं नाणं। कुम्मा० च० ७।

‡ भावेण भरह चक्की तारिसशुद्धन्तमज्झमल्लीणो।
आयंसघरनिविट्ठो गिही वि सो केवली जाओ ॥१४०॥
वंसग्गिसमारूढो मुनिपवरे के वि दट्ठु विहरंते।
गिहिवेस इलापुत्तो भावेणं केवली जाओ ॥१४१॥
आसाढभूइमुणिणो भरहेसरपिक्खणं कुणंतस्स।
उत्पन्नं गिहिणो वि हु भावेणं केवलं नाणं ॥१०२॥
—कुम्मापुत्त च०।

आश्रम से नहीं है। किसी भी आश्रम में मनुष्य अणुव्रती और महाव्रती हो सकता है। आवश्यकता होने पर मुनि-संस्था तोड़ी जा सकती है, परन्तु महाव्रती नष्ट नहीं किये जा सकते। सब लोग मुनि या संन्यासी होजायँ, यह बात किसी भी समाज के लिये असह्य है; क्योंकि इससे उस समाज का नाश हो जायगा परन्तु अगर सब लोग महाव्रती होजायँ तो यह मनुष्य-समाज का सुवर्ण-युग होगा।

अणुव्रत और महाव्रत की एक दूसरी परिभाषा भी जैन-शास्त्रों में प्रचलित है। उनने रागद्वेष आदि कषायों की वासना के ऊपर अणुव्रत और महाव्रत का विभाग रक्खा है। इस दृष्टि से चारित्र के चार भेद किये गये हैं:—(१) स्वरूपाचरण-चारित्र, (२) देश चारित्र, (३) सकल-चारित्र, (४) यथाख्यात-चारित्र।

चारित्र अर्थात् कर्त्तव्य के पालन में राग और द्वेष सबसे बड़ी बाधाएँ हैं। हमारे मुँह के ऊपर भले ही ये प्रकट न हों, परन्तु जब तक ये वासना के रूप में हृदय में बने रहते हैं, तब तक न तो हमें शुद्ध-ज्ञान प्राप्त होता है, न हम शुद्ध-चारित्र का पालन कर सकते हैं। कौन आदमी कितना अचारित्री है—इस बात को समझने के लिये हमें यह समझना चाहिये कि उसकी कषाय-वासना कितने अधिक समय तक स्थायी है। जितनी लम्बी कषाय-वासना, उतनी ही अधिक चारित्र-शून्यता।

इस परिभाषा के अनुसार जिस व्यक्ति में राग-द्वेष की वासना बिलकुल नहीं रहती, वह यथाख्यात-चारित्री कहा जाता है। यह

चारित्र का सर्वोत्तम स्थान है। जिसकी कषाय-वासना पन्द्रह दिन तक रहती है, वह सकल-चारित्री है। साधारणतः मुनियों के कम से कम यह चारित्र होना चाहिये। जिसकी कषाय-वासना चार मास तक ठहरती है, वह देश-चारित्री है। यह चारित्र साधारणतः गृहस्थों के माना जाता है और जिसकी कषाय-वासना एक वर्ष तक ठहरती है, इससे ज्यादा नहीं ठहरती, वह स्वरूपाचरण-चारित्री कहलाता है। यह चारों गतियों में हो सकता है। इस चारित्रवाले को सम्यग्दृष्टि भी कहते हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शन के साथ यह चारित्र अवश्य होता है। इससे भी अधिक जिसकी कषाय-वासना ठहरती है, वह मिथ्या-दृष्टि है। उसकी कषाय-वासना अनन्तानुबन्धी कहलाती है। उसके कोई चारित्र नहीं माना जाता है।

इन चार प्रकार के चारित्रों को नाश करनेवाली जो कषायें हैं, उनके चार नाम रक्खे गये हैं:—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन।

अनन्तानुबन्धी की वासना श्वेताम्बर§ मतानुसार जीवन भर रहती है और दिगम्बर‡ मतानुसार अनन्त या असंख्य या संख्य भवों तक। अप्रत्याख्यानावरण की वासना एक

§ जाजीव वरिस चउमास पक्खगा नरय तिरिय नर अमरा।
सम्माणुसव्व विरइ अहखाय चरित्तघायकरा॥
—कम्मविवाग १-१८।

‡ अंतोमुहुत्त पक्खं छम्मासं संखऽसंखणंतभवं।
संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण॥
—गोम्मटसार कर्मकाण्ड ४६।

वर्ष ( श्वेताम्बर ) अथवा छः मास ( दिगम्बर ), प्रत्याख्यानावरण की वासना चार मास ( श्वेताम्बर ) अथवा एक पक्ष ( दिगम्बर ) और संज्वलन की वासना एक पक्ष ( श्वेताम्बर ) अन्तुर्मुहूर्त अड़तालीस मिनट से कम ( दिगम्बर )।

कषायों की वासना से चारित्र-अचारित्र की परीक्षा करना कुछ अधिक युक्ति-सगंत है। मुनि-संस्था और गृहस्थ-संस्था में चरित्र को विभक्त करने की अपेक्षा इस प्रकार संस्कार काल में विभक्त करना अधिक उपयोगी है।

**प्रश्न**—गृहस्थ-जीवन में यह हमारा कर्तव्य है कि हम अपने कुटुम्बियों से सदा प्रेम करें। इस दृष्टि से प्रेम की वासना जीवन-भर स्थायी कहलायी और इससे प्रत्येक गृहस्थ मिथ्या-दृष्टि कहलाया। उसके स्वरूपाचरण चरित्र भी न रहा, इसलिये अगर वासना पर चारित्र अचारित्र का विचार किया जाय तो कोई भी गृहस्थ चारित्रधारी न बन सकेगा; अथवा उसे कुटुम्बियों से प्रेम करना छोड़ना पड़ेगा।

**उत्तर**—प्रेम को वासना समझना भूल है। वासना है मोह आसक्ति आदि; प्रेम तो निश्छल वृत्ति है। सामाजिक सुव्यवस्था के लिये हम जिन लोगों के साथ कर्तव्य में बँधे हुए हैं, उनके साथ निश्छल व्यवहार करना, हृदय से उनकी सेवा करना प्रेम है; यह कषाय नहीं है। हम अपनी पत्नी से प्रेम भी कर सकते हैं, मोह भी। प्रेम बुरा नहीं है। वह तो कर्तव्य-तत्पर बनाने-वाली मानसिक वृत्ति है। उसका अचारित्र से कोई सम्बन्ध नहीं है।

निर्लिप्त होकर कार्य करना चाहिए और मोह तो सम्बन्धियों का भी न होना चाहिए। सम्यग्दर्शन के प्रकरण में इस विषय पर बहुत विवेचन किया गया है। कषाय-वासना रहित होकर जीवन के सभी काम किये जा सकते हैं। जैन तीर्थङ्कर या केवली क्षण भर के लिए भी कषाय-वासना नहीं रखते; परन्तु धर्म-प्रचार आदि का काम दिन रात करते रहते हैं। वासना-रहित होने से मनुष्य कुछ भी काम न कर सकेगा, वह व्यवहार-शून्य हो जायगा अथवा इन कामों से वासना आ जायगी—आदि शंकाएँ ठीक नहीं।

इस अध्याय के प्रारम्भ में चारित्र की जो परिभाषा बतलाई गई है, उसी को कसौटी बनाकर पूर्णता अपूर्णता का विचार करना चाहिये। सुख के सच्चे प्रयत्न में जो बाधाएँ हैं उनको जितना हटाया जायगा चारित्र उतना ही उन्नत कहलायगा। ऊपर जो वासना का विवेचन किया गया है, वह भी सुख में बाधक है; इसलिये उसे जितना हटाया जायगा चारित्र उतना ही उन्नत कहलायगा।

इससे इतना तो मालूम होता है कि चारित्र की एक अखंड धारा है। उसमें कोई ऐसी सीमा नहीं है जो स्वभावतः चारित्र के विभाग करती हो। एक वर्ष से अधिक वासना रहने पर चारित्र का नाश मानना भी आपेक्षिक है; क्योंकि तेरह महीने तक वासना रखने-वाले और दो वर्ष तक वासना रखने-वाले में भी तरतमता है। दो वर्ष तक कषाय-वासना रखने वाले की अपेक्षा तेरह महीने तक कषाय वासना रखने-वाला चारित्रवान है। एक वर्ष और एक समय अधिक एक वर्ष में जितना अन्तर है उतना

अन्तर एक वर्ष के भीतर या बाहर सब कहीं पाया जा सकता है। इससे हम चारित्र की न्यूनाधिकता तो जान सकते हैं; परन्तु यह नहीं कह सकते कि अमुक समय तक की वासना में महाव्रत माना जाय और अमुक समय तक अणुव्रत।

अहिंसा के प्रकरण में यह बात कही जा चुकी है कि चारित्र अचारित्र का भेद अनासक्ति आसक्ति का भेद है। उस अपेक्षा से भी हम चारित्र और अचारित्र की दिशा को ही जान सकते हैं; परन्तु अणुव्रत महाव्रत का भेद नहीं कर सकते। क्योंकि आसक्ति की कितनी मात्रा को अणुव्रत माना जाय और उससे अधिक को अव्रत अथवा उससे कम को महाव्रत—इसकी कोई सीमा नहीं बनाई जा सकती।

चारित्र और अचारित्र के विषय में और भी दिशा सूचन किया जा सकता है। जैसे—जो न्याय के आगे सिर झुकादे वह चारित्रवान् है। चारित्र-हीन मनुष्य न्याय अन्यायकी पर्वाह नहीं करता। वह पशुबल से डरता है, न्याय बलसे नहीं। अगर अंकुश छूट जाय तो वह अन्याय पर उतारू हो जायगा।

चारित्र और अचारित्रकी यह कसौटी भी बहुत सुन्दर है, परन्तु देश चारित्र और सकल चारित्रकी सीमा बनाना इसमें भी बहुत मुश्किल है। क्योंकि छोटेसे छोटे न्यायके आगे पूर्ण रूपसे सिर झुका देने वाला सकल चारित्र है और बड़ेसे बड़े न्याय के आगे ज़रा भी न झुकने वाला चारित्र हीन है। इसके बीच में ऐसी सीमा बाँधना अशक्य है, जिसे देश चारित्र कह सकें।

और भी कोई चारित्र की कसौटी कही जाय परन्तु उससे सिर्फ चारित्र अचारित्र का निर्णय होगा; परन्तु चारित्रके बीच में कोई रेखा न होगी, जिसके एक तरफ को महाव्रत कहा जाय।

हाँ ! व्यवहार चलाने के लिये अगर हम उनमें सीमा बाँधना चाहें तो अवश्यही सीमा की कल्पना कर सकते हैं। जैसे पहिले स्वरूपाचरण आदि चारित्र के चार भेद किये गये थे और उनको वासना काल में विभक्त किया गया था, उस प्रकार के व्यवहारोपयोगी भेद बनाये जा सकते हैं।

परन्तु ऐसे भेद गृहस्थाश्रम और सन्यासाश्रम आदि के साथ जोड़े नहीं जा सकते। गृहस्थ भी एक पक्षसे अधिक वासना न रक्खे, यह हो सकता है; और मुनि भी अधिक वासना रक्खे, यह भी हो सकता है। ये आश्रम के भेद तो सामाजिक तथा व्यक्तिगत सुविधाओं के लिये बनाये जाते हैं; इनका चारित्र अचारित्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। हाँ यह बात अवश्य है कि जिसने सन्यास लिया है, उसे चारित्रवान् अवश्य होना चाहिये। अन्यथा उसे सन्यास लेने का-मुनि बनने का कोई अधिकार नहीं है, वह तो समाज के लिये भार है।

आत्म विकास की चरम सीमा तक दोनों पहुँच सकते हैं। इसलिये इस सीमा पर पहुँचा हुआ गृहस्थ, इस सीमा पर न पहुँचे हुए हजारों मुनियों से वंदनीय है; और इसी प्रकार इस सीमा पर पहुँचा हुआ मुनि इस सीमा पर न पहुँचे हुए हजारों गृहस्थों से वन्दनीय है।

**प्रश्न**—जब गृहस्थ और मुनि दोनों ही आत्म विकास की चरम सीमा पर पहुँच सकते हैं, तब म० महावीर, म० बुद्ध आदिने गृहत्याग क्यों किया ? तथा किसी को भी मुनि बनने की ज़रूरतही क्या है ? समाज को ही इस संस्था का बोझ क्यों उठाना चाहिये ?

**उत्तर**--कोई समय ऐसा भी हो सकता है, जब इस संस्था की समाज को आवश्यकता न रहे, तथा पुराने ढंगकी मुनि संस्था तो आज भी अनावश्यक है, फिर भी इस संस्थाकी आवश्यकता होती है। यह सब देशकाल तथा व्यक्तिगत रुचिके ऊपर निर्भर है। श्रीराम और श्रीकृष्ण का समय ऐसा था, उनकी रुचि ऐसी थी तथा उनके साधन तथा परिस्थिति ऐसी थी कि वे गृहस्थ रहकर ही समाजकी सेवा कर सकते थे यही बात म० जरथुस्त तथा मुहम्मद साहिब आदि के विषयमें भी कही जा सकती है। और म० महावीर, म० बुद्ध, म० ईसा आदि की परिस्थिति ऐसी थी कि वे गृह त्याग करके ही ठीक ठीक समाज सेवा कर सकते थे। मुहम्द साहिब आदि गृहस्थ बन कर तीर्थंकर क्यों बने और और म० महावीर आदि मुनि बनकर तीर्थंकर क्यों बने-इसके अनेक कारण हैं। संक्षेप में उन कारणोंका वर्णन यहाँ किया जाता है:—

१—दो तरह के मनुष्य होते हैं। एक तो वे जिनके ऊपर कोमलताका अधिक प्रभाव पड़ता है और कठोरतासे वे और भी अधिक खराब होते हैं। दूसरे वे जिन पर कोमलताका प्रभाव बहुत कम पड़ता है कोमलता से बल्कि वे सुधर ही नहीं सकते। उनको तो

समाज का कंटक समझ कर हटाना ही पड़ता है। जिस समय पहिली श्रेणी के लोग अधिक होते हैं, उस समय म० महावीर म० बुद्ध आदि के समान तीर्थंकर होते हैं। और जिस समय दूसरी प्रकृति के मनुष्य अधिक होते हैं, उस समय श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि सरीखे अवतार होते हैं। रावण और कंस के अत्याचारों को दूर करने के लिये म० महावीर और म० बुद्ध सरीखे लोग कुछ नहीं कर सकते थे। कोरी क्षमा और कष्ट-सहिष्णुता उनके हृदय को नहीं पिघला सकती थी। सदाशय से किये गये शान्त आन्दोलनों को भी वे उतनी ही निर्दयता से कुचलते जितनी कि हिंसात्मक आन्दोलनों को कुचलने में की। इतना ही नहीं; किन्तु शान्त मनुष्यों को कायर और क्षुद्र समझकर वे और भी अधिक तांडव करते। इन लोगों को सुधारने के लिये या इनके अत्याचारों से समाज की रक्षा के लिये राम और कृष्ण की आवश्यकता थी। महावीर और बुद्ध की नहीं। परन्तु मूढ़ता में डूबे हुए जन समाज के उद्धार के लिये रामका धनुष और कृष्णका चक्र या राजनैतिक चतुराई व्यर्थ थी। उनके लिये तो महावीर और बुद्ध के समान कोमल नीति वालों की आवश्यकता थी। कभी कभी ऐसा भी होता है कि कोमल नीति से काम करने-वाले लोगों के सामने एक समाज का समाज अत्याचार करने पर उतारू हो जाता है और वह किसी के जन्म सिद्ध अधिकारों की भी पर्वाह नहीं करता, बल्कि सुधारक पर अत्याचार करने को वह धर्म समझता है और उस पर अत्याचारों द्वारा विजय प्राप्त करने को वह नीति की विजय समझता है। उस समय शान्ति-प्रेमी होने पर भी

या शस्त्र-मार्ग का पथिक न होने पर भी तीर्थंकर को शस्त्र पकड़ना पड़ता है, जैसा कि मुहम्मद साहिब को पकड़ना पड़ा। मतलब यह कि जिस ज़माने में जिस प्रकृति के लोग सत्य के विरोधी होते हैं उसको दबाने के लिये जिस नीति की आवश्यकता होती है, तीर्थंकर को उसी नीति का अवलम्बन करना पड़ता है। म० महावीर, म० बुद्ध को जन-सेवा के लिये गृह-त्याग की आवश्यकता थी, इसलिये उनने गृह-त्याग किया और श्रीराम तथा श्रीकृष्ण को शस्त्र उठाने की आवश्यकता थी, इसलिये उनने वैसा किया, तथा मुहम्मद साहिब को दोनों की आवश्यकता थी या बीच का मार्ग पकड़ना था, इसलिये उनने वैसा किया। इसी प्रकार अन्य तीर्थंकरों के विषय में भी समझना चाहिये।

२—गृह-त्याग करने में तथा गृहस्थ रहने में व्यक्तिगत रुचि भी कारण हो जाती है। कोई तीर्थंकर समाज के भीतर रहकर समाज का उद्धार करना चाहता है और कोई समाज से अलग हटकर समाज की सेवा करना चाहता है। दोनों ही तरह से कार्य हो सकता है; इसलिये अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने की शैली का चुनाव कर लिया जाता है। इस रुचि में उसकी शिक्षा—संगति का असर तो होता ही है, साथ ही कुछ घटना-चक्र भी इस रुचि में कारण हो जाता है। समाज में दोनों तरह के प्राणी होते हैं—एक तो मूढ़तावश अधर्म करने-वाले या दुःख उठाने-वाले दूसरे शक्ति, सम्पत्ति आदि के मद से अत्याचार करने वाले। ये दोनों तरह के प्राणी हरएक समाज में प्रायः सर्वदा होते हैं। यह बात दूसरी है कि इनमें से किसी एक दल की

बहुलता हो। इनमें से जो दल उस सुधारक शिरोमणि के दृष्टि-गोचर होता है, उसी की तरफ़ उसकी कार्य-प्रणाली ढुल जाती है। म० बुद्ध लोगों के स्वाभाविक दुःख देखकर कार्य-क्षेत्र में प्रवेश करते हैं और रामचन्द्रजी अत्याचारियों के अत्याचार सुनकर कार्य-क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार दोनों की कार्य-प्रणाली जुदी जुदी हो जाती है। और उसी के अनुसार उनकी रुचि बन जाती है; परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि वे कार्य-क्षेत्र में संकुचित होते हैं। श्रीकृष्ण सुदर्शन-चक्र चलाने के साथ गीता का संदेश भी देते हैं और म० महावीर, मृगावती और चण्डप्रद्योत की युद्धस्थली में आकर युद्ध का अंत कराके मृगावती की रक्षा करते हैं। इस प्रकार अपनी अपनी रुचि के अनुसार कार्य-प्रणाली अंगीकार करके भी सभी तरह के तीर्थंकर समाज का सर्वतोमुख सुधार करते हैं। जिस प्रकार वैद्य, डाक्टर और हकीम तीनों ही रोग को दूर करते हैं यद्यपि उनकी चिकित्सा-प्रणाली जुदी-जुदी है, उसी प्रकार गृह-त्यागी और गृहस्थ तीर्थंकरों की बात समझना चाहिये।

३—यद्यपि गृहस्थ अवस्था में रहकर मनुष्य अपना पूर्ण विकास कर सकता है और कभी-कभी तो ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं कि उसे गृहस्थ अवस्था में रहना ही श्रेयस्कर होता है तथापि साधारणतः पूर्ण लोक-सेवक या तीर्थंकर को एक प्रकार का सन्यास लेना पड़ता है। इस अवस्था में वह अर्धगृहस्थ या मुनि के समान रहता है। इससे उसे दो लाभ होते हैं—

(क) भार हलका होने से वह लोक-सेवा का काम सरलता से कर सकता है। व्यक्तिगत चिन्ताओं में उसे अपनी शक्ति

व्यय नहीं करना पड़ती—इस प्रकार उसकी सारी शक्ति समाज-सेवा
में जाती है। जगत् के छोटे-छोटे उपद्रव मनुष्य की शक्ति को
क्षीण कर देते हैं; परन्तु गृह-त्यागी उनसे बच जाता है। उदाहर-
णार्थ गृहस्थावस्था में कोई अपमान कर दे और सहन करनेवाला
चुपचाप सहन कर ले तो साधारणतः लोग उसे कायर समझते हैं,
इसलिए उसे उस अपमान के निराकरण करने के लिए शक्ति
लगानी पड़ती है; परन्तु गृह-त्यागी होने पर अपमान का सह जाना
गौरव और महत्ता का चिन्ह समझा जाता है। उसके अपमान को
निराकरण करने का काम समाज का हो जाता है। जिन घटनाओं
या त्रुटियों से एक गृहस्थ—कायर, निर्बल या अभागी कहलाता है,
वे ही एक गृह-त्यागी के लिए शोभा की चीज़ हो जाती हैं।
इससे उन कार्यों में उनकी शक्ति बरबाद नहीं होती।

(ख) गृहस्थावस्था के मानसिक कष्टों से बच जाता है।
यद्यपि उसे खाने-पीने रहने आदि का कष्ट होता है और बढ़
जाता है; परन्तु पराधीनता, अपमान, गुलामी आदि के कष्टों से
बच जाता है। बड़े से बड़े बादशाह के सामने उसको झुकने की
ज़रूरत नहीं पड़ती। इससे वह नेतृत्व भी कर सकता है।

यद्यपि गृहस्थ वेष में रहते हुए भी ये बातें पैदा हो सकती
हैं—हुई हैं और होती हैं; परन्तु उसमें कुछ असुविधा रहती है।

४—कभी कभी कौटुम्बिक परिस्थिति के कारण भी गृह-त्याग
करने की ज़रूरत हो जाती है। कुटुम्बी ख़ासकर पत्नी जब अपने
हो समान न हो, उसका स्वभाव और आवश्यकताएँ ऐसी हों
जिससे वह साथ न दे सकती हो, तब भी गृह-त्याग करने की

आवश्यकता होती है। पत्नी को पति और पति को पत्नी सिर्फ़ प्रतिकूल होकर ही बाधक नहीं होते बल्कि अनुकूल होकर के भी बाधक होते हैं। मोह, जिसे कि लोग प्रेम समझते हैं—ऐसी बाधाएँ उपस्थित करता है, तब तीर्थंकर या क्रान्तिकार को गृह-त्याग करना पड़ता है।

इस प्रकार गृह त्याग के अनेक कारण हैं। जिन तीर्थंकरों के सामने वे कारण उपस्थित होते हैं, वे गृह त्याग करते हैं और जिनके सामने वे कारण उपस्थित नहीं होते, वे गृह-त्याग नहीं करते। तीर्थंकर घर में रहें या वन में, उनमें निःस्वार्थता और निर्लिप्तता रहती है। घर में रहते हुए भी वे गृह-त्यागी होते हैं। इससे यह बात समझ में आ जाती है कि पूर्ण-चारित्र और अपूर्ण-चारित्र का सम्बन्ध गृहस्थ-संस्था या मुनि-संस्था से नहीं है। चारित्र की पूर्णता या अपूर्णता का सम्बन्ध भावना पर निर्भर है।

पूर्ण और अपूर्ण चारित्र का सम्बन्ध गृहस्थ और मुनि-संस्था से हो या न हो; परन्तु इन दोनों संस्थाओं के बाहिरी नियमों में कुछ न कुछ अन्तर रखना पड़ेगा। यह बहुत कुछ सम्भव है कि किसी अवस्था में मुनि-संस्था हटा दी जाय; परन्तु अधिकांश समय में इस संस्था की आवश्यकता रहती है। हाँ, एक तरह की विकृत मुनि-संस्था तोड़कर दूसरी तरह की मुनि-संस्था बनाई जा सकती है। उसका स्थान भी ऊँचा-नीचा बदला जा सकता है, आर्थिक दृष्टि से उसे अधिक स्वावलम्बी बनाया जा सकता है। इस प्रकार इसमें बहुत परिवर्तन हुए हैं—होते हैं।

वर्तमान की जैन मुनि-संस्था ढाई-हजार वर्ष पुरानी है। बीच में कुछ संशोधन हुए थे; परन्तु वे नाममात्र के थे। आज तो वह कई तरह से निरुपयोगी और विकृत हो गई है, इसलिये आज उसमें साधारण सुधार नहीं, किन्तु क्रांति की आवश्यकता है। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों ने मुनियों के लिए जो कुछ नियम बनाये गये हैं, उनका प्रयोजन क्या है, एक समय में वे उपयोगी होने पर भी आज वे निरुपयोगी क्यों हैं और उनको क्यों हटाना चाहिये तथा उन्हें हटाकर दूसरे कौन से नियम लाना चाहिये, इसी बात का यहाँ विवेचन किया जाता है।

## मुनि-संस्था के नियम

अगर मुनि-संस्था खड़ी की जाय या रक्खी जाय तो उसके नियम कैसे होना चाहिये, इसका उत्तर देश-काल की परिस्थिति के अनुसार ही दिया जा सकता है। मुनि-संस्था की आवश्यकता के विषय में दो बातें कही जा सकती हैं। एक वैयक्तिक आवश्यकता, दूसरी सामाजिक आवश्यकता। जिन नियमों के आधार से इन आवश्यकताओं की अधिक से अधिक पूर्ति हो उन नियमों के आधार पर ही मुनि-संस्था के नियम बनाना चाहिये।

जो मनुष्य शारीरिक कष्टों की पर्वाह नहीं करते, किन्तु मानसिक-शान्ति चाहते हैं और इस प्रकार की मानसिक-शान्ति में ही जिनको बहुत आनन्द मिलता है, वे मुनि-संस्था में जुड़ जाते हैं या मुनि हो जाते हैं। यह वैयक्तिक आवश्यकता है।

समाज को ऐसे सेवकों की आवश्यकता रहती है जो निःस्वार्थ भाव से काम करें। वैतनिक सेवकों से जो काम नहीं हो सकता या अच्छी तरह नहीं हो सकता, इस प्रकार की सेवा का काम एक वर्ग करे, उसके लिये साधु-संस्था की आवश्यकता समाज को होती है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज परस्पर उपकार करते हैं।

साधु, जीवन-निर्वाह की सामग्री—भले ही वह कम से कम हो—समाज के पास से लेता है। इतना ही नहीं, किन्तु अपने रक्षण की समस्या भी वह समाज से सुलझवाता है। आज गृहस्थ होकर अगर कोई अपमानित हो तो दूसरे उनकी इतनी पर्वाह नहीं करते, वल्कि उसे निर्बल या दब्बू समझकर मन ही मन उसे नीची निगाह से देखने लगते हैं; परन्तु साधु के विषय में बात उल्टी है। साधु के अपमान को समाज अपना ही अपमान समझता है, इसलिये वह साधु का अपमान होने नहीं देता, और इससे भी बड़ी बात तो यह है कि जो साधु अपमान वगैरह को सहन कर जाता है उसे समाज और भी अधिक श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। जिस अवस्था में गृहस्थ की महत्ता घटती है उस अवस्था में साधु की महत्ता बढ़ती है। गृहस्थ-अवस्था में अनेक जगह सिर झुकाना पड़ता है जब कि साधु बड़े से बड़े महर्द्धिक के सामने सिर नहीं झुकाता। यह सब समाज का, साधु के ऊपर बड़ा उपकार है, इसलिये उसे सारी शक्ति लगाकर समाज की सेवा करना चाहिये।

जो आदमी समाज से, सेवा से अधिक बदला लेता है अथवा समाज को अनावश्यक कष्ट देता है, वह साधु कहलाने के लायक नहीं है, और न वे नियम साधु-पद के नियम कहे जा सकते हैं

जो लोक-हितकर कार्यों में बाधा डालते है। साधु-संस्था भी एक ऐसी संस्था है जैसी अनेक लौकिक संस्थाएँ हैं, इसलिये उनके समान उसकी व्यवस्था के नियम भी बदलते रहना चाहिये।

जैन-शास्त्रों में साधुओं के जो मूल गुण हैं, उनमें कितने आवश्यक हैं और कितने अनावश्यक? और उनमें कुछ नियम बनाने की आवश्यकता है कि नहीं? आदि समस्याएँ विचारणीय हैं।

जैन-शास्त्रों में साधुओं के सत्ताईस या अट्ठाईस मूल-गुण कहे गये हैं। दिगम्बर-शास्त्रों में २८ हैं और श्वेताम्बर शास्त्रों में २७। दिगम्बर जैन साधुओं के* २८ मूलगुण ये हैं---

५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियविजय, ६ आवश्यक, १ केशलोंच, १ नग्नता, १ स्नान नहीं करना, १ ज़मीन पर सोना, १ दतौन नहीं करना, १ खड़े-खड़े आहार लेना, १ दिन में सिर्फ़ एक बार ही भोजन लेना।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मूल-गुण २७ हैं और उनके दो पाठ मुझे मिले हैं। पहिला पाठ समवायांग ‡ सूत्र का यह है —

---

* पंचय महव्वयाई समिदीओ पंच जिणवरोद्दिट्ठा।
पंचेविंदियरोहा छप्पिय आवासया लोचो ॥ २ ॥
अचेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतघस्सणं चेव।
ठिदिभोयणेयमत्तं मूलगुणा अट्ठवीसादु ॥ ॥

—मूलाचार, मूलगुणाधिकार

‡ सत्तावीसं अणगार गुणा प० तं० पाणाइवायाओ वेरमणं, मुसावायाओ वेरमणं, अदिण्णादाणाओ वेरमणं मेहुणाओ वेरमणं, परिग्गहाओ वेरमणं, सोइंदिय निग्गहे, चक्खिंदिय निग्गहे, जिब्भिंदिय निग्गहे फासिंदिय निग्गहे

५ अहिंसादि-व्रत, ५ इन्द्रिय-विजय, ४ क्रोधादि चार विवेक, ३ सत्य (भाव-सत्य, करण-सत्य, योग-सत्य), १ क्षमा, १ विरागता, ३ मन-वचन-काय की समाहरणता अर्थात् उनकी बुराइयों को रोकना, १ ज्ञानयुक्तता, १ दर्शनयुक्तता, १ चारित्र-युक्तता, १ वेदना सहन करना अर्थात् ठंड गर्मी का कष्ट सहन करना, १ मरण का कष्ट सहन करना अथवा ऐसा उपसर्ग सहन करना जिससे मृत्यु होने की सम्भावना हो।

दूसरे ‡ पाठ के अनुसार २७ मूल-गुण निम्न लिखित हैं– ६ व्रत (पाँच व्रतों में एक रात्रि-भोजन त्याग जोड़ देने से), ६ षट्काय के जीवों की रक्षा, ५ पंचेन्द्रिय दमन, १ लोभ दमन, १ क्षमा, १ भाव विशुद्धि, १ यत्नाचार पूर्वक सफ़ाई करना, १ संयमयुक्तता, ३ मन-वचन-काय की बुराइयों का रोकना, १ शीतोष्ण आदि के कष्ट सहना, १ मरणोपसर्ग सहना।

इन मूल-गुणों में नामों का भेद होने पर भी वस्तुस्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। मूल गुणों में बहुत से मूल-गुण ऐसे हैं कि जिनका नाम नहीं आया है अथवा उत्तर-गुणों में

---

कोह विवेगे, माणविवेगे, मायाविवेगे लोहविवेगे भावसच्चे, करणसच्चे, जोगसच्चे खमा, विरागया, मणसमाहरणया, वय समाहरणया, काय समाहरणया, णाणसंपण्णया, चरित्त संपण्णया, वयण अहियासणया, मारणंतिय अहियासणया।

‡ छव्वय छकाय रक्खा पंचिंदिय लोहनिग्गहो खंती।
भावविसुद्धी पडिलेहणा य करणे विसुद्धी य॥
संजम जोए जुत्ती अकुसल मणवयणकाय संरोहो।
सीमाइपीडसहणं मरणं उपसग्गसहणं च॥

जिनका नाम आया है परन्तु जिनका पालन मूल-गुणों के समान होता है। जैसे दिगम्बर सम्प्रदाय के मूल गुणों में रात्रि-भोजन त्याग नहीं है परन्तु कोई मुनि रात्रि-भोजन नहीं कर सकता। इसी प्रकार केशलोंच, स्नान नहीं करना, दतौन नहीं करना, इन का नाम श्वेताम्बर मूल-गुणों में नहीं आया है, परन्तु प्रत्येक श्वेताम्बर मुनि को इनका पालन मूल-गुणों के समान ही करना पड़ता है। खैर, देखना यह है कि इन मूल-गुणों में अब कितने रखने लायक हैं और कितने अब बिलकुल निकम्मे हैं और कितने अच्छे होकर के भी मूल-गुणों की नामावलि में रखने लायक नहीं हैं।

**पाँच व्रत**—सच पूछा जाय तो मुनियों के मूल-गुण अहिंसा आदिक पाँच व्रत ही हैं। परन्तु इनके पालन का रूप परिवर्तनीय है। अहिंसा आदि का विस्तृत विवेचन पहिले किया गया है, उसी के अनुसार मुनि को अहिंसा का पालन करना चाहिये। अहिंसा के नाम पर पृथ्वीकाय, जलकाय आदि की रक्षा के जो सूक्ष्म नियम हैं वे अनावश्यक हैं; वे मूल-गुण में नहीं रक्खे जा सकते। हाँ, अगर किसी कर्तव्य में बाधा न आती हो तो यथाशक्ति उनका पालन किया जाय तो कोई हानि नहीं है। स्वास्थ्य-रक्षा आदि का खयाल न रखकर उन नियमों का पालन करना अनुचित है।

पहिले जो अहिंसा आदि का विवेचन किया गया है उसमें अहिंसा, सत्य और अचौर्य की जो व्याख्या की गई है वह गृहस्थ और साधु दोनों को एक सरीखी है। साधु और श्रावक में जो भेद होगा वह किसी खास कार्य द्वारा विभक्त नहीं किया जा सकता

हाँ, साधु परिग्रह-त्यागी होने से आरम्भी-हिंसा आदि के अवसर उसे कम प्राप्त होंगे, तथा उसके परिणामों की निर्मलता भी श्रावक की अपेक्षा अधिक होगी; बस अहिंसा, सत्य और अचौर्य की दृष्टि से साधु श्रावक में इतना ही भेद होगा।

साधु और श्रावक का भेद मुख्यतः परिग्रह की दृष्टि से है। अपरिग्रह के प्रकरण में अपरिग्रह की छः श्रेणियाँ बतलाई गई हैं। उनमें से प्रारम्भ की तीन श्रेणियाँ साधु के लिये हैं और बाकी श्रावक के लिये।

अपरिग्रह के इस भेद का प्रभाव ब्रह्मचर्य पर भी पड़ता है। साधारणतः साधु को भी सिर्फ संकल्पी-मैथुन का ही त्यागी होना चाहिये। परन्तु किसी भी प्रकार के मैथुन से सन्तान होने की सम्भावना है और जहाँ सन्तान पैदा हुई कि उसके लिये अपरिग्रह की प्रारम्भिक तीन श्रेणियों में रहना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है, इसलिये यह उचित है कि वह ब्रह्मचारी रहे। अगर स्त्री-पुरुष दोनों जीवित हों और दोनों ही साधु-संस्था के आश्रय में जीवन व्यतीत करना चाहें और उनकी उमर वानप्रस्थ बनने के योग्य न हो तो यह जरूरी है कि वे दोनों सम्मतिपूर्वक कृत्रिम उपाय से सन्तान निरोध करें और यथाशक्ति अधिक से अधिक ब्रह्मचर्य का पालन करें। अपरिग्रही बनने के लिये सन्तानोत्पत्ति का रोकना आवश्यक है। हाँ, अगर कोई ऐसा साम्यवादी समाज हो, जहाँ सन्तान भी समाज की संपत्ति होती हो तथा समाज को सन्तान की अत्यधिक आवश्यकता हो तो इस नियम में

भी अपवाद किया जा सकता है; परन्तु साधारणतः राजमार्ग उत्सर्ग मार्ग-वही है। कहने का तात्पर्य यह है कि सन्तान की समस्या अपरिग्रह-व्रत के पालन करने में बाधक है, इसलिये संतानोत्पत्ति के मार्ग से बचना चाहिये, और प्रारम्भ की तीन श्रेणियों में से किसी भी एक श्रेणी का अपरिग्रही बनकर साधु बनना चाहिये।

साधु-संस्था में इस प्रकार के पाँच मूल गुण आवश्यक हैं।

**पाँच समिति**-यद्यपि पाँच महाव्रतों में पाँच समितियाँ शामिल हो जाती हैं फिर भी जिस समय लोगों का जीवन प्रवृति-बहुल होगया था और उसमें आवश्यक निवृत्ति को भी उचित स्थान नहीं रह गया था, उस समय प्रवृत्तियों को सीमित करने के लिये पाँच समितियों का अलग स्थान बनाया गया है। परन्तु मैं कह चुका हूँ कि प्रवृत्ति भी अगर कल्याणकर हो तो धर्म है और निवृत्ति भी अगर अकल्याणकर हो तो पाप है, इसलिये निवृत्ति को धर्म की कसौटी बनाना ठीक नहीं। इसलिये पाँच समितियों को अलग स्थान नहीं दिया जा सकता; वे पाँच महाव्रतों में शामिल हैं।

पाँच समितियों में पहिली ईर्या-समिति है। इसका अर्थ है, चलने फिरने में यत्नाचार करना दिन में ही चलना चाहिये, धीरे धीरे चलना चाहिये, आगे आगे चार हाथ जमीन देखते हुए चलना चाहिये, इत्यादि रूप में इसका पालन किया जाता है। हाथी घोड़ा गाड़ी आदि का उपयोग भी नहीं किया जा सकता। निःसन्देह ये नियम आदर्श हैं और एक समय के लिये आवश्यक

भी थे; परन्तु आज ये नियम प्रगति में बाधक हैं। रेल, जहाज, वायुयान, मोटर आदि साधनों के बढ़ जाने से मनुष्य का कार्यक्षेत्र खूब व्यापक हो गया है। और एक समाज-सेवक के लिये कभी कभी लम्बी यात्रा करना आवश्यक हो जाता है, इसलिये इनका उपयोग भी अनिवार्य हो जाता है। उस समय ईर्यासमिति उसके कार्य में बाधक हो जाती है, इसलिये इसे मूल गुणों में नहीं रख सकते।

किसी की रक्षा करने के लिये या और भी किसी तरह की सेवा के लिये रात में चलना पड़े, या जल्दी जल्दी भागना पड़े तो ईर्या-समिति का पालन नहीं हो सकता। इस प्रकार ईर्या-समिति की ओट में अपनी वह अकर्मण्यता को छुपाता है तथा समाज का नुकसान करता है। कभी कभी किसी शारीरिक बाधा के लिये भी रात्रि में चलना या शीघ्र चलना आवश्यक हो जाता है। उस समय यदि वह ईर्या-समिति के लिये स्वास्थ्य के नियमों का भंग करे या दूसरों से ईर्या-समिति का कई गुणा भंग करावे तो यह भी अनुचित है, इसलिये इन सब नियमों का रखना आवश्यक नहीं है। कर्तव्य में बाधा न पड़े, फिर जितनी ईर्या-समिति का पालन किया जाय उतना ही अच्छा है, परन्तु इसे मूल गुण में शामिल नहीं कर सकते।

दूसरी भाषा-समिति है। इसमें भाषा के दोष दूर करके स्व-पर-हितकारी वचन बोलने की आवश्यकता है, निरर्थक हास्य और बकवाद का त्याग है, परन्तु इसका सारा कार्य सत्य-व्रत से हो सकता है, इसलिये इसको अलग गिनाने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, निरर्थक हास्य वगैरह का निषेध इसमें आता है; परन्तु

मनोविनोद के लिये अगर ऐसा हास्य किया जाय जिससे पर-निंदा न होती हो, अहिंसा और सत्य का भंग न होता हो तो उसके त्याग की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता होने पर कोई मौन धारण करे, किसी से बातचीत न करे या कम करे तो उसको कोई बुरा नहीं कहता, परन्तु यह आवश्यक नहीं है। जितना आवश्यक है वह सत्य-व्रत में आ चुका है, इसलिये भाषा-समिति का भी अलग उल्लेख नहीं किया जा सकता।

तीसरी एषणा-समिति है। इसमें निर्दोष आहारादि का विधान है। इस विषय में इतने अधिक सूक्ष्म* नियम हैं कि उन सबका वर्णन करने से बहुत विस्तार हो जायगा। पुराने समय की साधु-संस्था जैसी थी उसके लिये वे नियम उपयोगी थे, और उसमें इस बात का पूरा खयाल रक्खा गया था कि साधु-संस्था के कारण गृहस्थों को कोई कष्ट न हो, तथा साधुओं की किसी क्रिया से अप्रत्यक्ष-रूप में भी हिंसा न हो, दूसरे भिक्षुकों को भी कोई बाधा न पहुँचे, इसलिये मुनि के भोजन में उद्दिष्टाहार-त्याग का मुख्य स्थान है। जो भोजन अपने निमित्त से बनाया गया हो वह भोजन साधु के लिये अग्राह्य है। इसका मुख्य उद्देश यही था कि साधु के लिये गृहस्थों को कोई कष्ट न हो, साधु के भोजन की गृहस्थों को कोई चिन्ता न करना पड़े और न विशिष्ट भोजन तैयार करना पड़े। साधु अकस्मात् किसी गली से निकल जाता था और जो भी उसे बुलाता उसके यहाँ शुद्धाहार मिलने पर भोजन कर लेता; परन्तु एक घर में पूरा भोजन करने से उस गृहस्थ को कुछ तकलीफ होने की सम्भावना थी, इसलिये दूसरी रीति यह भी

* देखो मूलाचार पिंडशुद्धि अधिकार।

कि अनेक गृहस्थों के यहाँ से थोड़ा-थोड़ा भोजन माँगकर भोजन किया जाय । आजकल पहिली रीति दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित है और दूसरी रीति श्वेताम्बर सम्प्रदाय में । हाँ, मुनि होने के पहिले क्षुल्लक अवस्था में दिगम्बर लोग भी अनेक घर से भिक्षा माँगना उचित समझते हैं । जहाँ तक उद्दिष्ट-त्याग का सम्बन्ध है वहाँ तक यह दूसरी विधि ही अधिक उपयुक्त मालूम होती है; क्योंकि किसी आदमी को अगर भर-पेट भोजन कराना हो तो उसके उद्देश से कुछ न कुछ बनाना पड़ेगा, अथवा अपने लिये बनाया गया भोजन उसे देकर अपने लिये दूसरा भोजन बनाना पड़ेगा ।

उद्दिष्टाहार-त्याग के जो नियम हैं वे बहुत सूक्ष्म हैं । उनसे मालूम होता है कि महात्मा महावीर ने इस बात का पूरा ख़याल रक्खा था कि साधु लोग समाज को कष्ट न दें । भोजन के विषय में बहुत-सी बातें जानने योग्य हैं । जैसे--

जिस भोजन के तैयार करने में हिंसा हुई हो, जो जैनमुनियों के लिये, दूसरे साधुओं के लिये, गरीबों के लिये या और किसी के लिये बनाया गया हो, साधु को देखकर बनती हुई सामग्री में कुछ बढ़ा लिया गया हो, या तुरन्त खरीद कर लाया गया हो, या किसी दूसरी चीज़ से बदल लिया गया हो, या उधार लिया गया हो, जिसे निकालने के लिये अटारी [अट्टालिका] आदि पर चढ़ना पड़ा हो, या बालक को दूध पिलाना बन्द करना पड़ा हो, जो भोजन किसी के दबाव से दिया गया हो, अपने

सहयोगियों के मना करने पर भी दिया गया हो, वह सब भोजन मुनि के लिये अग्राह्य है।

इसी प्रकार किसी को खुश करके आहार लेना, झूठी-सच्ची बातों का अनुमोदन करके, या विद्या वगैरह की आशा दिलाकर या कुछ औषध आदि देकर आहार लेना भी अनुचित है।

उद्दिष्टाहार त्याग का मुख्य कारण यही है कि समाज को कष्ट न हो, साधु-संस्था समाज के लिये बोझ न बन जाय। दूसरा कारण यह भी कहा जा सकता है कि इससे विषय-लोलुपता न आ जाय, इच्छानुसार भोजन न मिलने से रसना-इन्द्रिय का विजय हो; परन्तु इन दोनों प्रयोजनों की सिद्धि नहीं हो रही है। आज एक निमन्त्रित व्यक्ति की अपेक्षा उद्दिष्ट त्याग का बाह्याचार दिखलाने-वाला व्यक्ति समाज के लिये अधिक कष्टप्रद है। निमन्त्रण से तो एक व्यक्ति के लिये एक आदमी को भोजन तैयार करना पड़ता है और अगर उसमें रसना-इन्द्रिय जीतने की इच्छा हो तो निमन्त्रित होकर के भी जीत सकता है। निमन्त्रण में सादा भोजन भी किया जा सकता है; परन्तु उद्दिष्ट-त्यागी के लिये तो सैकड़ों मनुष्यों को भोजन तैयार करना पड़ता है। अगर एक भी मुनि भोजनार्थी होता है तो गाँव के सभी गृहस्थों को एक एक आदमी की रसोई अधिक बनाना पड़ती है। इतना ही नहीं बल्कि वह रसोई भी असाधारण होती है। इससे शक्ति से अधिक खर्च भी होता है। इसकी अपेक्षा निमंत्रण स्वीकार कर लिया जाय तो समाज को बहुत कम कष्ट हो।

अगर अनेक घरों से भिक्षा लाये तो एक घर के भोजन से कुछ अच्छा ज़रूर है, परन्तु उसमें भी कुछ हानि है; क्योंकि इससे साधु फालतू अन्न भी माँग लाता है। भोजन की मात्रा से भी अधिक माँग लाता है। जब तक स्वादिष्ट भोजन न मिले, तब तक अनेक घरों से माँगता ही रहता है। इसलिये उद्दिष्ट-त्याग के विधान के जो दो प्रयोजन थे, वे सिद्ध नहीं हो पाते।

**प्रश्न**— उद्दिष्ट-त्याग का एक तीसरा प्रयोजन भी है कि इस से साधु पाप की अनुमोदना से बचा रहता है। भोजन तैयार करने में छोटे बड़े अनेक आरम्भ करना पड़ते हैं। अगर वह भोजन साधु के उद्देश से बनाया जाय और साधु उसे ग्रहण करे तो भोजन के आरम्भ का पाप साधु को भी लगेगा। उद्दिष्ट-त्याग में वह पाप सिर्फ़ गृहस्थ को लगता है, साधु उससे बचा रहता है।

**उत्तर**—पहिले हिंसा अहिंसा के विवेचन में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जो आरम्भ जीवन के लिये अनिवार्य है, उसमें यथाशक्ति यत्नाचार करने से पाप नहीं रहता। कोई वस्तु हमारा नाम लेकर बनाई जाय या बिना नाम के बनाई जाय परन्तु अगर हम उसका उपयोग करते हैं तो उसके पाप से हम लिप्त हुए बिना नहीं रह सकते; क्योंकि बिना किसी उद्देश के कोई काम नहीं किया जाता। भोजन जो बनाया जाता है, उसमें जो खाता है उसी का उद्देश रहता है, भले ही उसका नाम न लिया गया हो। बाजार में बिकनेवाली चीज़ का पुण्य-पाप उसी के सिर है जो उसे खरीदता है। इसी प्रकार आरम्भ में अगर पाप है तो अनुद्दिष्ट

भोजन करनेवाला मुनि भी उस पाप से बच नहीं सकता।

उद्दिष्ट-त्याग की शर्त को अनिवार्य कर देने से कई बड़े बड़े नुकसान भी हैं। कोई भी देश अपनी आर्थिक परिस्थिति आदि के कारण भिक्षावृत्ति को क़ानून से बन्द कर दे तो इस प्रकार की साधु-संस्था इस प्रकार के क़ानून बनाने में बाधक होगी, अथवा अपने लिये कुछ ऐसे अपवाद रखवायगी जिससे वह भिक्षा ले सके। लेकिन इस एक ही अपवाद से सभी सम्प्रदाय के साधु इस प्रकार का अपवाद चाहेंगे और उन्हें देना ही पड़ेगा। तब साधुवेषी भिक्षुकों की संख्या लाखों पर पहुँचेगी और वह क़ानून निरर्थक हो जायगा। यदि इस प्रकार के क़ानून बनानेवालों का ज़ोर ज्यादह हुआ तो इस साधु-संस्था को उठा देना पड़ेगा या चोरी से चलाना पड़ेगा; परन्तु यह सब अनुचित है। इसी से लगती हुई दूसरी बात यह है कि इससे अकर्मण्यों की संख्या बढ़ती है। लोग परिश्रम करने को पाप और भिक्षावृत्ति को—जिसमें हरामख़ोरी के लिये सबसे अधिक गुंजाइश है—पुण्य समझने लगते हैं। साधु लोग, समाज के द्वारा पोषित होना अपना हक़ समझ लेते हैं और समाज को इच्छा न रहते हुए भी, भूखों न मर जायँ, इस डर से भोजन कराना ही पड़ता है। इस प्रकार साधुओं के जीवन में बेजिम्मेदारी और समाज के ऊपर एक बोझ लदता है। यद्यपि साधु-संस्था का कुछ न कुछ बोझ समाज को उठाना ही पड़ता है; परन्तु वह इस ढंग का अनिवार्य न होना चाहिये और साधु-संस्था के लिये निम्नलिखित चारों मार्ग खुले रहना चाहिये:—

१—अगर कोई दूसरा उपाय न हो तो रास्ते में चलते चलते

जो कोई उसे बुला ले और उसके यहाँ उसके लायक शुद्ध-भोजन मिल सके तो भोजन कर ले।

२—अथवा, थोड़ा थोड़ा अनेक घरों से माँगकर भोजन कर ले।

३—अगर कोई निमन्त्रण करे तो उसके यहाँ भोजन कर ले।

४—अपने परिश्रम से पैदा किये पैसे से भोजन ख़रीदकर या भोजन का सामान ख़रीदकर स्वयं तैयार करके भोजन कर ले।

इससे साधु में बेज़िम्मेदारी न आ पायेगी और समाज को साधु-समाज की चिन्ता न करना पड़ेगी; क्योंकि उसके लिये स्वयं परिश्रम करने का मार्ग खुला रहेगा। हाँ, आवश्यकता के लिये बाक़ी तीन मार्ग भी खुले रहेंगे।

**प्रश्न**—यदि समाज साधुओं के लिये कोई आश्रम बना दे और साधु लोग वहाँ भोजन करें तो वह भोजन उपर्युक्त चार श्रेणियों में से किस श्रेणी में समझा जायगा ?

**उत्तर**—चौथी श्रेणी में; क्योंकि आश्रम में रहकर वह कुछ काम करेगा और उस काम के बदले में भोजन लेगा, मुफ्त में नहीं। हाँ, अतिवृद्ध होने पर या अतिरुग्ण होने पर वह पेन्शन के तौर पर भोजन ले सकता है। परन्तु इस प्रकार की पेन्शन देना न देना समाज की इच्छा पर निर्भर है, अथवा उसकी पूर्व सेवाओं पर या भविष्य में होनेवाली सेवा की आशा पर निर्भर है।

**प्रश्न**—साधु के लिये इस प्रकार भोजन के अनेक मार्ग खोलकर जहाँ आपने उसके सिर पर ज़िम्मेदारी लादी है और

समाज का बोझ कुछ हलका कर दिया है, वहाँ साधु को भोजन के विषय में स्वतन्त्रता देकर निरंकुश भी बना दिया है। इससे समाज का दबाव उसके सिर पर न रहेगा, वह किसी तरह पैसा पैदा कर समाज के विरोध में भी खड़ा हो सकेगा।

**उत्तर**—जिस समय समाज में उसके पक्ष का एक भी आदमी न रह जायगा, उस समय वह साधु कहलाकर रह भी नहीं सकता। वह साधु-संस्था से अलग कर दिया जा सकेगा। उस समय उसके लिये भोजन का चौथा मार्ग ही रह जायगा। वह मार्ग तो अवश्य खुला रहना चाहिये, नहीं तो वह चोर और डकैतों में शामिल हो जायगा। समाज ने उसे साधु नहीं माना, बस यही क्या कम दंड है! यदि उसके पक्ष में कुछ लोग हैं तब तो उद्दिष्ट-त्यागी होकर के भी वह 'तागड़धिन्ना' कर सकेगा; क्योंकि उसके भक्त उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे। सच बात तो यह है कि सबसे कठिन मार्ग अपने परिश्रम से पैदा करके खाना है। थोड़ी-सी गड़-बड़ी होने पर इसी चौथे मार्ग का सहारा लेना पड़ेगा और इसमें उसकी पूरी कसौटी हो जायगी। इस विषय में एक बात और है कि कोई आदमी साधु कहलाता रहे और साधुता का पालन न करे तो भी वह आज के समान भयंकर न होगा; क्योंकि समाज के ऊपर उसके पोषण का बोझ न रहेगा और आजकल साधु-वेष धारण करने से ही लोग जिस प्रकार सातवें आसमान पर चढ़ जाते हैं, दूसरों से पूजा कराना अपना हक़ समझते हैं, वह बात पीछे न रहेगी। उस समय तो गुण और समाज-सेवा के अनुसार ही उप-चार विनय का पालन होगा, वेष के अनुसार नहीं। इस प्रकार

उद्दिष्टत्याग अनिवार्य नहीं है ।

भोजन के विषय में और भी बहुत से नियम हैं जैसे अमुक चीज़ को देखकर भोजन नहीं लेना आदि; परन्तु इन सबका उद्देश यही था कि जिससे मनुष्य सहृदय बना रहे । कोई मनुष्य रो रहा हो और साधु भोजन करे तो इससे कुछ स्वार्थपरता या निर्दयता मालूम होती है, अथवा किसी भक्ष्य-पदार्थ में मांस आदि का संकल्प हो जाय और फिर भी उसे खाया जाय तो इससे अभक्ष्य से ग्लानि घट जाती है । साधक अवस्था में इन मनोवृत्तियों को बनाये रखने की आवश्यकता होती है, परन्तु इन अन्तरायों के होने पर भोजन का छूट जाना एक बात है और छोड़ देना दूसरी बात । बहुत से लोगों को ग्लानि तो होती नहीं है, परन्तु दिखाने के लिये छोड़ देते हैं, तथा दूसरे लोगों पर बिगड़ पड़ते हैं । इस प्रकार की कृत्रिमता अनावश्यक है । स्वच्छता के नियमों का पालन करना तथा हिंसा आदि से बचे रहना उचित है; परन्तु कुत्ते के भौंकने से और बिल्ली के बोलने से अन्तराय मानना, छोटे छोटे बहाने निकालकर भोजन छोड़कर भोजन करानेवाले को लज्जित करना उचित नहीं है । भोजन तभी छोड़ना चाहिये जब स्वभाव से इतनी ग्लानि आ जाय कि भोजन न किया जाय । इस विषय में नियम बनाना या अन्तरायों की संख्या गिनाना अनावश्यक है ।

एषणा-समिति पर विचार करते समय सचित्ताचित्त पर विचार करना भी आवश्यक है । मांस वगैरह त्रस-हिंसाजन्य पदार्थों का त्याग करना आवश्यक है । परन्तु जैन-समाज में वनस्पति के

विषय में कुछ बाह्याडम्बर फैला हुआ है। जैनाचार्यों ने प्राणि-शास्त्र का अध्ययन करके यह निर्णय किया था कि कुछ वनस्पतियाँ ऐसी हैं जिनमें अनन्त जीव रहते हैं। कन्द-मूल आदि इसी श्रेणी में समझे जाते हैं, तथा वनस्पतियों की कुछ अवस्थाएँ ऐसी हैं जब उनमें अनन्त जीव होते हैं। वनस्पति में जब नसें नहीं मालूम होतीं उनकी त्वचा बहुत मोटी होती है या दल से मिली रहती है, तब भी वे अनन्त जीव-वाली होती हैं। जैनाचार्यों की यह खोज अवश्य ही उनकी अध्ययनशीलता का परिचय देती है।

परन्तु इसी आधार पर जो भक्ष्याभक्ष्य का विचार चल पड़ा है, वह ठीक नहीं है। किसी वनस्पति में अनन्त जीव मानने का यही अर्थ है कि उसमें इतने अधिक जीव हैं जिनको हम जान नहीं सकते। यह बहुत सम्भव है कि उनमें बहुत जीव हों, परन्तु सिर्फ़ इसीलिये उनको अभक्ष्य कहना अनुचित है। क्योंकि एक शरीर में अनन्त या अत्यधिक जीव बतलाने का अर्थ यही है कि उन जीवों का विकास बहुत थोड़ा हुआ है, उनमें चैतन्य की मात्रा प्रत्येक वनस्पति की अपेक्षा अनन्तवें भाग है। ऐसी हालत में इन अविकसित साधारण प्राणियों का भक्षण करना प्रत्येक वनस्पति के भक्षण की अपेक्षा कुछ अधिक उचित है। जिस प्रकार अनेक एकेन्द्रिय जीवों को मारने की अपेक्षा एक त्रस की हत्या में अधिक पाप है, इसी तरह अनेक साधारण वनस्पति को मारने की अपेक्षा एक प्रत्येक वनस्पति के मारने में अधिक पाप है। परन्तु प्रत्येक वनस्पति को भक्षण करने के बिना हमारा काम नहीं चल सकता तथा एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा अनिवार्य है, इसलिये प्रत्येक

तथा साधारण वनस्पति का विचार किये बिना हमें त्रस-हिंसा का ही खयाल रखना चाहिये। हाँ, अनावश्यक स्थावर-वध न करना चाहिये।

साधारण वनस्पति का त्याग एक दूसरी दृष्टि से उचित है, परन्तु वह सब साधारण वनस्पतियों का नहीं। प्रत्येक वनस्पति भी एक समय साधारण अवस्था में से गुज़रती है, जब कि उसमें नस गुठली आदि नहीं होती। जो वनस्पति अन्त तक साधारण रहनेवाली है उसके भक्षण करने में तो कोई दोष नहीं है, जैसे—आलू आदि। परन्तु जो वनस्पति साधारण अवस्था को पार करके प्रत्येक वनस्पति बनेगी उसका उपयोग साधारण अवस्था में न करना चाहिये, यह त्याग अहिंसा की दृष्टि से नहीं है किन्तु अपरिग्रह की दृष्टि से है। किसी फल को उसकी साधारण अवस्था में नष्ट कर देने से उससे उतना लाभ नहीं उठाया जा सकता जितना कि उसकी प्रत्येक अवस्था में उठाया जा सकता है। आम का एक फल कोई उस अवस्था में खा जाय जब उसमें गुठली, दल, और त्वचा का भेद ही नहीं था तो समाज की सम्पत्ति में से एक फल को बर्बाद कर देना है। साधारण वनस्पति के त्याग की उपयोगिता का यह छोटा-सा प्रमाण है, इसे नियम का रूप नहीं दिया जा सकता। हाँ, इसे भावना कह सकते हैं। मनुष्य को इस प्रकार की भावना रखना चाहिये तथा किसी अच्छे कार्य में बाधा डाले बिना यथाशक्ति ऐसी साधारण वनस्पति की हिंसा से बचे रहना चाहिये।

एषणा-समिति के विषय में बहुत बातें हैं, परन्तु इतने विवेचन से उसका मर्म समझ में आ जाता है। वर्तमान में जो एषणा-

समिति का रूप है वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के बदल जाने से
अनावश्यक हैं । जो सुधरा हुआ रूप ऊपर बताया गया है वह
उत्तर गुणों में रखने लायक है, मूल-गुणों में नहीं ।

**आदाननिक्षेपण समिति**—प्रत्येक वस्तु को यत्नपूर्वक, हिंसा
को बचाते हुए उठाना-रखना—आदाननिक्षेपण समिति है । इसको
भी भावना या उत्तर-गुणों में रख सकते हैं, इसे मूल गुण नहीं
बनाया जा सकता । इसके अतिरिक्त हिंसा-अहिंसा का विचार भी
सब जगह एक सरीखा नहीं किया जा सकता । मान लो, एक आदमी
मकान बना रहा है—ऐसी अवस्था में वह छोटे छोटे कीड़ों की रक्षा
का विचार उतना नहीं कर सकता जितना कि पुस्तक के उठाने
रखेन में कर सकता है । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये ।

**प्रतिष्ठापना समिति**—वनस्पति तथा त्रस-जीवों से रहित
शुद्ध भूमि में मल-मूत्र आदि का क्षेपण करना प्रतिष्ठापना समिति है ।
यह भी भावना-रूप में ही रक्खी जा सकती है, व्रत-रूप में नहीं ।
आजकल नगरों की रचना ऐसी है कि वहाँ जंगल में या छोटे
छोटे गाँवों में रहने के नियम नहीं पाले जा सकते । ट्रेन तथा जहाज़
में यात्रा करने पर भी इस विषय में विशेष यत्न नहीं किया जा
सकता । समाज-सेवा के लिये नगर में रहने, रेल और जहाज़ में
यात्रा करने की बहुत बार आवश्यकता होती है, इसलिये साधु को
इनसे विरत करना उचित नहीं है । इसलिये प्रतिष्ठापना समिति का
अर्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार करना होगा, तथा इसे मूल-
गुणों में तो रख ही नहीं सकते ।

इस प्रकार ये पाँच समितियाँ उपादेय होने पर भी मूल-गुण में शामिल नहीं की जा सकतीं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी इन्हें मूल-गुण में शामिल नहीं किया गया है।

**इन्द्रियनिग्रह**—स्पर्शन, जिह्वा, नाक, नेत्र और कान ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इन पर विजय प्राप्त करना या इनका दमन करना भी साधु के मूल-गुण हैं। ये पाँच मूल-गुण दोनों सम्प्रदायों में माने गये हैं।

इन्द्रियों के दमन करने का यह अर्थ नहीं है कि कोई व्यक्ति कोमल स्वच्छ वस्तु का स्पर्श न करे, स्वादिष्ट भोजन न करे, सुगन्धित स्थान में न जावे, सुन्दर दृश्य न देखे, संगीत न सुने आदि; किन्तु इसका अर्थ सिर्फ़ आसक्ति का अभाव है। इन्द्रियों के विषय में उसे इतना आसक्त न होना चाहिये कि वह कर्तव्य करने में प्रमादी हो जावे, अथवा दूसरों के न्यायोचित अधिकारों की पर्वाह न करे।

साधु को चाहिये कि वह इन्द्रियों के अनिष्ट विषय प्राप्त होने पर भी अपने को स्थिर रखे। किसी के यहाँ जाने पर यदि रूखा-सूखा भोजन मिले तो भोजनदाता का मन से, वचन से, शरीर से तिरस्कार न करे। यदि घर के आदमी ने कुछ भोजन में गड़-बड़ी कर दी है तो सुधार के लिये प्रेमपूर्वक समझाने के सिवाय और कोई उग्र व्यवहार न करे। सदा संतोष और प्रसन्नता से भोजन करे। हाँ, जो भोजन अस्वास्थ्यकर है उसे चाहे न ले, अथवा जो इतना वेस्वाद है जिसे खाना कठिन है तो थोड़ा खावे, परन्तु इस के लिये किसी का अपमान न करे, किसी को दुःखी न करे।

संगीत आदि मनोविनोद के त्याग की भी आवश्यकता नहीं है, परन्तु उसमें इतनी आसक्ति न हो जो कर्तव्यच्युत होना पड़े। रोगी की सेवा छोड़कर, अपने हिस्से का जीवनोपयोगी काम छोड़कर या और आवश्यक कर्तव्य छोड़कर संगीत सुनना या कोई खेल देखना अनुचित है।

धर्म और अर्थ के समान काम भी जीवन में आवश्यक तत्त्व है। व्यर्थ ही अपने चेहरे को मनहूस बनाये रहना अनुचित है। फिर भी काम का सेवन—धर्म और अर्थ का विरोधी न होना चाहिये, इसीलिये साधु को इन्द्रिय-दमन की आवश्यकता है। परन्तु जो लोग इन्द्रिय दमन के नाम पर निरर्थक कष्ट सहन करते हैं, लगातार अनेक उपवास कर स्वास्थ्य को बिगाड़ लेते हैं और सेवा कराकर दूसरों को परेशान करते हैं, वे इन्द्रियजयी नहीं हैं। किसी कार्य के औचित्यानौचित्य का विचार करते समय सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टि से अधिकतम प्राणियों के अधिकतम सुखवाली नीति को कसौटी बनाना चाहिये। एकाध दिन का भोजन बचाने के लिये या कष्टसहिष्णुता की थोड़ीसी कसरत करने के लिये दूसरों को परेशान कर डालना अधर्म ही होगा।

कई लोग इन्द्रिय-विजय के नाम पर अमुक वस्तुओं का, या रसों का त्याग कर देते हैं, परन्तु अधिकतर यह त्याग निरर्थक ही है। शक्कर न खाकर किशमिश और छुआरा उड़ाना, घी का त्याग करके बादाम का तेल या बादाम का हलुआ खाना अधिक भोग है। हाँ, जो वस्तुएँ हिंसकता की दृष्टि से अभक्ष्य हैं अथवा जो

बहुत अस्वास्थ्यकर हैं उनका त्याग करना ठीक है; परन्तु ऊटपटाँग किसी भी चीज़ का त्याग करना अनावश्यक है। हाँ, अभ्यास की दृष्टि से कुछ भी करो, परन्तु वह सब अपने घर में करो अर्थात् ऐसी जगह करो जहाँ उससे किसी को कष्ट न हो।

अभ्यास कुछ त्याग नहीं है; किन्तु समय पड़ने पर त्याग किया जा सके—इसके लिये वह प्रारम्भिक व्यायाम है। परन्तु दूसरे के यहाँ जाकर इस व्यायाम के प्रदर्शन की कोई ज़रूरत नहीं है, बल्कि दूसरों को कष्टप्रद होने से हेय है। सबसे बड़ा त्याग तो यह है कि मौके पर जो कुछ मिल जाय उसी से प्रसन्नतापूर्वक अपना काम चला लेना। मैं यह नहीं खाता, वह नहीं खाता, इत्यादि प्रतिज्ञाओं की ज़रूरत नहीं है, किन्तु मैं यह भी खा सकता हूँ (अर्थात् प्रसन्नतापूर्वक उससे अपनी गुज़र कर सकता हूँ), वह भी खा सकता हूँ—इत्यादि प्रतिज्ञाओं की ज़रूरत है। त्याग सिर्फ़ उन्हीं चीज़ों का करना चाहिये, जो अन्याय से पैदा होती हैं या प्राप्त होती हैं।

अगर किसी को त्याग करना हो तो उसे जाति की दृष्टि से त्याग न करना चाहिये; किन्तु संख्या की दृष्टि से त्याग करना चाहिये। एक आदमी ने दस शाकों का त्याग कर दिया, परन्तु प्रतिदिन पाँच-सात तरह की शाक खाता है—इसके बिना उसका काम नहीं चलता, किन्तु दूसरे आदमी ने किसी भी शाक का त्याग नहीं किया किन्तु वह प्रतिदिन कोई भी एक—दो शाक खाता है तो पहिले की अपेक्षा दूसरा त्यागी है। इतना ही नहीं किन्तु पहिले को हम त्यागी

ही नहीं कह सकते। कदाचित् दंभी तक कह सकते हैं, इसलिये अगर त्याग करने की आवश्यकता मालूम हो तो संख्या की मर्यादा बाँध लेना चाहिये, और वह भी सिर्फ़ इसीलिये कि दूसरों को कष्ट न हो। इन बातों से अपने को त्यागी न समझ लेना चाहिये, क्योंकि इनका मूल्य बहुत तुच्छ है।

खाने-पीने की बात को लेकर लोग त्याग का दंभ बहुत करते हैं, इसलिये इस विषय में कुछ अधिक लिखा गया है, परन्तु इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में भी विचार करना चाहिये। मुख्य बात यह है कि किसी भी इन्द्रिय के विषय में आसक्ति न हो; कोई भी विषय प्राप्त हो या न हो, परन्तु प्रसन्नता बनी रहे। 'आसक्ति कर्तव्य में बाधक न हो'—इसका नाम इन्द्रिय-विजय है, साधु के लिये यह आवश्यक है। अस्वाद-व्रत भी इसी के अन्तर्गत है। परन्तु पाँच इन्द्रियों के विजय को पाँच मूल-गुण कहना अनावश्यक है। इस प्रकार के विस्तार की आवश्यकता नहीं है। इसलिये पाँच के बदले इन्द्रिय-विजय नामक एक ही मूल-गुण रखना चाहिये।

**आवश्यक**—दिगम्बर सम्प्रदाय में छः आवश्यक के नाम से छः कार्य* प्रसिद्ध हैं। १ सामायिक, २ चतुर्विंशतिस्तव, ३ वंदना, ४ प्रतिक्रमण, ५ प्रत्याख्यान, ६ कायोत्सर्ग। कहीं

---

* समदा थओ य वंदण पाडिक्कमणं तहेव णादव्वं।
पच्चक्खाण विसग्गो करणीया वासया छप्पि—मूलाचार २२।

कहीं‡ पर प्रत्याख्यान के स्थान पर स्वाध्याय पाठ भी मिलता है, जो कि इस बात का सूचक है कि जिस समय जिस बात की अधिक आवश्यकता होती है उसे उस समय मूल-गुण में रख लिया जाता है, साधुता के समान साधु-संस्था के नियम स्थायी नहीं हैं।

सामायिक के बदले में दूसरा शब्द है समता। सुख-दुख में, शत्रु-मित्र में समभाव रखना समता या सामायिक है। इस समता भाव के अभ्यास के लिये सामायिक की क्रिया भी, दिन में तीन बार सुबह, मध्याह्न और सन्ध्या को—कुछ समय के लिये ध्यान लगाकर स्थिर होना—प्रचालित है। अभ्यास की दृष्टि से एक समय यह क्रिया आवश्यक मालूम हुई होगी, परन्तु आज इसकी ज़रूरत नहीं है। हाँ, मनुष्य एकान्त में बैठे—अच्छे विचार करे—इसमें कुछ बुराई नहीं है, परन्तु आवश्यकता न होने पर भी प्रतिदिन इतना समय खर्च करना निरर्थक है। हाँ, यहाँ सामायिक का जो समता-भाव अर्थ किया गया है वह ठीक है, परन्तु इसका बहुत-सा काम तो इंद्रिय-निरोध से चल जाता है। उससे अधिक समभाव उचित होने पर भी मूल-गुण में शामिल नहीं किया जा सकता। हाँ, साम्प्रदायिक समभाव या सर्वधर्म समभाव अनिवार्य है, इसलिये उसे मूल-गुण में अवश्य गिनना चाहिये। दूसरे शब्दों में स्याद्वादका सच्चा रूप उसे जीवन में उतारना चाहिये। इस प्रकार का समभाव

---

‡ समता धर बन्दन करै नाना थुती बनाय।
प्रतिक्रमण स्वाध्याययुत कायोत्सर्ग लगाय॥ इष्ट छत्तीसी २३।

मूल-गुण में रखना आवश्यक है ।

यद्यपि यह समभाव सम्यग्दर्शन में ही आवश्यक है, इसलिये
यह जैनत्व की मुख्य शर्त है तथापि इस विषय में इतनी गलत-
फ़हमी है और इसकी तरफ़ लोगों की इतनी उपेक्षा है कि इसकी
तरफ़ जितना अधिक ध्यान आकर्षित कराया जाय उतना ही थोड़ा
है । सर्वधर्म समभाव रूप समता प्रत्येक श्रावक को आवश्यक है,
परन्तु जो साधु-संस्था में जुड़ रहा है उसे तो और भी अधिक
आवश्यक है—इसलिये मूल-गुणों की नामावली में इसका नाम सब
से पहिले रखना चाहिये । जिस प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र
की उत्पत्ति और स्थिति नहीं मानी जाती उसी प्रकार प्रकार इस
सर्व-धर्म-समभाव के बिना साधुता नहीं हो सकती ।

दूसरा आवश्यक **चतुर्विंशस्तव** है । महापुरुषों की स्तुति
करना, उनका गुण-गान करना उचित है । परन्तु यह गुण-गान
किसी सम्प्रदाय के महापुरुषों में क़ैद न रहना चाहिये, और न
उसमें चौबीस की संख्या नियत रहना चाहिये । अपनी अपनी
रुचि और परिस्थिति के अनुसार महापुरुषों की प्रशंसा करना
उचित है, फिर वह एक-की की जाय या दस-की । इसलिये इस
आवश्यक का नाम चतुर्विंशतिस्तव नहीं, किन्तु महात्मस्तव रखना
चाहिये ।

इस प्रकार यह **महात्मस्तव** उचित होने पर भी मूल-गुण में
नहीं रक्खा जा सकता; क्योंकि साधु-संस्था के लिये यह आवश्यक
नियम नहीं है ! अवकाश और इच्छा होने पर उनकी स्तुति करना

चाहिये, न हो तो न सही। हाँ, साधुओं का कोई आश्रम बनाया जाय और उसमें इस प्रकार की प्रार्थना रक्खी जाय तो कोई हानि नहीं है, परन्तु उसमें सिर्फ़ महात्मस्तव ही न होगा; किन्तु सत्य अहिंसा आदि गुणों का स्तव भी होगा। फिर भी इस प्रार्थना को अनिवार्य नियम का रूप नहीं दिया जा सकता; क्योंकि साधुता के साथ इसका घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है।

तीसरा आवश्यक **वन्दना** है। इसमें मूर्ति के आगे प्रणाम करना, अपने से जो पूज्य हो उनको नमस्कार करना आदि का समावेश होता है। महात्मस्तव वचन-रूप पड़ता है, और यह शरीर की क्रिया-रूप पड़ता है; परन्तु इन दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है। ऐसे छोटे छोटे अन्तर निकालकर मूल-गुणों की संख्या बढ़ाना उचित नहीं है।

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार महात्मस्तव को मूल-गुणों में शामिल नहीं किया है, उसी प्रकार यह वन्दना भी मूल-गुण में शामिल नहीं किया जा सकता। हाँ, इसका करना बुरा नहीं है, बल्कि उचित है।

चौथा आवश्यक **प्रतिक्रमण** है। इसका अर्थ है अपराध-शुद्धि। हम से जान में या अनजान में जो दोष हो गये हों उसे वापिस लौटना अर्थात् मन से, वचन से, शरीर से पश्चाताप करना प्रतिक्रमण है। सचमुच यह आवश्यक ही नहीं, अत्यावश्यक है। यद्यपि इसका पूर्ण रूप में पालन करना कठिन है, फिर भी इसको पूर्ण रूप में पालन करने की यथाशक्ति चेष्टा करना चाहिये।

यथाशक्ति चेष्टा ही पूर्ण रूप में पालन करना कहलाता है।

आजकल तो प्रतिक्रमण पाठ में जीवों के भेद-प्रभेद गिनाकर उनके कुल और योनियों की गिनती बताकर सबसे क्षमा माँग ली जाती है। निःसन्देह इसके मूल में सर्व-जीव-समभाव की भावना है, परन्तु आज तो यह क्रिया ऐसी ही है जैसे कि किसी बीमार की बीमारी दूर करने के लिये उसके शरीर को चारों तरफ़ झाड़ू से झाड़ देना। शरीर के चारों तरफ़ झाड़ू फेर देने से बीमारी नहीं झड़ जाती, उसी प्रकार प्रतिक्रमण पाठ की झाड़ू फेरने से अपराध नहीं झड़ जाते। अपराध-शुद्धि के लिये हमें अपराध पर ही झाड़ू फेरना चाहिये। उस समय दुनियाँ भर की गिनती गिनाना वास्तविक अपराध को चिकित्सा के बाहर कर देना है, अर्थात् उस पर उपेक्षा कर जाना है।

इन जीवों की गिनती गिनाने में अन्धविश्वास से काम लेना पड़ता है। जैन-शास्त्रों में प्राणि-शास्त्र तथा स्वर्ग नरक आदि का जो वर्णन है, उसको विश्वास के साथ ताज़ा रखना पड़ता है, परन्तु इस विषय में नई-नई खोजें हुई हैं—हो रही हैं—होंगी, और उनसे वर्तमान मान्यताओं में बहुत कुछ परिवर्तन भी पड़ सकता है। इसलिये आवश्यक मालूम होता है कि प्रतिक्रमण सरीखे आत्म-शोधक कार्य में से प्राणि-शास्त्र की चर्चा को अलग कर दें। साधारणतः एक वाक्य में सर्व प्राणियों का स्मरण कर लें। परन्तु यहाँ तक का सारा कार्य तो एक प्रकार की भूमिका हुई। सच्चा प्रतिक्रमण करने के लिये तो यह आवश्यक है कि जहाँ अपराध है वहीं उसकी शुद्धि की जाय। यदि हमारे मुँह से किसी के विषय में अनुचित

शब्द निकल गया है तो उसे स्वीकार करना, अथवा शक्य न हो तो अपने ही आप उसका पश्चात्ताप करना आवश्यक है। जिनके हम अपराधी हैं, उनके विषय में तो कुछ ध्यान ही न दें और दुनियाँ भर के जीवों से माफ़ी माँगने का ढौंग करें—इस दंभ से कुछ लाभ नहीं है। अपने विशेष पापों का शोधन करना ही प्रतिक्रमण का उद्देश है। प्रतिक्रमण के लिये किसी नियत समय की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता सिर्फ़ इतनी है कि वह अपराध के बाद जितनी जल्दी किया जाय उतना ही अच्छा है। अपराध के जितने अधिक समय बाद प्रतिक्रमण किया जायगा, उसका मूल्य उतना ही कम होगा।

**प्रश्न**—जो काम हो गया सो हो गया। अब उसके नाम पर रोने से क्या फ़ायदा ? अब तो आगे का विचार करना चाहिये।

**उत्तर**—आगे का विचार करने के लिये ही पीछे का रोना है। अपने किये हुए काम की बुराई को अगर कोई स्वीकार न करे, उसकी निन्दा न करे तो वह भविष्य में उससे क्यों बचेगा ? भविष्य की शुद्धि के लिये ही यह भूतालोचना है। दूसरी बात यह है कि जगत् की शान्ति के लिये तथा आधे से अधिक अनर्थों को रोकने के लिये प्रतिक्रमण की आवश्यकता है। प्रतिक्रमण से द्वेष-वासना दूर हो जाती है, और द्वेष-वासना का दूर होना अधिकांश अनर्थों का दूर हो जाना है। द्वेष का सद्भाव जितना दुःखप्रद है उतना बाह्य कष्ट नहीं। विनोद में किसी को कितना ही मारो उसे दुःख नहीं होता, परन्तु क्रोध से आँख दिखलाना ही

अपमान दुःख आदि का कारण हो जाता है। यह साधारण उदाहरण जीवन के प्रत्येक कार्य में मूर्तिमान रूप में दिखाई देता है। व्यवहार में जो अनेक प्रकार की शत्रुताओं का अस्तित्व पाया जाता है, वह सिर्फ़ इतनी ही बात से दूर हो सकता है कि हम अपनी गलती सच्चे दिल से स्वीकार कर लें। मानव-हृदय ही नहीं, प्राणि-हृदय प्रेम का भूखा है। प्रतिक्रमण से यही प्रेम प्रगट होता है, इसलिये प्रतिक्रमण अत्यावश्यक है।

यहाँ जिन आवश्यकों का वर्णन किया जाता है उनके स्थान में यह प्रतिक्रमण ही रक्खा जाना चाहिये। बाकी आवश्यकों में जो उपादेय तत्त्व हैं, वे भी इसी के भीतर डाले जा सकते हैं। स्तुति, वन्दना, प्रत्याख्यान आदि प्रतिक्रमण की भूमिका मात्र हैं। इसलिये साधु के लिये प्रतिक्रमण मूल-गुण में रखना उचित है।

यह बात पहिले भी कही जा चुकी है कि संयम को नियमों से नहीं बाँधा जा सकता, इसलिये प्रतिक्रमण भी नियमों से नहीं बाँधा जा सकता : प्रतिक्रमण का क्या लक्ष्य है, इस बात को समझकर, हानि लाभ को तौलकर शुद्ध अन्तःकरण से इसका पालन करना चाहिये। इसलिये कहाँ, कब, किसके साथ, कैसा प्रतिक्रमण करना चाहिये यह सब विचारणीय है, परंतु ध्येय की तरफ़ दृष्टि लगाकर अगर इसका पालन किया जाय तो प्रतिक्रमण सम्बन्धी अनेक समस्याएँ हल हो सकती हैं।

पाँचवाँ आवश्यक प्रत्याख्यान है। भविष्य के लिये अयोग्य कार्यों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। वास्तव में यह प्रतिक्रमण

में आ जाता है, इसलिये इसको अलग कहने की कोई ज़रूरत नहीं है। इसके नाम पर जो छोटी-छोटी बातों की प्रतिज्ञाएँ ली जाती हैं वे भले ही ली जावें; परन्तु वे तो सब अभ्यास के लिये हैं तथा महत्त्वपूर्ण भी नहीं हैं। इसलिये प्रत्याख्यान को मूल-गुण में अलग स्थान नहीं दिया जा सकता।

इसके बदले में कहीं कहीं स्वाध्याय रक्खा गया है। स्वाध्याय एक प्रकार से आवश्यक है, फिर भी इसे मूल-गुण में नहीं रख सकते; क्योंकि साधु के सामने अगर सेवा वगैरह का महत्वपूर्ण कार्य हो तो स्वाध्याय न भी करे तो कोई हानि नहीं।

**प्रश्न**—स्वाध्याय पाँच तरह का है। पढ़ना, प्रश्न करना, विचार करना, ज़ोर ज़ोर से याद करना, उपदेश देना। इस में से कोई न कोई स्वाध्याय प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये। जो लोग विद्वान हैं वे उपदेश देकर स्वाध्याय करें, और जो साधारण ज्ञानी हैं वे पाँचों में से कोई एक ज़रूर करें। साधु संस्था में ज्ञान आवश्यक मालूम होता है और ज्ञानके लिये स्वाध्याय आवश्यक है।

**उत्तर**—सेवा के ऐसे अवसर बहुत हैं जब किसी को व्याख्यान देने की फुर्सत न हो और हो तो उसकी ज़रूरत न हो। साधु के लिये पुस्तक का पढ़ना पढ़ाना इतना आवश्यक नहीं है जितनी कि लोक-सेवा।

**प्रश्न**—तब आप लोक-सेवा को ही मूल-गुण क्यों नहीं कहते? बाकी सब मूल-गुण उठा दीजिये। ख़ासकर प्रतिक्रमण की कोई ज़रूरत नहीं रह जाती।

**उत्तर**—अन्य मूल-गुण लोक-सेवा के लिये अत्यावश्यक हैं।

जो मनुष्य अहिंसा, सत्य आदि का पालन नहीं करता, इंद्रियों को वश में नहीं रखता, समभाव नहीं रखता, वह लोक-सेवा क्या करेगा ? लोक सेवा के बहाने वह दुःस्वार्थ साधना तथा अनेक अनर्थ ही करेगा । प्रतिक्रमण तो लोक-सेवा में अत्यावश्यक है, क्यों कि जब तक वह अपनी भूलों को न देखेगा तब तक वह सेवा के बदले में असेवा ही अधिक करेगा । प्रतिक्रमण स्वयं भी एक लोक-सेवा है ।

**प्रश्न**–यदि आप अन्य मूल-गुणों को लोक-सेवा के लिये इतना आवश्यक समझते हैं तो क्या ज्ञान आवश्यक नहीं है ? बिना ज्ञान के वह सेवा असेवा का तत्व क्या समझेगा ? संयम के लिये ज्ञान तो अनिवार्य है, इसलिये उसे मूल-गुण में रखना चाहिये ।

**उत्तर**–ज्ञानयुक्तता अर्थात् संयम तथा लोक-सेवा के लिये जितने ज्ञान की आवश्यकता है उतना ज्ञान धारण करना वास्तव में मूल-गुण है । परन्तु स्वध्याय और ज्ञानयुक्तता में अन्तर है । जो मनुष्य ज्ञानी है, वह अगर स्वाध्याय नहीं करता तो भी साधु रह सकता है । परन्तु जो ज्ञानी नहीं है किन्तु स्वाध्याय से ज्ञानी बनना चाहता है, वह तब तक साधु नहीं बन सकता जब तक ज्ञानी न हो जावे । स्वाध्याय से ज्ञानी बन सकता है, परन्तु जब तक वह ज्ञानी न बन जाय तब तक उसे साधु-संस्था का उम्मेदवार ही रहना चाहिये । साधु-संस्था में प्रवेश पाने के लिये ज्ञानयुक्तता एक आवश्यक शर्त है, अन्यथा अनेक निरक्षर भट्टाचार्य साधु-संस्था को प्रभावहीन बना देंगे ।

**प्रश्न**—ज्ञानयुक्तता को अगर आप मूल-गुण बना देंगे तब तो पंडितों के सिवाय दूसरा कोई साधु-संस्था में प्रवेश न कर पायगा। इस प्रकार तो आप अल्पज्ञानियों से एक प्रकार से साधुता छीन रहे हैं। हम नहीं समझते कि कोई सेवा-भावी सज्जन निःस्वार्थ भाव से समाज की सेवा करना चाहता हो तो अधिक ज्ञानी न होने से ही उसकी सेवा अस्वीकार क्यों कर दी जाय?

**उत्तर**—ज्ञानी होने के लिये पंडित होना आवश्यक नहीं है। वह मातृभाषा में अपने विचार प्रकट कर सके, तथा तत्व को समझ सके, इतना ही आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि बाह्यज्ञान का माध्यम सदा सर्वत्र एक सा नहीं रक्खा जा सकता। एक जमाने में जितने ज्ञान से लोग पंडित कहलाते हैं दूसरे जमाने में उतने ज्ञान से गणनीय विद्यार्थी भी नहीं कहलाते। इसलिये उस समय साधु-संस्था में प्रवेश करने के लिये ज्ञान का जो माध्यम रक्खा जा सकता था, उतना आज नहीं रक्खा जा सकता। समाज की सेवा करने के लिये साधारण समाज से कुछ विशेष ज्ञान होना आवश्यक है, भले ही वह बड़ा पंडित न हो। हाँ, साधु-संस्था में पदाधिकारी होने के लिये विशेष विद्वान होना भी अनिवार्य है। तात्पर्य यह है कि साधु-संस्था के सभ्य को इतना ज्ञान अवश्य रखना चाहिये जिससे लोगों पर उसका कुछ प्रभाव पड़ सके तथा सेवा और आत्मोद्धार के कार्य में सुविधा हो। तीसरी बात यह है कि यह साधु-संस्था में प्रविष्ट होने की शर्त है, साधुता की शर्त नहीं। साधुता और साधु-संस्था की सदस्यता में अन्तर है।

इस प्रकार स्वाध्याय नहीं, किन्तु ज्ञानयुक्तता साधु-संस्था के

सदस्य का एक मूल-गुण कहलाया।

छट्ठा आवश्यक **कायोत्सर्ग** है। इसका अर्थ है शरीर का त्याग अर्थात् शरीर से ममत्व छोड़ना। इसके लिये आजकल खड़े होकर कुछ जाप जपने की क्रिया भी प्रचलित है। शरीर से ममत्व छोड़ना अर्थात् अपने स्वार्थ को गौण बना देना, कष्टों से न डरना आदि अच्छी बातें हैं; परन्तु उसको अलग गिनाने की ज़रूरत नहीं है। वास्तव में समभाव तथा इन्द्रिय-विजय करने से सच्चा कायोत्सर्ग हो जाता है।

**केशलोंच** भी मुनियों का मूल-गुण माना जाता है। कम से कम दो मास और अधिक से अधिक चार मासमें * साधु को सिर के, दाढ़ी के और मूँछों के बाल उखाड़ डालना चाहिये। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यद्यपि यह मूल-गुणों में नहीं रक्खा गया है, फिर भी दिगम्बरों के समान उनमें भी यह एक अनिवार्य नियम माना जाता है। साधु कष्टसहिष्णु है कि नहीं, इसकी जाँच के लिये यह मूल-गुण बनाया गया है। कायर लोग साधु-संस्था में न घुस आवें, इसके लिये भी यह मूल-गुण उपयोगी हुआ था। उस समय को देखते हुए इस प्रकार शारीरिक कष्ट सहन उपयोगी समझा गया; परन्तु आज इसकी ज़रूरत नहीं है। सच्ची साधुता शारीरिक कष्ट-सहन में नहीं है; बल्कि इससे तो अनेक गुणहीन व्यक्ति साधु-संस्था में घुस जाते हैं और त्यागी विद्वान् लोग नहीं जा पाते। हाँ, आवश्यकता हो तो यह कष्ट भी सहन किया

---

* बिय तिय चउक्कमासे लोचो उक्कस्स मज्झिम जहण्णो।
सपडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो। मूलाचार १-२९।

जाय, परन्तु इससे किसी का कुछ लाभ तो है ही नहीं, तब निरर्थक कष्ट की क्या आवश्यकता है ? हाँ, कष्ट-सहिष्णुता बढ़ाने के लिये काय-क्लेश आदि तप किया जा सकता हैं; परन्तु काय-क्लेश तो इच्छानुसार होता है, वह कोई अनिवार्य शर्त नहीं है। केशलौंच को मूल-गुण बनाना इस समय बिलकुल निरुपयोगी है।

**प्रश्न**—साधु तो निष्परिग्रह होता है; उसके पास उस्तरा वगैरह नहीं हो सकते और न वे दीनता दिखला सकते हैं जिस से क्षौर कराने के लिये किसी से प्रार्थना करें। इसलिये लौंच के सिवाय उनके पास दूसरा उपाय क्या है ?

**उत्तर**—निष्परिग्रहता का यह अर्थ नहीं है कि वह स्वच्छता के उपयोगी उपकरण भी न रक्खे। खैर, यहाँ तो साधुता और अपरिग्रहता की उदार व्याख्या की गई है, इसलिये यह प्रश्न खड़ा ही नहीं होता, परन्तु दूसरी बात यह है कि प्राचीन परम्परा के अनुसार भी क्षौर-कर्म में कोई बाधा नहीं आती; क्योंकि जब साधु को पढ़ने के लिये पुस्तकें मिलती हैं, पहिनने के लिये कपड़े मिलते हैं, व खाने के लिये भोजन और बीमारी में औषध मिलती है, तब क्षौर के लिये एकाध उपकरण न मिले या कोई क्षौर न करा दे, यह कैसे हो सकता है ? जिस प्रकार श्रावक आहार-दान करते हैं, उसी प्रकार क्षौर-दान भी कर सकते हैं, इसलिये अपरिग्रह की ओट में क्षौर का विरोध नहीं किया जा सकता। हाँ, कष्ट-सहिष्णुता की परीक्षा के नाम पर ही इसका कुछ समर्थन किया जा सकता है, परन्तु आजकल तो वह भी ठीक नहीं है। किसी की इच्छा हो और इस तरह के काय-क्लेश का अभ्यास करना हो तो वह

भले हीं करें, परन्तु यह न तो मूल-गुणों में रक्खा जा सकता है, न उत्तर-गुणों में।

**नग्नता**—यह दिगम्बर सम्प्रदाय के साधुओं के लिये मूल-गुण है। म० महावीर के समय में बहुत से जैन साधु नग्न रहते थे। स्वयं महात्मा महावीर भी नग्न रहते थे, फिर भी उस समय यह मूल-गुण नहीं था। दिगम्बर श्वेताम्बर भेद हो जाने के बाद जब दोनों पक्षों में तनातनी होने लगी, तब से दिगम्बर लोगों ने आवश्यकता से अधिक इस पर ज़ोर दिया और इसे मुनियों के लिये मूल-गुण बना दिया; और श्वेताम्बरों ने नग्नता का विच्छेद कर दिया। परन्तु मालूम ऐसा होता है कि महात्मा महावीर के समय में दोनों तरह के साधु होते थे। जिन-कल्पी साधु नग्न रहते थे और स्थविर-कल्पी वस्त्र धारण करते थे। जिनकल्प और स्थविर-कल्प, ये दोनों शब्द ही कुछ अपना इतिहास बताते हैं। अगर इन शब्दों का सीधा अर्थ किया जाय तो जिनकल्प का अर्थ 'जिनके समान' और स्थविरकल्प का अर्थ 'वूढ़ों के समान' होता है। महात्मा महावीर जिन थे, इसलिये जो लोग उनके समान नग्न रहते थे वे जिनकल्पी कहलाते थे और जो लोग स्थविर अर्थात् बूढ़े—पुराने—म० महावीर से भी पहिले के अर्थात् म० पार्श्वनाथ के अनुयायिओं के समान रहते थे अर्थात् वस्त्रधारी थे, वे स्थविरकल्पी कहलाते थे। इससे मालूम होता है कि जैन सम्प्रदाय में भी वेष को इतना महत्व नहीं है।

हाँ, जिस प्रकार एक सेना के सैनिकों को एक सरीखी पोशाक पहिनना ज़रूरी समझा जाता है, जिससे वे एक दूसरे को

पहिचान सकें और साधारण जनता को भी उनको पहिचानने में सुभीता हो; इसी प्रकार साधु-संस्था में भी कोई नियत वेष (uniform dress) हो तो कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु उसे साधुता की अनिवार्य शर्त मान लेना हास्यास्पद है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी एक वेष नियत है, परन्तु उस वेष को मूल-गुण नहीं बनाया गया। और, शास्त्रों में तो वेष की उदारता के प्रमाण दोनों सम्प्रदायों में पाये जाते हैं। अन्तर इतना ही है कि श्वेताम्बर शास्त्रों में उस उदारता का विस्तृत वर्णन है और दिगम्बर शास्त्रों में संक्षिप्त, परन्तु इससे इतना तो मालूम होता है कि दोनों सम्प्रदायों में वेष सम्बन्धी उदारता है।

श्री उमास्वातिकृत तत्वार्थ भाष्य में स्पष्ट लिखा है:—

"लिंग दो तरहका है, द्रव्यलिंग और भावलिंग। भावलिंग की अपेक्षा से सभी मुनि भावलिंग में होते हैं अर्थात् मुनि तत्व के परिणाम सबमें पाये जाते हैं, परन्तु द्रव्यलिंग की अपेक्षा उनमें* भेद है अर्थात् उनका वेष अनेक तरह का हो सकता है"।

"द्रव्यलिंग तीन तरह का होता है। अपना लिंग अर्थात् जैन मुनि का वेष, अन्य मुनियों का वेष और गृहस्थों का वेष। इनमें से किसी भी वेष से मोक्ष † प्राप्त होता है"।

दिगम्बर आचार्य श्री पूज्यपाद के शब्द भी भाष्य से मिलते

---

* लिंगं द्विविधं द्रव्यलिंगं भावलिंगं च। भावलिंगं प्रतीत्य सर्वे पञ्च निर्ग्रन्था भावलिंगे भवन्ति द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः। तत्वार्थभाष्य ९—४९।

† द्रव्यलिंगं त्रिविधं स्वलिंगं, अन्यलिंगं गृहिलिंगं इति तत्प्रति भाज्यम्। १०—७

जुलते हैं। और इन्हीं के शब्द आचार्य अकलङ्क देव ने भी ज्यों के त्यों उद्धृत किये हैं—

"भावलिंग की अपेक्षा से पाँचों ही निर्ग्रंथ होते हैं, द्रव्य-लिंग की अपेक्षा से * उनमें भेद है।

इस प्रकार दोनों सम्प्रदायों में नियत वेष को कोई महत्व नहीं है। दोनों ही सम्प्रदाय, वेष का साधुता के साथ कोई घनिष्ट सम्बन्ध नहीं बताते। यद्यपि पीछे से दुराग्रहवश वेष की कट्टरता भी आ गई है, परन्तु इस कट्टरतारूपी धूलि के नीचे उदारता की चमक बिलकुल साफ़ मालूम होती है। दिगम्बराचार्य श्री कुंदकुंद इसीलिये ‡ कहते हैं—

'भाव ही वास्तविक लिंग है, द्रव्य-लिंग वास्तविक लिंग नहीं है, क्योंकि गुण और दोषों का कारण भाव ही है।'

कहने का मतलब यह है कि जहाँ समभाव है वहीं साधुता है, फिर भले ही वह नग्न रहता हो या कपड़े पहिनता हो, जैन वेष में रहता हो या अन्य किसी वेष में, साधु का वेष रखता हो या गृहस्थ का। उपाध्याय श्री यशोविजय † का कहना इस विषय में बहुत ही ठीक है—

---

* भावलिंगं प्रतीत्य पंच निर्ग्रन्थलिंगिनो भवन्ति द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः सर्वार्थसिद्धि ९–४७ राजवार्तिक ९–४७–४।

‡ भावो य पढमलिंगं ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं। भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा विंति। भावप्राभृत

† अन्यलिंगादि सिध्दानामाधारः समतैव हि। रत्नत्रय फलप्राप्तेर्यया स्याद्भावजैनता। अध्यात्मसार–समताधिकार–५०।

"जैन लिंग को छोड़कर अन्य लिंग—दंड, कमण्डलु, त्रिदंड आदि—से जो लोग मुक्ति प्राप्त करते हैं उसका कारण समभाव ही है। इसीसे रत्नत्रय का फल प्राप्त होता है, जिससे सच्चा जैनत्व मिलता है।"

वेष की उदारता के—दिगम्बर सम्प्रदाय में—प्रमाण तो मिलते ही हैं, परन्तु प्रवृत्तिरूप में भी यह उदारता आ चुकी है। भट्टारक लोग—जो कि शाही ठाटबाट से रहते थे और अब भी रहते हैं—दिगम्बर ही माने जाते हैं, और उनमें कई तो अपने को कट्टर दिगम्बर समझते थे और हैं। वेष की उदारता का यह प्रबल प्रमाण है, साथ ही इसमें कुछ अतिरेक भी है जो कि आवश्यकतावश करना पड़ा था। क्या ही अच्छा होता यदि यह उदारता उसी समय आ गई होती जब कि दिगम्बर, श्वेताम्बर नाम के दो संघ पैदा हुये थे।

व्यावहारिक उदारता के कुछ नमूने और भी पेश किये जा सकते हैं। जब नग्न मुनियों को देखकर लोग उपद्रव करने लगते थे, तब उनके आचार्य चटाई वगैरह लपेटने की आज्ञा दे देते थे, अथवा कभी कभी जब कोई प्रभावशाली व्यक्ति मुनि होना चाहता था, किन्तु पुरुषचिन्ह वगैरह में दोष होने से वह लज्जित होता था, अथवा ठंड वगैरह नहीं सह सकता था तब उसके लिये दिगम्बर मुनि होते हुए भी नग्नता की शर्त उठा ली जाती* थी।

* कलौ किल नग्नं दृष्ट्वा उपद्रवं यतीनां कुर्वन्ति तेन मण्डपदुर्गे श्री वसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलायां तट्टीसादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं

इससे इतना तो मालूम होता है कि न तो दिगम्बर सम्प्रदाय
में वेष की एकान्तता थी, न श्वेताम्बर सम्प्रदाय में। व्यावहारिक
उदारता भी दोनों सम्प्रदायों में रही है तथा वास्तविक साधुता का
नग्नता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिये नग्नता को मूल-गुण
में स्थान नहीं मिल सकता।

नग्नता हरएक सम्प्रदाय में रही है, परन्तु किसी सम्प्रदाय
के लिये अनिवार्य नियम बना लेना ठीक नहीं है। साथ ही इस बात
का ख्याल रखना चाहिये कि इससे किसी को कष्ट न हो।
जहाँ नग्नता का रिवाज़ मृतप्राय हो वहाँ नग्न रहकर स्वतंत्र विहार
करना महिलाओं के साथ अन्याय करना है।

प्रश्न—जब नग्न बच्चों को देखकर स्त्रियों को बुरा नहीं
मालूम होता, और पशुओं को देखकर भी बुरा नहीं मालूम होता
तब मुनियों को देखकर बुरा क्यों मालूम होगा?

उत्तर—जिस प्रकार छोटे छोटे बालकों और बैलों को नग्न
देखकर स्त्रियों को बुरा नहीं मालूम होता, उसी प्रकार छोटी छोटी
बालिकाओं और गायों को नग्न देखकर पुरुषों को बुरा नहीं मालूम
होता, तब क्या इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिस
प्रकार पुरुष नग्न-साधु बनकर स्त्रियों के सामने निकलते हैं उसी
प्रकार स्त्रियाँ भी नग्न साध्वी बनकर पुरुषों के सामने निकला करें।
यदि नग्न स्त्रियों को पुरुष सहन नहीं कर सकते तो नग्न पुरुषों को

---

कृत्वा पुनस्तन्तु कन्तीत्युपदेशः कृतःसंयमिनां इत्यपवाद वेषः। तथा नृपादित्र-
गोत्पन्नः परम वैराग्यवान् लिंगशुद्धिरहितः उत्पन्नमेहनदोषः लज्जावान् वा
शीताद्यसहिष्णुर्वा तथा करोति सोऽप्यपवादः प्रोच्यते। दर्शनप्राभृत टीका—२४।

स्त्रियाँ कैसे सहन कर सकती हैं ? खैर, किसका नग्न दर्शन आपत्तिरहित है, और किसको नहीं—इस विषय की संक्षेप में मनोवैज्ञानिक मीमांसा कर लेना चाहिये।

बात यह है कि जिनके जिन चिन्हों को देखकर रति-कर्म की अत्यधिक स्मृति होती है, उनको देखने का त्याग कराया जाता है। पशुओं के साथ मनुष्य का कोई लैंगिक सम्बन्ध न होने से उनको नग्न देखकर के भी हमारी वह स्मृति जागृत नहीं होती या अत्यल्प जागृत होती है, इसलिये पशुओं की नग्नता विचारणीय नहीं है। बालकों के विषय में भी यही बात है। पशुओं में जहाँ जातीय विषमता है, बालकों में वहाँ परिमाण लघुता से विषमता है। यह विषमता रति-कर्म की स्मारकता को शून्य-प्राय कर देती है, इसलिये पशु और बालकों की नग्नता असह्य नहीं होती। साधु के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। वह भले ही वीतराग हो, परन्तु उससे उसके अङ्ग नहीं मिट जाते, उनकी स्मारकता नहीं चली जाती।

प्रश्न—नग्नता का प्रश्न सिर्फ वेष का ही प्रश्न नहीं है, किन्तु निष्परिग्रहता का भी प्रश्न है। मुनि को पूर्ण अपरिग्रही होना आवश्यक है, जब कि कपड़ा रखने से पूर्ण निष्परिग्रहता का पालन नहीं हो सकता।

उत्तर—अपरिग्रह-व्रत का विवेचन पहिले इसी अध्याय में किया जा चुका है। उससे माॡम हो जाता है कि अगर आसक्ति न हो, संग्रह करने की वासना न हो तो 'कपड़ा' परिग्रह नहीं कहला सकता। अनासक्ति की अवस्था में 'कपड़ा' दया तथा स्वास्थ्य-

रक्षा-का उपकरण है । नग्न देखकर दूसरों को कोई कष्ट न हो-इस प्रकार की दया से अंग ढकने लायक कपड़ा रखना 'कपड़े' को दया का उपकरण बनाना है, तथा शीतादि कष्ट से स्वास्थ्य नष्ट न हो जाय-इस विचार से 'कपड़ा' स्वास्थ्योपकरण बनता है । मुनि को शरीर की पर्वाह नहीं होती, इसका यह मतलब नहीं है कि वह आवश्यकता के बिना भी स्वास्थ्य-नाश करता है । कर्तव्य के लिये शरीर का उत्सर्ग करना या उसकी पर्वाह न करना एक बात है और व्यर्थ ही कष्ट उठाना-दूसरी । इस दूसरी बात से अपरिग्रह का कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि कभी कभी विवेकशून्यता तथा हठ-ग्राहिता के कारण इसका सम्बन्ध मिथ्यात्व से हो जाता है ।

किसी चीज़ का उपयोग करने से ही वह परिग्रह नहीं हो जाती । नहीं तो जमीन पर चलने से जमीन भी परिग्रह हो जाय । इसी प्रकार भोजन करने से अन्न और जल भी परिग्रह हो जाय । आ-सक्ति होने पर शरीर भी परिग्रह है । भावलिंग के वर्णन में शरीर को भी परिग्रह कहा है और सच्चा साधु बनने के लिये शरीर के त्याग का * भी उपदेश है । परन्तु शरीर का त्याग कर देने पर वह जीवित ही कैसे बचेगा ? इसलिये शरीर त्याग का मतलब उस से ममत्व अर्थात आसक्ति का त्याग है । कर्तव्य मार्ग में शरीर-प्रेम

---

* देहादि संग रहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥ —भावप्राभृत ५६ ।

देहो बाहिरगन्थो अण्णो अक्खाण विसय अहिलासो ।
तेसिं चाए खवओ परमत्थे हवइ णिग्गंथो ॥ —आराहणासार । ३३

बाधक न बन जाय, यही भावना शरीर की अनासक्ति है। कपड़े के विषय में भी यही भावना रखते हुए उससे स्वास्थ्य-रक्षा आदि करना चाहिए।

अगर नग्नता को निष्परिग्रहता का अनिवार्य चिन्ह बना लिया जाय तो साइबीरिया आदि देशों में साधु-संस्था का खड़ा करना असंभव हो जायगा। काश्मीर आदि में भी शीतऋतु में नग्न रहना कठिन है। वहाँ नग्न रहने से शीघ्र ही स्वास्थ्य ख़राब हो जायगा। तब वह आत्मोपकार और जगत्सेवा करने के बदले आत्मापकार करेगा तथा दूसरों से सेवा करायगा, इसलिये नग्नता के लिये एकान्त आग्रह न रखना चाहिये।

नग्न वेष वहीं उचित कहा जा सकता है, जहाँपर नग्न रहने की प्रथा खूब फैल गई हो, स्त्री-पुरुष नग्न रहने लगे हों, अथवा वस्त्र इतने दुर्लभ हो गये हों, कि लँगोटी लगाने से भी समाज के ऊपर बोझ पड़ता हो, आदि। द्रव्य-क्षेत्र काल-भाव के अनुसार इसका निर्णय कर लेना चाहिये, परन्तु नग्नता के बिना साधुता नहीं रह सकती—यह एकान्त आग्रह कदापि न रखना चाहिये, इसलिये नग्नता को मूल-गुण नहीं माना जा सकता।

**अस्नान और अदंतमण**—स्नान नहीं करना और दतौन नहीं करना, ये भी मूलगुण में शामिल समझे जाते हैं। ढाई हजार वर्ष पहिले मुनियों के लिये सम्भवतः इस व्रत की जरूरत हुई होगी, परन्तु आज इसकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है। यह भी सम्भव है कि दिगम्बर, श्वेताम्बर भेद हो जाने के बाद ही इन्हें मूलगुण में स्थान मिला हो। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मूलगुणों में

इनका नाम नहीं है, यद्यपि पालन तो उनके यहाँ भी होता है। स्नान से स्वच्छता आती है और कभी कभी स्वच्छता से शृङ्गारी भाव पैदा हो जाते हैं तथा इससे वस्त्र-पात्र का परिमाण भी बढ़ाना पड़ता है, इसलिये यह नियम बनाया गया था। उस समय साधु भी जंगल के स्वच्छ वातावरण में रहते थे, इसलिये अस्नान की स्वास्थ्य सम्बन्धी हानियाँ न खटकती थीं, परन्तु आज वे खटकतीं हैं। मलिनता से कृमि आदि पैदा होते हैं, दुर्गंध पैदा होती है—जो अपने को और दूसरों को निरर्थक कष्ट देती है, इसलिये स्नान करना आवश्यक है। दंतवन तो और भी अधिक आवश्यक है। अगर पशु की तरह रूक्ष आहार लिया जाय, भूख से अधिक न खाया जाय तो यों भी दाँत साफ़ रह सकते हैं। सम्भवतः इसी आशय को लेकर यह व्रत बनाया गया हो, जिससे लोग दुर्गंध के भय से बहुत क़ीमती आहार लेकर समाज पर अधिक बोझ न डालें; परन्तु उसका असली उद्देश्य तो नष्ट हो गया, सिर्फ़ बाहिरी क्रिया बची रही। दँतौन न करने का व्रत उन्हीं को पालन करना चाहिये जिनके दाँत दँतौन न करने पर भी स्वच्छ रह सकते हों। जिनके दाँतों में स्वच्छता नहीं रह पाती, दुर्गंध आती है, उनको दाँत साफ़ करना ही चाहिये।

कहा जाता है कि दाँत साफ़ करने से दाँतों के कीड़े मरते हैं। यदि ऐसा है तब तो दाँत अवश्य साफ़ करना चाहिये अन्यथा दाँतों के कीड़े धीरे धीरे इतनी अधिक संख्या में वहाँ अड्डा जमा लेंगे कि थोड़ी-सी भी हरकत से वे मरेंगे, हिंसा किये बिना दाँतों को हिलाना भी मुश्किल होगा। इसलिये यह अच्छा है कि निरन्तर

की इस महान हिंसा से बचने के लिये प्रारम्भ में थोड़ी-सी हिंसा कर ली जाय। यह विवेक पूर्ण अहिंसा ही कहलायगी। इस दृष्टि से उपवास के दिन भी दँतौन करना उचित है।

**भू-शयन**—जमीन पर सोना भी एक मूल-गुण है। साधु की कष्ट-सहिष्णुता तथा निष्परिग्रहता को बढ़ाने के लिये तथा आरामतलबी को दूर करने के लिये यह नियम बनाया गया था। अपने समय के लिये यह बहुत उपयोगी था, और अमुक अंश में आज भी उपयोगी है। उस समय साधु-संस्था को परिव्राजक अर्थात् भ्रमणशील बनाना जरूरी था, इसलिये अगर भू-शयन का नियम न होता तो मुनि लोगों के सिर पर सामान का इतना बोझ हो जाता कि वे स्वतंत्रता से भ्रमण नहीं कर सकते थे, इसलिये भक्तों को उनके साथ नौकर-चाकर रखना पड़ते, रास्ते में अगर कोई बिस्तर चुरा लेता तो बेचारे मुनियों की गति ही रुक जाती, इसलिये यह नियम बनाकर बहुत अच्छा किया गया। परन्तु आज गमनागमन के साधन बदल गये हैं तथा सुलभ हो गये हैं, उस की आवश्यकता भी बढ़ गई है, साथ ही वस्त्रादि का उत्पादन भी बढ़ गया है। सेवा करने के तरीक़े भी बदल गये हैं। इसलिये यह व्रत सिर्फ़ अभ्यास के लिये ही रखना चाहिये, मूल-गुण में डालने लायक नहीं है। हाँ, साधु में इतनी मानसिक सहन-शक्ति अवश्य होना चाहिये कि वह आवश्यकता पड़ने पर सन्तोष के साथ भू-शयन कर सके।

**खड़े आहार लेना**—यह भी एक मूल-गुण समझा जाता है। जब साधु नग्न रहता था, पात्र नहीं रखता था, और श्रावक

के यहाँ भोजन लेता था और स्नान नहीं करता था, तब उसके लिये यह उचित था कि वह खड़े-खड़े आहार ले; क्योंकि बैठकर आहार लेने पर अन्न से उसका शरीर भिड़ जायगा, जिसके लिये उसे स्नान करना पड़ेगा, इसलिये जिन-कल्पी साधु के लिये यह नियम उचित था। परन्तु जब नग्नता आदि के नियम आवश्यक न रहे, न अस्नान-व्रत रहा, तब खड़े आहार लेने की कोई ज़रूरत नहीं रही। आजकल यह बिलकुल अनावश्यक है।

**एक ही बार भोजन लेना**—यह नियम है तो अच्छा, फिर भी मूल-गुण में रखने लायक नहीं है; क्योंकि एक ही बार भोजन करने से जहाँ एक तरफ़ स्वास्थ्य-हानि है, वहाँ दूसरी तरफ़ स्वास्थ्य-हानि के साधनों की कमी नहीं होती। एकभुक्ति से यह समझा जाता है कि मनुष्य कम खायगा। परन्तु, जब सदा के लिये यह नियम बन जाता है तब कम खाने की बात निकल जाती है, एक ही बार में दो बार का भोजन पहुँच जाता है। अपथ्य और अजीर्ण की सारी शिकायतें ज्यों की त्यों हो जाती हैं, बल्कि दूसरी बार भोजन न मिलने की आशा से ज़रूरत से ज्यादा भी ठूँस लिया जाता है। अजीर्ण आदि रोकने के लिये एक भुक्ति का नियम बिलकुल व्यर्थ है। यह बात तो खानेवाले की इच्छा पर निर्भर है कि वह अजीर्ण से बचा रहे।

हाँ, भोजन की लोलुपता को रोकने में थोड़ी बहुत सहायता मिल सकती है, परन्तु वह भी इच्छा पर निर्भर है, अन्यथा एक भुक्ति में भी रसना-इन्द्रिय की आज्ञा के अनुसार मनमाना नाच किया जा सकता है, इसलिये एकभुक्ति को मूल-गुण बनाना

उचित नहीं । हाँ, समय की बचत के लिये यह शिक्षा-व्रत के स्थान पर रक्खा जा सकता है । उसमें पानी की तथा औषध की छुट्टी सदा के लिये होना चाहिये । बीच में आवश्यकता होने पर भी पानी न पीने से स्वास्थ्य को धक्का लगता है । इससे अपने कर्तव्य में हानि होती है और दूसरों की परेशानी बढ़ती है, इसलिये पानी न रोकना चाहिये । उपवास में भी पानी पीना उचित है ।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में जो २७ मूल-गुण कहे गये हैं, उन में दो तरह के पाठ हैं । पहिले- समवायांग के पाठ के अनुसार अहिंसादि पाँच व्रत दोनों सम्प्रदायों में हैं जिनको मैंने यहाँ भी स्वीकार किया है । सिर्फ़ उनकी व्याख्या समयानुसार की है । पाँच इन्द्रिय-विजय के विषय में भी कह चुका हूँ । बाकी मूल-गुण कुछ अव्यवस्थित, पुनरुक्त और अस्पष्ट मालूम होते हैं । क्रोध—मान-माया—लोभ के त्याग को चार मूल-गुण माना है, परन्तु ये ऐसी बातें है जिनका निर्णय करना कठिन है, बल्कि यों कहना चाहिये कि इनको दूर करने के लिये तो साधु-संस्था में प्रवेश है । फिर इनको मूल-गुण में रखने का क्या मतलब ? आगे तीन तरह के सत्य, तीन मूल-गुण माने गये हैं । उनमें भाव-सत्य, का अर्थ है—अन्तरात्मा को शुद्ध रखना । इसके लिये तो चारित्र के सारे नियम हैं, फिर इसको मूल-गुण बनाने की ज़रूरत क्या है, अथवा सिर्फ़ इसे ही मूल-गुण बना लेना चाहिये और बाकी मूल-गुणों को दूर कर देना चाहिये । करण-सत्य का अर्थ है, सफाई आदि का कार्य सतर्कता से करना । पहिले समितियों का जो वर्णन

किया है उनमें इसका समावेश हो जाता है । समितियों को मैंने मूल-गुण में नहीं रक्खा है, इसलिये यह भी मूल-गुण में शामिल न कहलाया । योग-सत्य अर्थात् मन-वचन-काय की सचाई । यह भी ऐसा मूलगुण है जो किसी विशेषता की तरफ़ संकेत नहीं करता, अथवा माया-कषाय के त्याग में इसका समावेश हो जाता है । क्षमा को अलग स्थान देना भी ठीक नहीं है । यह तो क्रोध-त्याग में आ जाता है । यद्यपि इन दोनों में भेद बतलाने की कोशिश की गई है कि क्रोध को पैदा न होने देना क्षमा है और पैदा हुए क्रोध को रोक देना—क्रोध-विवेक है । परन्तु इस प्रकार के सूक्ष्म अन्तर की कल्पना करके, तथा क्षमा की व्याख्या को संकुचित करके मूलगुणों की संख्या बढ़ाना ठीक नहीं है । इसी प्रकार का सूक्ष्म अन्तर अन्य मूलगुणों में भी बताया जा सकता है, परन्तु वह निरर्थक क्लिष्ट कल्पना है ।

**ज्ञानयुक्तता**—को अवश्य ही मूलगुण में स्थान दिया जा सकता है, क्योंकि बिना ज्ञान के समाज-सेवा नहीं की जा सकती । साधु-संस्था में बहुत से मूढ़ अक्षर-शत्रु घुस जाते हैं, इसलिये ज्ञानयुक्तता को अवश्य ही मूलगुणों में रखना चाहिये ।

ज्ञानयुक्तता का यह अर्थ नहीं है कि संस्कृत, प्राकृत, इंग्लिश, अरबी, फारसी का जानकार हो जाय, या किसी विषय का जीता जागता शब्द-कोष या पद्य-कोष बन जाय; किन्तु जिसमें समझदारी हो, विवेक हो, कर्तव्याकर्तव्य का दूसरों को भान करा सकता हो—वह ज्ञानयुक्त है । इस विषय का माध्यम देश-काल के अनुसार बदलता रहेगा । जहाँ स्त्री-शिक्षा का कम प्रचार

हो, वहाँ जितनी शिक्षा से किसी स्त्री को विदुषी कहा जा सकता है, उतनी ही शिक्षा से किसी को विद्वान नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जंगली जातियों में या पिछड़ी हुई जातियों में जितने शिक्षण से कोई विद्वान कहलाता है उतने से शिक्षण में समुन्नत जाति या देश में कोई विद्वान नहीं कहला सकता। ज्ञानयुक्तता का अर्थ करते समय यह दृष्टि-बिन्दु ध्यान में रखना चाहिये। मतलब यह है कि साधु-संस्था में ऐसे अयोग्य आदमी न आ जाना चाहिये जिनके ज्ञान की योग्यता साधु-संस्था के कर्तव्य का बोझ न उठा सकती हो। आवश्यकता होने पर उसे उम्मेदवार के तौर पर रख सकते हैं। साधु-संस्था को कोई खास सहायता की आशा हो और कोई प्रभावशाली आदमी प्रवेश करना चाहता हो और इस नियम के अपवाद की आवश्यकता हो तो अपवाद भी किया जा सकता है।

**दर्शनयुक्तता**—भी मूलगुण में रखने योग्य है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन का विस्तृत विवेचन पहिले किया गया है। परन्तु यहाँ पर जिस अंश पर जोर देना है, वह है समभाव। साधु को समभावी अर्थात् सर्व-धर्म-समभावी होना चाहिये। साम्प्रदायिक पक्षपात न हो, अथवा उसे सत्य का ही पक्ष हो, किसी सम्प्रदाय विशेष का नहीं। साधु अर्थात् जिसे विश्वमात्र की सेवा की साधना करना है, वह समभावी हो—यह आवश्यक है।

**प्रश्न**—जिन सम्प्रदायों में अहिंसा सदाचार आदि का मूल्य

नहीं है और जिनमें उन्नति के तत्व अधिक मौजूद हैं उन दोनों में समभाव अर्थात् एक-सा भाव कैसे रक्खा जा सकता है ?

उत्तर—उन्नति के लिये उपयोगी तत्वों की अपेक्षा से न्यूनाधिकता हो सकती है, परन्तु जिस समय जो धर्म उत्पन्न हुआ था, उस समय की परिस्थिति के अनुसार विचार करने पर धर्मों के व्यक्तित्व की तरतमता बहुत कम हो जाती है। फिर भी जो न्यूनाधिकता हो उसकी हम आलोचना कर सकते हैं। परन्तु इसमें पूर्ण निःपक्षता और सहानुभूति होना चाहिये। सत्य-असत्य के विवेक को छोड़ने की ज़रूरत नहीं है परन्तु धर्म की ओट में आत्म-प्रसंशा या आत्मीय-प्रशंसा और पर निन्दा या परकीय की निन्दा को छोड़ने की ज़रूरत है। और साधु के लिये तो यह अत्यावश्यक है।

चारित्रयुक्तता को मूल-गुण बनाने की ज़रूरत नहीं है; क्योंकि पहिले जो मूल-गुण बताये गये हैं वे सब चारित्र ही हैं। अहिंसा आदि व्रत भी चारित्र हैं। इसलिये चारित्रयुक्तता से किसी विशेष गुण का या कर्तव्य का ज्ञान नहीं होता, इसलिये मूल-गुणों की नामावली में इसका नाम नहीं रक्खा जा सकता।

वेदना सहन करना, मरणोपसर्ग सहन करना—आदि अच्छी बातें हैं। साधु में साधारण लोगों की अपेक्षा कुछ कष्ट-सहिष्णुता अवश्य होना चाहिये, परन्तु इन दोनों को अलग अलग मूल-गुण नहीं कहा जा सकता। हाँ, दोनों के स्थान पर कष्ट-सहिष्णुता नाम का मूल-गुण रक्खा जा सकता है। परन्तु, इसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं हो सकती; क्योंकि इसका सम्बन्ध मन और शरीर दोनों से

है । मूल-गुणों में मानसिक सहिष्णुता को ही स्थान दिया जा सकता है । शारीरिक सहिष्णुता पर साधु का क्या वश है ? शरीर की कमज़ोरी से बाहर की छोटी-सी चोट अधिक कष्ट पहुँचा सकती है और दूसरे को शरीर की दृढ़ता से बड़ी चोट भी इतना असर नहीं पहुँचा सकती । शारीरिक शक्तियों की इस विषमता से इसका निर्णय करना कठिन है कि किसमें कितनी कष्ट-सहिष्णुता है । आखिर कष्ट-सहिष्णुता की भी सीमा है, इसलिये इसका निर्णय और भी कठिन है । फिर भी साधारणतः कष्ट-सहिष्णुता का उल्लेख करना ज़रूरी है, जिससे साधु में आरामतलबी आदि दोष न आ पावे, तथा आवश्यकता होने पर उसका ध्यान इस तरफ़ आकर्षित किया जा सके ।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सत्ताईस मूल-गुणों का जो दूसरा पाठ-प्रवचनसारोद्धारका—है, उसमें भी इसी प्रकार की अस्तव्यस्तता तथा पुनरुक्ति पाई जाती है । उनका यह दोष नामावली से ही स्पष्ट हो जाता है, इसलिये उनका विवेचन करने की कोई ज़रूरत नहीं है । सिर्फ़ दो बातों का विचार करना है । एक तो छः काय के जीवों की रक्षा, दूसरे व्रतों में रात्रि-भोजन त्याग । इस में से छः काय के जीवों की रक्षा को मूल-गुणों में शामिल नहीं कर सकते क्योंकि पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि की रक्षा के सूक्ष्म नियम आज आवश्यक हैं । तथा कभी कभी तो वे सेवा को रोकते हैं अना-वश्यक असुविधाएँ पैदा करते हैं । इसके अतिरिक्त इनमें जीवन है कि नहीं, यह बात भी अभी तक असिद्ध कोटि में है । सम्भव है कि भविष्य में इनमें जीवन सिद्ध हो सके, परन्तु अभी तो

इसकी सम्भावना कम ही है। और जब इनमें जीवन सिद्ध भी होगा तब भी इनका जीवन इतना अल्प मूल्य होगा कि उनकी रक्षा को एक गुण बनाना अनावश्यक ही रहेगा। हाँ, वनस्पतिकाय और त्रस-काय की रक्षा विचारणीय है। परन्तु, अहिंसाव्रत के विवेचन में जितना वर्णन किया गया है उससे अलग इसका कोई स्थान नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि छः काय की रक्षा का व्रत अहिंसा-व्रत में आ जाता है। उससे अधिक को मूल-गुण में लाने की कोई जरूरत नहीं है।

**रात्रिभोजनत्याग**—इस नये पाठ में रात्रि-भोजन-त्याग को मिलाकर अहिंसादि छः व्रत बनाये गये हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय के पाठ में और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रथम पाट में रात्रि-भोजन-त्याग का उल्लेख नहीं है। इससे यह तो मालूम होता है कि प्रारम्भ में मुनियों के लिये रात्रि-भोजन का त्याग अनिवार्य नहीं था। परन्तु रात्रि में यत्नाचार से चलना मुश्किल था, इसलिये रात्रि में भिक्षा भी नहीं ली जा सकती थी, इसलिये रात्रि-भोजन ठीक नहीं समझा गया। रात्रि भोजन में ईर्यासमिति और एषणासमिति का ठीक ठीक पालन न हो सकने से रात्रि-भोजन का यथाशक्य निषेध किया गया। फिर भी प्रारम्भ में इस निषेध ने मूलगुण का रूप धारण नहीं किया। थोड़े समय बाद मुनियों के लिये यह स्वतन्त्र व्रत मान लिया गया। दशवैकालिक में* यह स्वतन्त्र व्रत

---

* अहावरे छट्ठे भन्ते वए राइभोयणाओ वेरमणं।

...इच्चेयाइं पञ्च महव्वयाइं राइभोयणवेरमण छट्ठाइं अत्तहियट्ठयाए उव संपज्जित्ताणं विहरामि। ४ ६।

के रूप में मिलता है । दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख हुआ है, परन्तु यह वहाँ छट्ठे अणुव्रत के रूप में प्रचलित ‡ हुआ है । इस प्रकार जब यह श्रावकों के लिये व्रत बन गया, तब मुनियों के लिये हो, यह स्वाभाविक है । मूलाचार में यह व्रत की रक्षा के लिये † उपयोगी बताया है । सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में कहा है कि यह अहिंसाव्रत की भावना में शामिल है । परन्तु यह बात मूलाचार के विरुद्ध मालूम होता है । मूलाचार में पाँच व्रतों की रक्षा के लिये रात्रि-भोजन त्याग, आठ प्रवचनमाताएँ, और पच्चीस भावनाएँ* बतलाई गई हैं । अगर आलोकितपानभोजन भावना में रात्रि-भोजनत्याग शामिल होता तो मूलाचार में रात्रि-भोजन को भावनाओं से अलग न बताया होता । दूसरी बात यह है कि भावना तो भावना है, विचार है । वह पक्का नियम नहीं है । यों तो सत्यव्रत की भावनाओं में क्रोध, लोभ का भी त्याग बताया है, परन्तु इसीलिये किसी को थोड़ा बहुत क्रोध आ जाय तो उसका व्रत भंग नहीं माना जा सकता । सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिककार उसे खींचतान करके व्रतों में शामिल करते हैं ।

इस विवेचन का सार यही है कि रात्रि-भोजन त्याग पहिले

---

‡ कश्चित्तुरात्र्य भोजनमपि अणुव्रतमुच्यते । सागारधर्मामृत ।

व्रतत्राणाय कर्तव्यम् रात्रिभोजन वर्जनम् । सर्वथान्नान्निवृत्तेस्तत्प्रोक्तं षष्ठमणुव्रतम् । ५-७० आचारसार । रात्रिभोजन विरमणं षष्ठमणुव्रतम् । चारित्रसार ।

† तेसिंचेव वयाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ति । मूलाचार २९५ ।

* गाथा २९५ ।

मूलगुणों में नहीं था, पीछे उसकी आवश्यकता मालूम हुई और वह भावनाओं के रूप में या स्पष्ट रूप में व्रत बना लिया गया।

परन्तु, अगर मुनियों के लिये ही यह व्रत रहता और श्रावकों के लिये न रहता तब बड़ी अड़चन होती; क्योंकि मुनियों को तो श्रावकों से भोजन मिलता था—और भोजन भी वह जो श्रावकों ने अपने लिये बनाया हो—तब मुनियों को रात्रि में भोजन करना पड़ता या शाम का भोजन बन्द रखना पड़ता। यद्यपि दिगम्बर सम्प्रदाय में शाम का भोजन नहीं होता है, परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यह प्रचलित है, और इसमें कोई बुराई नहीं मालूम होती। दिन के दो भोजन गिनने का रिवाज दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों में एक सरीखा है। बेला, तेला आदि के लिये जो शब्द प्रचलित हैं उनसे भी यह बात ध्वनित होती है। लगातार दो उपवास करने को छट्ठ कहते हैं। छट्ठ का सीधा अर्थ यही है कि जिसमें छट्ठा भोजन किया जाय, अर्थात् पाँच भोजन बन्द किये जाँय। एक आज के शाम का और दो कल के और दो परसों के, इस प्रकार पाँच भोजन बन्द करने पर छट्ठ होता है। इस अर्थ में प्रतिदिन के दो भोजन मान लिये गये हैं। छट्ठ आदि शब्दों का यह अर्थ उनके इतिहास पर प्रकाश डालकर दिन के दो भोजन सिद्ध करता है। खैर, दिन में दो भोजन हों या एक, परन्तु श्रावकों में रात्रि-भोजन का प्रचार रहने पर सुबह के भोजन की व्यवस्था भी बिगड़ जाती है। जो लोग रात्रि में भोजन करेंगे, वे दिन के पूर्वार्ध का भोजन जल्दी नहीं कर सकते, वे ग्यारह-बारह बजे तक भोजन करेंगे। उस समय साधु के सामायिक आदि का

समय आ जाता है, इसलिये साधु के लिये भिक्षा का उचित समय 'पोरसी'* बताया गया था। यह समय करीब दस बजे के पहिले ही व्यतीत हो जाता है और गरमी के दिनों में तो नौ या उससे भी पहिले निकल जाता है। रात्रिभोजन त्यागी के घर में इस समय निरुद्दिष्ट भोजन नहीं मिल सकता। इन सब कठिनाइयों से यह आवश्यक मालूम हुआ कि साधु के समान श्रावक भी रात्रि भोजन का त्याग करें। शताब्दियों के प्रयत्न के बाद इस विषय में आशातीत सफलता मिली और साधु-संस्था की कठिनाई हल हुई।

इसमें सन्देह नहीं कि दिवस-भोजन की अपेक्षा रात्रि-भोजन कुछ हीन श्रेणी का है। और पुराने जमाने में जब कि आजकल सरीखे साधन नहीं थे, ख़ासकर इस गरम देश में तो रात्रि-भोजन त्याग की बहुत आवश्यकता थी। रात्रि-भोजन का त्याग कर देने से रात्रि के लिये निराकुलता भी रहती है। आरोग्य की दृष्टि से भी रात्रि-भोजन, दिवस भोजन की अपेक्षा ठीक नहीं है।

इतना सब होते हुए भी रात्रि-भोजन-त्याग को मूलगुण में नहीं रख सकते; क्योंकि आज यहाँ मुनिसंस्था के नियम ही बदल दिये गये हैं, इसलिये पुरानी असुविधाओं में से कुछ असुविधाएँ तो यों ही निकल जाती हैं। अब न तो भिक्षावृत्ति को अनिवार्य रखना है; न रात्रि-गमन का निषेध। इसलिये रात्रि-भोजन-त्याग कि अनिवार्यता नहीं रह जाती।

---

* जिस समय अपने शरीर की छाया अपने शरीर के बराबर ही लम्बी हो, उसको 'पोरसी' का समय कहते हैं।

फिर भी साधु-संस्था में साधारणतः रात्रि-भोजन की मनाई रहे, परन्तु निम्नलिखित अपवाद रहें:—

१—बीमारी के कारण रात्रि में औषध लेना।

२—पानी पीना या आवश्यकतावश फलाहार करना।

३—प्रवास या किसी सेवा-कार्य के कारण अगर दिन में मौक़ा न मिला हो, और रात्रि में फलाहार वगैरह की सुविधा न हो तो भोजन करना।

मतलब यह कि साधारणतः दिन में भोजन करने का नियम रखना चाहिये और किसी ख़ास ज़रूरत पर रात्रि-भोजन करना चाहिये। शीत-प्रधान देशों के लिये तथा जहाँ पर लम्बी लम्बी रात्रियाँ होती है, वहाँ के लिये रात्रि-भोजन त्याग का नियम इतना भी नहीं बनाया जा सकता।

शङ्का—भोजन न करके फलाहार करना तो और भी अनुचित है, क्योंकि इसमें खर्च बढ़ता है। इसकी अपेक्षा सूखे चने खा लेना अच्छा है।

समाधान— निःसन्देह सूखे चने खाने में और फलाहार में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु चना खाकर 'चने की रोटी' भी खाई जाने लगती है; इसके बीच में मर्यादा बाँधना मुश्किल है। अन्न और फल के बीच मर्यादा बँधी जा सकती है। फलाहार से अच्छी तरह पेट नहीं भरता, तथा अन्न-भोजन की तरह यह प्रतिदिन सुलभ भी नहीं है, इसलिये रात्रि-भोजन के अपवाद में फलाहार रखने से रात्रि-भोजन की प्रणाली निरर्गल रूप में नहीं चल सकती।

मुनि-संस्था के और भी छोटे छोटे नियम हैं, परन्तु मुनि-संस्था के रूप में जो यह क्रान्ति की गई है—उससे उनके विषय में स्वयं ही विचार हो जाता है, इसलिये उनके विषय में विचार करने की ज़रूरत नहीं है। वर्तमान में जो मूलगुण प्रचलित हैं, परीक्षा करने के बाद साधु-संस्था के लिये जिन मूलगुणों की आवश्यकता रह जाती है, वे ये हैं—

१—समभाव, २—ज्ञानयुक्तता, ३—अहिंसा, ४—सत्य, ५-अचौर्य, ६-ब्रह्मचर्य, ७—अपरिग्रह, ८—इंद्रिय-विजय, ९—प्रतिक्रमण, १०—कर्मण्यता, ११—कष्टसहिष्णुता।

वर्तमान में इन मूलगुणों की आवश्यकता है और इनमें सभी आवश्यक बातों का संग्रह और स्पष्टीकरण हो जाता है। इनमें से प्रारम्भ के नौ गुणों की आलोचना तो सत्ताईस और अट्ठाईस मूलगुणों की आलोचना करते समय कर दी गई है। बाकी दो मूलगुण और रह जाते हैं, उनकी संक्षिप्त आलोचना यहाँ कर दी जाती है।

**कर्मण्यता**—साधु को जीवन-निर्वाह के लिये या उसके बदले में कुछ न कुछ सेवा अवश्य करना चाहिये। निवृत्ति की दुहाई देकर प्रवृत्ति की निन्दा करके चुपचाप पड़े रहने का नाम धर्म नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि सेवा अपनी अपनी योग्यता तथा समाज की आवश्यकता के अनुसार होगी। कोई कलाकार है तो उसको अपनी कला से सेवा करना चाहिये, कोई विद्वान है तो वह विद्या देकर सेवा करे, अथवा अगर कोई वृद्ध है तो उसको बहुत-सी रियायत दी जा सकती है। हाँ, इतनी

बात अवश्य है कि कलाकार या विद्वान ज्यादह और मज़दूर कम हों तो कलाकार और विद्वानों को मज़दूरी भी करना पड़ेगी। मतलब यह कि किस काम की कितनी आवश्यकता है—उसे देखकर योग्यतानुसार काम का चुनाव किया जाना चाहिये। परस्पर में एक दूसरे की सेवा करना, रोगी की देखभाल रखना आदि आवश्यक कर्तव्य हैं, जो कि इस मूल-गुण के नाम पर अवश्य करना चाहिये।

**कष्टसहिष्णुता** — साधु-संस्था जो कि 'सेवा-संस्था' है, उस में कष्टसहिष्णुता तो अत्यावश्यक है। उपसर्ग और परीषहों की विजय का वर्णन इसीलिये किया जाता है, परन्तु सहिष्णुता शब्द की महत्ता पर अवश्य ही ध्यान रखना चाहिये। कष्टों के सहने का अर्थ है—कष्टों को सहन करके दुःखी न होना, कर्तव्य न छोड़ना। ज़रा ज़रा-सी बात में जो लोग झुँझला उठते हैं, अथवा थोड़ी-सी असुविधा में भी जिनका पारा गरम हो जाता है, वे कष्टसहिष्णु नहीं हैं। शारीरिक कष्टसहिष्णुता को यथासाध्य बढ़ाना चाहिये, किन्तु मानसिक कष्टसहिष्णुता तो और भी अधिक आवश्यक है।

कष्ट-सहिष्णुता का यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य व्यर्थ के कष्ट मोल ले। धर्म सुख के लिये है, इसलिये न तो अनावश्यक कष्टों को मोल लेने की ज़रूरत है, न आवश्यक और निर्दोष (जिससे दूसरों के अधिकार नष्ट न होते हों) सुखों के त्याग करने की ज़रूरत है। हाँ, सहिष्णुता का अभ्यास बढ़ाने के लिये उपवास आदि कोई भी काम किया जा सकता है, परन्तु उसमें धैर्य न छूटना चाहिये, न स्वास्थ्य को हानि पहुँचना चाहिये।

इन ग्यारह मूलगुणों में मुनि-संस्था के मुख्य मुख्य नियम आ जाते हैं। समयानुसार इनमें परिवर्तन भी किया जा सकता है, परन्तु संख्या के घट-बढ़ जाने पर भी या थोड़े-बहुत नामों के बदल जाने पर भी वस्तुतत्त्व में कोई अन्तर नहीं आता। अन्य छोटे नियम समयानुसार बनाये जा सकते हैं।

चारित्र के अंगरूप में बहुत-सी बातें जैनशास्त्रों में प्रचलित हैं। परन्तु आजकल उनका अर्थ सिर्फ ऐकान्तिक निवृत्ति को लेकर लिया जाता है। इसलिये संक्षेप में उनका वास्तविक अर्थ बतला देना आवश्यक है, जिसका कि इस संशोधित सत्य जैन-धर्म के साथ समन्वय हो सके।

## द्वादशानुप्रेक्षा

वैराग्य पैदा करने के लिये ये बारह तरह की भावनाएँ विचारधाराएँ जैनसाहित्य में प्रचलित हैं।

**अनित्य**—प्रत्येक पदार्थ नष्ट होनेवाला है, इस प्रकार का विचार करना अनित्य-भावना है। अनासक्ति के लिये यह विचार बहुत अच्छा है। "दुनियाँ की जिन चीज़ों के लिये हम अन्याय करते हैं, वे साथ जानेवाली नहीं हैं—यह जीवन भी क्षणभंगुर है, तब भला इसके लिये दूसरों के अधिकारों का नाश करना व्यर्थ है। प्रकृति को शायद हम थोड़े बहुत अंशों में विजय कर सकें, दूसरे मनुष्यों पर भी विजय पा सकें, परन्तु मौत पर विजय नहीं पा सकते। मौत हमारी सब विजयों को छीन लेगी। जो हमारे सामने देख नहीं सकते, कल वे हसेंगे; आज जो एक शब्द भी बोल नहीं सकते—कल वे ही मनमानी सुनायँगे

जब यह 'चार दिनों की चाँदनी फिर अँधेरी रात, है तब इस चाँदनी को अत्याचार से काला क्यों बनावें ? जब इस शरीर को एक दिन मिट्टी में मिलना ही है तब इसे दूसरों के सिर पर क्यों नचावें" इस प्रकार के विचार हमें न्यायमार्ग से भ्रष्ट नहीं होने देते। यही अनित्यभावना की उपयोगिता है।

विपत्ति में धैर्य रखने के लिये भी यह भावना उपयोगी है। जिस प्रकार सम्पत्ति चली जाती है उसी प्रकार विपत्ति भी चली जाती है। विपत्ति के आने पर अगर हमारा ध्यान इस बात पर रहे कि–यह विपत्ति चली जावेगी–तो हम घबराते नहीं हैं और हताश होकर नहीं बैठ रहते।

प्रत्येक वस्तु का दुरुपयोग होता है, इसलिये इस भावना का भी दुरुपयोग हो सकता है, जिससे बचने की ज़रूरत है। पहिला दुरुपयोग है–इस विचार को दार्शनिक रूप दे देना। दार्शनिक दृष्टि से जगत् नित्य है या क्षणिक, इस प्रकार की मीमांसा में इस भावना का विचार न करना चाहिये। दार्शनिक दृष्टि का सम्बन्ध समस्त जगत् के विषय में विचार करने से है, हेय उपादेय, आसक्ति अनासक्ति आदि दृष्टियों से नहीं। अनित्यभावना हृदय को निःस्वार्थ बनाने के लिये है। दार्शनिक दृष्टि से अगर जगत् नित्य सिद्ध हो तो भी अनित्यभावना मिथ्या न हो जायगी।

दूसरा दुरुपयोग अकर्मण्यता का है। अनासक्त बनना चाहिये, परन्तु अकर्मण्य न बनना चाहिये। व्यक्त या अव्यक्त रूप में हम समाज से बहुत कुछ लेते हैं, उसका व्याजसहित बदला

चुकाने की कोशिश करते रहना चाहिये । दुनिया क्षणभंगुर है, और हम भी क्षणभंगुर हैं, इसलिये उत्तरदायित्वहीन जीवन बनाना कायरता है ।

**अशरण**—मैं दुनिया का रक्षक हूँ, अथवा मेरे बहुत सहायक हैं, मेरा कौन क्या कर सकता है--इस प्रकार का अहङ्कार मनुष्य में न आ जाय, इसके लिये अशरण भावना है । मनुष्य का यह अहङ्कार व्यर्थ है; क्योंकि मरने से इसकी कोई रक्षा नहीं कर सकता, न यह किसी को मरने से बचा सकता है । बीमारी आदि के कष्टों का इसे स्वयं वेदन करना पड़ता है, उस समय उसके दुःखानुभव में कोई हाथ नहीं बटा सकता—आदि अशरण भावना है । इसका उपयोग अहङ्कार के त्याग के लिये करना चाहिये ।

दया परोपकार आदि छोड़कर निपट स्वार्थी हो जाना अशरण भावना नहीं है । क्योंकि यद्यपि हम किसी की रक्षा नहीं कर सकते, किन्तु रक्षा करने के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करके सहानुभूति तो बतला सकते हैं और कष्ट सहने का उसमें साहस पैदा कर सकते हैं । इस भावना का मुख्य लक्ष्य यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को किसी की शरण की आशा न रखकर स्वावलम्बी बनना चाहिये, तथा परोपकार आदि करके 'हम दुनिया के रक्षक हैं, हमारे बिना किसी का काम नहीं चल सकता' इत्यादि अहङ्कार छोड़देना चाहिये ।

**संसार**—'चाहे श्रीमान् हो, चाहे गरीब, सभी दुःखी हैं' यह भावना इसलिये आवश्यक है कि जिससे हम संसार के क्षुद्र

प्रलोभनों में फँसकर कर्तव्यच्युत न हो जावें। दूर से वस्तु सुन्दर दिखाई देती है, इस लोकोक्ति के अनुसार हम दूसरों को सुखी समझा करते हैं, परन्तु प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मैं सुखी नहीं हूँ। जो चीज़ उसके पास होती है उसके विषय में वह विचार किया करता है कि—"अच्छा ! इससे क्या हुआ !" इस प्रकार का असन्तोष उसे दूसरों की तरह बनने के लिये प्रेरित करता है और यह प्रेरणा परिग्रह-पाप को बढ़ाने में तथा उसके द्वारा अन्य पापों के बढ़ाने में सहायक होती है। अगर उसे यह मालूम हो जाय कि इतना पाप करके भी मुझे जो कुछ मिलेगा—उसमें भी मैं दुखी रहूँगा, तो पाप की तरफ़ उसकी प्रेरणा नहीं होती। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि अगर हमारे और दूसरों के ऊपर अत्याचार होता हो तो हम उसे दूर करने की कोशिश न करें। प्रथम अध्याय में कहे गये नियमों के अनुसार हमें सुख की वृद्धि करना ही चाहिये। इसलिये इस भावना के विषय में दूसरी दृष्टि यह है कि संसार में दुःख बहुत हैं, प्राकृतिक दुःखों की सीमा नहीं है, उन्हीं को हटाने में हमारी सारी शक्ति खर्च हो सकती है, फिर भी वे पूरे रूप में न हट पावेंगे। ऐसी हालत में हम परस्पर अन्याय और उपेक्षा करके जो दुःखों की वृद्धि करते हैं, वह क्या उचित है ? संसार में दुःख बहुत हैं, इसलिये हम से जितना बन सके उसे नष्ट करने की कोशिश करना चाहिये, इत्यादि अन्य अनेक दृष्टियों से यह भावना रखना चाहिये, जिससे स्वपर-कल्याण हो।

एकत्व—मनुष्य अकेला ही पैदा होता है और अकेला ही मरता है, हर हालत में इसका कोई साथी नहीं है, इत्यादि विचार

एकत्व-भावना है। स्वावलम्बन तथा अनासक्ति की वृद्धि के लिये यह भावना बहुत उपयोगी है। परन्तु दुनियाँ, जो सहयोग के तत्व पर ठहरी हुई है, उसका इस भावना से खण्डन नहीं होता, बल्कि वह सहयोग और भी अच्छा बनता है। पति-पत्नी, पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, भाई-बहिन तथा मित्र आदि के जो सम्बन्ध हैं—वे उचित और आवश्यक हैं, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति को यह ध्यान में रखना चाहिये कि इन सम्बन्धों से लाभ उठाने में वह अकेला है। उसकी योग्यता ही उसके काम आयगी। जिस प्रकार हम अपनी भलाई के लिये दूसरों से सहायता चाहते हैं—उसी प्रकार दूसरे भी अपनी भलाई के लिये हमसे सहायता चाहते हैं। दूसरों की भलाई करने की हम में जितनी योग्यता होगी, उसी के ऊपर यह बात निर्भर है कि हम दूसरों से कुछ लाभ उठा सकें। यही हमारा एकत्व है जो कि सहयोग के अनेकत्व के लिये अत्युपयोगी है। एकत्व का यह अर्थ नहीं है कि व्यक्त या अव्यक्त रूप में दुनियाँ से तो हम लाभ उठाते रहें, किन्तु उसका बदला चुकाने के लिये कहते फिरें कि "न हम किसी के, न कोई हमारा, झूठा है संसारा"। यह तो एक प्रकार की घोर स्वार्थांधता है एकत्व भावना इस स्वार्थांधता के लिये नहीं है, किन्तु स्वावलम्बी तथा योग्य बनने के लिये है। और हाँ, उस समय सन्तोष के लिये है जब हमको कोई सहारा न दे। उस समय हमें सोचना चाहिये कि प्रत्येक प्राणी अकेला है, अगर मुझे कोई सहारा नहीं देता तो मुझे अपने में ही सुखी रहने की कोशिश करना चाहिये, आदि।

अन्यत्व——मैं अपने शरीर से भी भिन्न हूँ, इस प्रकार की

भावना से शारीरिक सुखदुःख अपने को विक्षुब्ध नहीं कर पाते, प्रायः शारीरिक सुख-दुःख के विचार में ही मनुष्य की सारी शक्ति नष्ट होती है, परन्तु सुख-दुःख का वड़ा श्रोत शरीर से भिन्न किसी अन्य वस्तु में है—इस वात के विचार से वह प्रथम अध्याय में वतलाई हुई सुखी रहने की कला सीखता है और सुखी वनने के लिये भौतिक साधनों पर ही अवलम्बित नहीं रहता।

**प्रश्न**—यद्यपि आपने आत्मा का पृथक अस्तित्व सिद्ध कर दिया है, फिर भी दार्शनिक या वैज्ञानिक दृष्टि से आत्मा की समस्या, समस्या ही वनी रहती है। अब भी ऐसे विचारक हैं जो आत्मा को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानते। वे यह भावना कैसे रख सकते हैं? ये भावनाएँ तो धार्मिक हैं, इनका दार्शनिक या वैज्ञानिक वातों से सम्बन्ध करने की क्या जरूरत है?

**उत्तर**—अन्यत्व-भावना का दार्शनिक चर्चा से कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिये आत्मा के नित्यत्व से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ तो सिर्फ़ इतनी वात से मतलव है कि शारीरिक सुखों से भिन्न और भी सुख है, जिसके न होने पर शारीरिक सुख न होने के वरावर है और जिसके होने पर शारीरिक सुखों का अभाव नहीं खटकता। आत्मवादी उसे आत्मीक-सुख कहें और अनात्मवादी उसे मानसिक-सुख कहें। यह वात तो अनुभवसिद्ध है कि वहुत से मनुष्य खाने-पीने का कष्ट होने पर भी प्रसन्न रहते हैं, जेल की यातनाएँ भी उनके हर्ष को नहीं छीन पातीं और वहुत से आदमी सव साधन रहने पर भी ईर्ष्या आदि से जलते हैं, चैन से सो भी नहीं पाते। यहीं अन्यत्व की सचाई मालूम होती है। इस सुख-श्रोत

को—जिसे कि आत्मवादी अनात्मवादी सभी मानते हैं—आत्मा का, मन का, या शरीर के किसी अन्य सूक्ष्म भाग का कहिये इसमें कोई हानि नहीं, परन्तु उसके समझ लेने पर सुख के विषय में मनुष्य की जो दिशाभूल होती है—वह दूर हो जाती है। यही अन्यत्व-भावना का लाभ है।

**अशुचि**— शरीर की अशुचिता का विचार करना अशुचि-भावना है। इससे दो लाभ हैं। पहिला तो यह कि इससे कुल-जाति का मद और छूताछूत का ढोंग दूर हो जाता है। मनुष्य अहंकारवश अपने शरीर को शुद्ध समझता है। कोई अगर व्यभिचार-जात हो तो उसे अशुद्ध समझता है। परन्तु अशुचि भावना बतलाती है कि शरीर सरीखी अशुचि वस्तु में शुचिता और अशुचिता की कल्पना करना ही मूर्खता है। शरीर तो सबके अपवित्र हैं। इसी प्रकार कोई कोई भोले जीव शूद्र के घर में पैदा होनेवाले शरीर को अशुचि और ब्राह्मण आदि के घर में पैदा होनेवाले शरीर को शुचि समझते हैं। उनको भी अशुचि भावना बतलाती है कि सभी शरीर अशुचि हैं, इनमें शुचिता अशुचिता की कल्पना करना मूर्खता है।

दूसरा लाभ यह है कि शरीर को अशुचि समझने से शरीरिक भोगों की आसक्ति कम हो जाती है। इस प्रकार शारीरिक अहंकार और आसक्ति को कम करने के लिये इस भावना का उपयोग करना चाहिये। परन्तु अशुचि-भावना के नाम पर स्वच्छता के विषय में लापर्वाही न करना चाहिये।

**आश्रव**—दुःख के कारणों पर विचार करना आश्रव-भावना है।

**संवर**–दुःख के कारणों को न आने देने या उनके रोकने के विषय में विचार करना संवर-भावना है।

**निर्जरा**– आये हुए दुःख को किस प्रकार दूर किया जाय, सहन किया जाय, आदि विचार करना निर्जरा-भावना है।

आश्रव संवर निर्जरा भावना की सामग्री प्रथम अध्याय में लिखी गई है। इस अध्याय में भी सदाचार के जो नियम हैं—वे भी उपयोगी हैं। तथा तीसरे अध्याय में सम्यग्दर्शन के वर्णन में भी बहुत-सी सामग्री है।

**लोक**– विश्व बहुत महान है; उसमें हमारी क़ीमत एक अणु सरीखी है, इसलिये छोटी-छोटी बातों को लेकर अहंकार करना व्यर्थ है, आदि विचार लोक-भावना है।

विश्व तीन-सौ-तैंतालीस राजू का है ? पुरुषाकार है या गोल या अनिर्दिष्ट संस्थान ? इत्यादि भौगोलिक विचार लोक-भावना के विषय नहीं हैं। अथवा भौगोलिक दृष्टि से जिसको जैसे विचार रखना हो रक्खे, परन्तु भौगोलिक दृष्टि को मुख्यता न देवे। मुख्यता इसी या ऐसे ही विचार को देना चाहिये कि जिससे विनय शीलता आदि गुणों को उत्तेजना मिले। विश्व के विषय में विचार करने से जो एक कौतूहल, हर्ष तथा जीवन के क्षुद्र स्वार्थों पर उपेक्षा पैदा होती है, जिससे पाप करने में उत्साह नहीं रहता, वही बड़ा लाभ है।

को–जिसे कि आत्मवादी अनात्मवादी सभी मानते हैं–आत्मा का,
मन का, या शरीर के किसी अन्य सूक्ष्म भाग का कहिये इसमें कोई
हानि नहीं, परन्तु इसके समझ लेने पर सुख के विषय में मनुष्य
की जो दिशाभूल होती है–वह दूर हो जाती है। यही अन्यत्व-
भावना का लाभ है।

**अशुचि**– शरीर की अशुचिता का विचार करना अशुचि-
भावना है। इससे दो लाभ हैं। पहिला तो यह कि इससे कुल–
जाति का मद और छूताछूत का ढोंग दूर हो जाता है। मनुष्य
अहंकारवश अपने शरीर को शुद्ध समझता है। कोई अगर
व्यभिचार-जात हो तो उसे अशुद्ध समझता है। परन्तु अशुचि
भावना बतलाती है कि शरीर सरीखी अशुचि वस्तु में
शुचिता और अशुचिता की कल्पना करना ही मूर्खता है।
शरीर तो सबके अपवित्र हैं। इसी प्रकार कोई कोई भोले जीव
शूद्र के घर में पैदा होनेवाले शरीर को अशुचि और ब्राह्मण आदि के
घर में पैदा होनेवाले शरीर को शुचि समझते हैं। उनको भी अशुचि
भावना बतलाती है कि सभी शरीर अशुचि हैं, इनमें शुचिता
अशुचिता की कल्पना करना मूर्खता है।

दूसरा लाभ यह है कि शरीर को अशुचि समझने से
शरीरिक भोगों की आसक्ति कम हो जाती है। इस प्रकार शारीरिक
अहंकार और आसक्ति को कम करने के लिये इस भावना का
उपयोग करना चाहिये। परन्तु अशुचि-भावना के नाम पर
स्वच्छता के विषय में लापर्वाही न करना चाहिये।

**आश्रव**—दुःख के कारणों पर विचार करना आश्रव-भावना है।

**संवर**—दुःख के कारणों को न आने देने या उनके रोकने के विषय में विचार करना संवर-भावना है।

**निर्जरा**— आये हुए दुःख को किस प्रकार दूर किया जाय, सहन किया जाय, आदि विचार करना निर्जरा-भावना है।

आश्रव संवर निर्जरा भावना की सामग्री प्रथम अध्याय में लिखी गई है। इस अध्याय में भी सदाचार के जो नियम हैं—वे भी उपयोगी हैं। तथा तीसरे अध्याय में सम्यग्दर्शन के वर्णन में भी बहुत-सी सामग्री है।

**लोक**— विश्व बहुत महान है; उसमें हमारी क़ीमत एक अणु सरीखी है, इसलिये छोटी-छोटी बातों को लेकर अहंकार करना व्यर्थ है, आदि विचार लोक-भावना है।

विश्व तीन-सौ-तैंतालीस राजू का है? पुरुषाकार है या गोल या अनिर्दिष्ट संस्थान? इत्यादि भौगोलिक विचार लोक-भावना के विषय नहीं हैं। अथवा भौगोलिक दृष्टि से जिसको जैसे विचार रखना हो रक्खे, परन्तु भौगोलिक दृष्टि को मुख्यता न देवे। मुख्यता इसी या ऐसे ही विचार को देना चाहिये कि जिससे विनय शीलता आदि गुणों को उत्तेजना मिले। विश्व के विषय में विचार करने से जो एक कौतूहल, हर्ष तथा जीवन के क्षुद्र स्वार्थों पर उपेक्षा पैदा होती है, जिससे पाप करने में उत्साह नहीं रहता, वही बड़ा लाभ है।

**बोधिदुर्लभ**--सब कुछ मिलना सरल है, परन्तु सत्य की प्राप्ति दुर्लभ है। मनुष्य-जन्म, सुशिक्षा, सुसंगति आदि तो दुर्लभ हैं ही, परन्तु सब कुछ मिल जाने पर अहंकार-रूपी पिशाच आकर सब छीन ले जाता है। धर्म और सम्प्रदाय के वेष में हम अहंकार के ही पुजारी हो जाते हैं, इसलिये दुनियाँ के विविध सम्प्रदायों में जो सत्य है, उसकी प्राप्ति नहीं हो पाती। किसी भी धर्म के द्वारा सब धर्मों को प्राप्त करना दुर्लभ है, सर्व-धर्म-समभाव दुर्लभ है, धर्म का मर्म प्राप्त करना दुर्लभ है और जब तक वह प्राप्त न किया जाय, तब तक धर्म का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, जीवन की सफलता नहीं हो सकती, आदि विचार करना बोधि-दुर्लभ-भावना है।

**धर्मस्वाख्यातत्व**—धर्म किस तरह कहा जावे, जिसमें वह स्वाख्यात अर्थात् अच्छी तरह कहा गया कहलावे, इस प्रकार का विचार करना धर्मस्वाख्यातत्व-भावना है। धर्म सबके लिये हितकारी होना चाहिये, उसमें सबको समानाधिकार होना चाहिये, किसी दूसरे धर्म की निन्दा न होना चाहिये, समन्वय बुद्धि होना चाहिये, गुण कहीं भी हो—निःपक्षता से उसको अपनाने की उदारता होना चाहिये, इत्यादि विशेषताएँ ही धर्म की स्वाख्यातता है।

बारह भावनाओं के विषय में यहाँ सूत्ररूप में ही कहा गया है। इसका भाष्य तो बहुत लम्बा किया जा सकता है, परन्तु उस भाष्य का मसाला इन अध्यायों में जहाँ-तहाँ बहुत-सा है, इसलिये वह यहाँ नहीं लिखा जाता है।

## दशधर्म ।

दशधर्म के रूप में भी चारित्र का वर्णन किया जाता है। क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य ये दशधर्म कहलाते हैं। ये दशधर्म अहिंसादिक पाँच व्रतों के लिये साधक हैं। इनके पालन से अहिंसादिक के पालन में सुभीता होता है। अहिंसादि व्रतों के वर्णन करने से इन दशधर्मों का वर्णन हो जाता है, परन्तु स्पष्टता के लिये इनका अलग वर्णन किया जाता है। यहाँ उनके विस्तृत वर्णन की आवश्यकता नहीं है, सिर्फ़ दिशानिर्देशमात्र किया जाता है।

**क्षमा**—क्रोध का त्याग करना क्षमा है। इसका साधारण अर्थ विदित ही है। अहिंसा के पालन करने के लिये यह बहुत उपयोगी धर्म है। इसका पालन तो हरएक प्राणी कर सकता है, परन्तु जब वीरता—शक्तिशालिता—समर्थता के साथ इसका सम्बन्ध होता है, तब इसकी क़ीमत बहुत बढ़ जाती है।

प्रत्येक गुण के पहिचानने में दो कठिनाइयाँ हैं। एक तो यह कि कोई दुर्गुण बाहर से उस गुण के समान मालूम होने लगता है; दूसरा यह कि कभी कभी उस गुण का बाहिरी रूप वैसा ही प्रगट नहीं होने पाता है जैसा कि साधारणतः प्रगट होना चाहिये। ये दोनों कठिनाइयाँ क्षमा के विषय में भी हैं।

कभी कभी मनुष्य, भय से, विवशता से, या कायरता से क्षमा का ढोंग करता है, परन्तु उसका हृदय निर्वैर नहीं होने पाता इसका नाम क्षमा नहीं है। क्षमता रहने पर भी बदला न लेना

क्षमा है। यद्यपि बदला लेने की शक्ति न होने पर भी क्षमा रक्खी जा सकती है, परन्तु शर्त यह है कि उसके दिल में से बदला लेने की भावना बिलकुल निकल जाय; फिर भी दुनिया को उसका मूल्य तभी मालूम होता है जब कि उसके पीछे क्षमता होती है। कभी कभी मनुष्य स्वार्थवश पक्षपातवश क्षमा का ढोंग करके अन्याय और अत्याचार में व्यक्त या अव्यक्त रूप में सहायक होता है। यहाँ भी क्षमा न समझना चाहिये। अगर अत्याचार को रोकने के लिये दंड देने की ही आवश्यकता हो तो क्षमा को धारण करते हुए भी दंड दिया जा सकता है। उदाहरणार्थ म० रामचन्द्र ने रावण को दंड दिया, परन्तु इसीलिये यह नहीं कहा जा सकता कि म० रामचन्द्र क्षमाशील न थे। अगर रावण अपराध स्वीकार करके सीता वापिस दे देता तो म० रामचन्द्र ज्यों का त्यों उसका राज्य छोड़ देने को तैयार थे। इसलिये म० रामचन्द्र और म० महावीर म० बुद्ध आदि की क्षमाशीलता में कोई अन्तर था, यह बात नहीं कही जा सकती। जो अन्तर दिखलाई देता है वह हृदय की वृत्ति का नहीं, किन्तु परिस्थिति का है। इस प्रकार जीवन में ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब कि हृदय में क्षमा होने पर भी लोक-कल्याण के लिये या दंडनीय व्यक्ति के कल्याण के लिये दंड की आवश्यकता होती है। दुःख इतना ही है कि साधारण लोगों को यह समझना कठिन हो जाता है कि वास्तव में यहाँ क्षमा है, या क्षमाभास है।

बाह्य-अहिंसा किस प्रकार हिंसा होती है, और बाह्य-हिंसा भी वास्तव में किस प्रकार अहिंसा होती है इस विवेचन में जिस

तरह विचार किया गया है, वैसा ही विचार यहाँ क्षमा के विषय में भी कर लेना चाहिये। क्षमा भी अहिंसा-धर्म का एक भाग है, किन्तु कोमल और सुन्दर भाग है।

यद्यपि दंड को भी अहिंसा के भीतर स्थान है, फिर भी बहुत से अवसर ऐसे आते हैं जब वैर की परम्परा को दूर करने के लिये या स्थायी शांति के लिये क्षमा ही एक अमोघ उपाय रह जाता है। यदि मनुष्य सर्वत्र बदले की नीति से काम लेने लगे तो संसार में दुःखों की वृद्धि कई गुणी हो जावे और उसे कभी शान्ति न मिले। सिंह अगर मच्छरों का शिकार करने लगे तो इससे उसका पेट तो न भरेगा, किन्तु उसकी इतनी शक्ति बर्बाद होगी कि वह अधमरा हो जायगा। सफलता और शान्ति के लिये अनेक उपद्रवों को सहन करके ही हम अपनी शान्ति की रक्षा कर सकते हैं, तथा दूसरों को भी सुमार्ग पर लगा सकते हैं। अनेक दुष्ट और क्रूर प्राणी जो कि किसी भी प्रकार के दंड से नहीं सुधर सके, या दंडित नहीं किये जा सके—वे क्षमा से सुधर गये। कोई कोई चीज़ पानी से गलती है, और कोई कोई चीज़ अग्नि से गलती है। अपने स्थान पर दोनों की उपयोगिता है। इसी प्रकार कहीं दंड-नीति काम करती है, कहीं क्षमा। एक के स्थान पर दूसरे से काम लेने से अनर्थ हो जाता है। जिस प्रकार दंड के स्थान पर क्षमा काम नहीं कर सकती, उसी प्रकार क्षमा के स्थान पर दंड काम नहीं कर सकता। दंड की उपयोगिता कभी कभी है, उससे दंड-नीय के सुधार की आशा कम है, जब कि क्षमा की उपयोगिता सदा है और उससे क्षम्य के सुधार की आशा अधिक है। जहाँ

तक हो सके क्षमा से काम लेना चाहिये, किन्तु अन्याय को रोकने के लिये जब कोई दूसरा उचित उपाय न रहे तब दंड से काम लेना चाहिये। क्षमा अपने स्थान पर क्षमा है और दूसरी जगह क्षमाभास है।

**मार्दव**—मान अहंकार मद का त्याग करना अर्थात् विनय रखना मार्दव है। क्षमा के समान मार्दव के पहिचानने में भी कठिनाई है। चापलूसी और दीनता का मार्दव से कुछ सम्बन्ध नहीं है, परन्तु कभी कभी ये मार्दव के आसन पर आ बैठते हैं, इसलिये इनसे सावधान रहना चाहिये। आत्मगौरव या गुण-गौरव कभी कभी मार्दव से विरुद्ध माळूम होते हैं, परन्तु बात बिलकुल उलटी है। वास्तव में ये दीनता और चापलूसी के विरोधी हैं। कभी कभी मद भी आत्मगौरव का रूप धारण कर लेता है, जब कि आत्मगौरव से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। जैसे—मेरा देश, मेरी जाति, मेरा धर्म—आदि भावों में आत्मगौरव समझ लिया जाता है। कभी कभी इनमें आत्मगौरव होता भी है, परन्तु अधिकांश स्थानों में देश, जाति, धर्म के स्थानों पर मनुष्य 'मेरा' की पूजा ही करता है, उन बड़े बड़े नामों की तो सिर्फ़ ओट ली जाती है। अपना भाव मार्दव है कि मार्दवाभास; इस बात की पहिचान शुद्धान्तरात्मा ही कर सकता है, फिर भी एकाध बात ऐसी कही जा सकती है, जिससे मार्दव और मार्दवाभास की पहिचान करने में सहायता मिल सके।

अपने देश, जाति, धर्म आदि की प्रशंसा करते समय इस बात का विचार करना चाहिये कि यह प्रशंसा अपना महत्व बतलाने

के लिये है कि किसी सत्य की रक्षा करने या अन्याय का विरोध कर लेने के लिये है ? अपना महत्व बतलाने के लिये उपर्युक्त प्रशंसा अनुचित है। जैसे—कोई मनुष्य इसलिये हमारे देश की निन्दा करता है--जिससे वह हमारे देश को गुलामी की जंजीरों में जकड़ सके या उसके अधिकार छीन सके, तो उसके विरोध में अपने देश की प्रशंसा की जाय तो यह आत्म-प्रशंसा न होगी, क्योंकि इसका लक्ष्य दूसरों को अपमानित करना नहीं, किन्तु न्याय की रक्षा करना है। परन्तु कोई मनुष्य अपना महत्व स्थापित करने के लिये अपने देश की प्रशंसा करता है, और दूसरों को अनार्य म्लेच्छ असभ्य कहता है, दुनिया में अपनी जगद्गुरुता की घोषणा करता फिरता है, तो यह आत्मगौरव नहीं, अहंकार है।

जो बात देश को लेकर कही गई है, वही बात प्रान्त, नगर, जाति, कुल, धर्म, सम्प्रदाय आदि को लेकर भी समझना चाहिये। इतना ही नहीं, किन्तु व्यक्तिगत प्रशंसा में भी इसी ढंग से विचार करना चाहिये। यदि अपने व्यक्तित्व की निन्दा इसलिये की जाती हो जिससे एक निर्दोष समूह का अवर्णवाद (झूठी निन्दा) हो, उसका उचित प्रभाव घट जाय, उसकी निस्वार्थ-सेवा निष्फल जाय तो दूसरों को नीचा दिखाने के लिये नहीं, किन्तु इन सब भलाइयों की तथा सचाई की रक्षा के लिये आत्म-प्रशंसा करना भी उचित है।

सार इतना ही है कि जिस आत्म-प्रशंसा से तथा आत्मीय-प्रशंसा से न्याय की—सत्य की रक्षा होती हो वह उचित है, और जो दूसरों पर आक्रमण करती हो वह अनुचित है। इस कसौटी से

मार्दव और मार्दवाभास की परीक्षा हो सकती है। मार्दव सत्य-धर्म का एक अंग है।

**आर्जव**—ऋजुता—सरलता—मायाचार हीनता का नाम आर्जव है। इधर की बात उधर कहना—जिसे कि व्यवहार में चुगलखोरी कहते है--आर्जव नहीं है। इसी प्रकार जिह्वा पर अंकुश न रख सकने के कारण मनमाना बकवाद करना और असभ्यता का परिचय देना, फिर कहना कि--हमारा दिल तो साफ़ है; जैसा मन में आता है वैसा साफ कह देते हैं---यह भी आर्जव नहीं है। मन में आये हुए दुर्भावों को दवा रखना गुण है न कि दोष। उनका नाश करना सर्वोत्तम है परन्तु अगर उनका नाश न हो सके तो उन्हें मन में ही रोककर धीरे-धीरे नाश करने का प्रयत्न भी अच्छा है। आर्जव-धर्म का नाश वहीं होता है—जहाँ पर प्रति हिंसा करने के लिये भाव छिपाये जाते हैं। किसी को मारने के लिये तलवार छिपाकर रखना और चलती हुई तलवार को रोक लेना, इन दोनों में जैसा अन्तर है—वैसा ही अन्तर मायाचार से हृदय के भाव छिपाने तथा मानसिक आवेगों को रोक लेने में है।

आर्जव-धर्म का यह मतलब नहीं है कि अपनी या दूसरे की प्रत्येक बात दुनिया के सामने खोलकर रख देना चाहिये। मतलब यही है कि किसी के साथ अन्याय करने के लिये ऐसा आचरण न करना चाहिये—जिससे वह धोखा खाकर अन्याय का शिकार बन सके। आर्जव-धर्म के नाम पर शिष्टाचार या सभ्यता को तिलाञ्जलि देने की ज़रूरत नहीं है, परन्तु यह याद रखने की सख्त ज़रूरत है कि अपने किसी व्यवहार से दूसरा आदमी धोखा न खा जाय, ठगा न जाय।

सत्य-धर्म के वर्णन की भी बहुत-सी बातें इस धर्म के स्पष्टीकरण में सहायता पहुँचा सकती हैं। आर्जव, सत्य-धर्म का मुख्य अंग है।

शौच—लोभ का त्याग कर देना शौच है। अपरिग्रह-धर्म का यह प्राण है। कभी कभी लोग मितव्ययिता को लोभ समझ जाते हैं, और कभी कभी कंजूसी को मितव्ययिता समझकर आत्म-सन्तोष कर लेते हैं। इसी प्रकार कभी कभी अपव्यय को शौच-धर्म समझ जाते हैं, और कभी कभी उदारता को अपव्यय समझ लेते हैं। शौच क्या है और शौचाभास क्या है, इसका निर्णय करना कठिन है। अन्तस्तल की शुद्ध वृत्तियों से ही इसकी ठीक-ठीक जाँच की जा सकती है। फिर भी एकाध बात ऐसी कही जा सकती है— जिससे शौच और शौचाभास के विवेक में सहायता मिले।

अपव्यय और मितव्यय की सीमा निर्देश करने के लिये साधारणतः यह समझ लेना चाहिये कि आमदनी की सीमा के बाहर खर्च करना अथवा ऋण लेकर खर्च करना—अपव्यय है, और आमदनी के भीतर खर्च करना—मितव्यय है। हाँ, अगर खर्च करने का ढंग ऐसा है जिससे किसी दुर्गुण की वृद्धि होती है तो आमदनी के भीतर खर्च करना भी अपव्यय है। अपव्यय का नाम शौच नहीं है और मितव्यय का शौच से कोई विरोध नहीं है। किन्तु यहाँ यह बात भी खयाल में रखना चाहिये कि शौच-धर्म अपरिग्रह-व्रत का प्राण है, इसलिये मितव्यय इस सीमा पर न पहुँच जाय कि उसमें अपरिग्रह-व्रत का भंग होने लगे। अपरिग्रह-व्रत का पहिले वर्णन हो चुका है। उसकी रक्षा करते हुए शौच-धर्म का पालन

करना चाहिये।

शौच शब्द का सीधा शब्दार्थ पवित्रता है। लोभ सब अनर्थों की जड़ है, पाप का बाप है, इसलिये उसका त्याग शौच कहा गया है। परन्तु शौच के नाम पर बाह्य शौच को अधिक महत्व प्राप्त हो गया है। ख़ैर, शौच कोई बुरी चीज़ नहीं है, चाहे वह अन्तरंग हो चाहे बाह्य। परन्तु बाह्य-शौच के नाम पर छूता-छूत के या शुद्धाशुद्धि के अनेक रिवाज़ या नियम बन गये हैं, उनमें अधिकांश निरुपयोगी ही नहीं, किन्तु हानिप्रद हैं। शरीर को शुद्ध रखना उचित है, और जिससे स्वास्थ्य को हानि हो ऐसी बात का बचाव करना भी उचित है, परन्तु मैं इसके हाथ का न खाऊँगा, उसके हाथ का न खाऊँगा, आदि बातें पाप हैं। शौच धर्म के नाम पर जाति-पाँति का विचार होना ही न चाहिये। इसका विस्तृत वर्णन निर्विचिकित्सा अंग के वर्णन में आ चुका है, इसलिये यहाँ पुनरुक्ति नहीं की जाती।

**सत्य**—सत्य का वर्णन भी विस्तार से हुआ है, इसलिये इस विषय में भी यहाँ कुछ नहीं कहा जा सकता।

**संयम**—इस विषय पर तो यह सारा प्रकरण ही लिखा जा रहा है, इसलिये इस धर्म पर भी अलग से लिखने की ज़रूरत नहीं है;

**तप**—जैन-धर्म में तप को बहुत महत्व प्राप्त हो गया है, परन्तु जितना महत्व प्राप्त हुआ है—उतनी ही गलतफ़हमी भी हुई है।

आजकल तप का अर्थ उपवास, खाने-पीने के नियम या ाह्य कायक्लेश रह गया है। महात्मा महावीर उग्र कष्टसहिष्णु थे,

इसलिये उनके जीवन में अन्तरङ्ग तपस्याओं के समान बहिरङ्ग तपस्याओं का भी उग्र रूप दिखलाई देता है। बाह्य-तप, बाह्य होने से उसकी तरफ़ लोगों का ध्यान बहुत जल्दी आकर्षित होता है, तथा उनके पालन में विशेष योग्यता की आवश्यकता भी नहीं होती। यश या प्रशंसा भी शीघ्र मिल जाती है, इसलिये अधिक उपयोगी न होने पर भी वह बहुत जल्दी फैल जाता है। जैन साहित्य में तथा जैन समाज में इस बाह्य तपने बहुत अधिक स्थान घेर लिया है। उसकी उपयोगिता तथा मर्यादा का भी ख़याल लोगों को नहीं रहा है। बाह्य तप की विशेष उपयोगिता इसी में थी कि लोग स्वास्थ्य को सम्हाले रक्खें, तथा अवसर पड़ने पर कष्ट का सामना कर सकें, इसलिये कष्टसहिष्णुता का अभ्यास करते रहें परन्तु अब इन दोनों बातों का विचार नहीं किया जाता न इनकी सिद्धि होती है। प्रत्येक व्यक्ति को यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि महात्मा महावीर ने बाह्य तप जितना किया था उससे अधिक अन्तरङ्ग तप किया था। अन्तरङ्ग तप के बिना बाह्य तप का कुछ मूल्य नहीं है। दूसरी बात यह है कि युग के अनुसार भी तप की आवश्यकता होती है। महात्मा महावीर का युग ऐसा था कि उस समय बाह्य तप के बिना लोगों का सत्य की तरफ़ आकर्षण करना कठिन था। इसलिये भी बहुत से तप करना पड़ते थे। अज्ञानियों और बालकों को समझाने के लिये अगर अनिवार्य हो तो थोड़ी बहुत मात्रा में इस प्रकार की निर्दोष क्रिया करना पड़े तो कोई हानि नहीं है। तीसरी बात यह कि बाह्य तप की क़ीमत तभी पूरी होती है जब वह आनुषङ्गिक तप बन जाय। उपवास का

लक्ष्य करके उपवास करना एक बात है और सेवा स्वाध्याय आदि तप करते करते उपवास करना पड़े, यह दूसरी बात है। इसका मूल्य अधिक है, क्योंकि सेवा स्वाध्याय आदि में लीन होने से जो उपवास होता है, उसमें आत्मा का विकास अधिक मालूम होता है। खैर, सार यह है कि बहिरङ्ग तप का महत्त्व अन्तरङ्ग तप से बहुत थोड़ा है तथा आज कल लोगों को सत्य की तरफ आकर्षण करने के लिये—एकाध अपवाद प्रसङ्ग को छोड़कर—अधिक आवश्यक नहीं है। अब तो इस विषय की निःसारता समझायी जाय, यही उचित है। सच्चा तप तो अन्तरङ्ग तप है। बहिरंग तप जो किया जाय उनकी व्यावहारिक उपयोगिता पर ध्यान रखना चाहिये, तथा उनसे स्वास्थ्य हानि न होना चाहिये।

तप बारह बताये गये हैं। उनमें से पहिले छः बहिरङ्ग तप हैं और पिछले छः अन्तरङ्ग तप हैं।

अनशन—उपवास करने का नाम अनशन है। आजकल कई लोग उपवास में पानी का भी त्याग करते हैं; परन्तु इससे स्वास्थ्य बिगड़ जाता है तथा उससे गर्मी बढ़ जाती है। स्वास्थ्य और व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से यह अनुचित है। इसलिये उपवास में पानी पीने की छूट रखना चाहिये।

ऊनोदर—भूख से कम खाना ऊनोदर है। यह बहुत अच्छा तप है। परन्तु मर्यादा का उल्लंघन करना अनुचित और अनेक तरह के तप बनाना अनावश्यक है, जैसे—तिथि या चन्द्रमा की कला के अनुसार ग्रास लेना आदि। अगर कभी इसकी आवश्यकता भी मालूम हो तो प्रदर्शन से बचना चाहिये।

**वृत्तिपरिसंख्यान**—भिक्षा लेने के विशेष नियम को वृत्तिपरिसंख्यान* कहते हैं। ये नियम अनेक तरह के होते हैं, जैसे कोई मुनि यह नियम लेता है कि मैं दो घर से ही भिक्षा लाऊँगा‡ आदि। अनेक घरों से भिक्षा लेते समय भोजन की तृष्णा रोकने के लिये यह तप है। अथवा कोई अटपटी प्रतिज्ञा लेने को भी वृत्तिपरिसंख्यान कहते हैं। जैसे—भोजन देनेवाला अगर कोई क्षत्रिय होगा, या शूद्र होगा, या स्त्री होगी, घर के पास अमुक वृक्ष होगा तो भोजन लूँगा, आदि। ये सब प्रतिज्ञाएँ इसलिये की जाती थीं कि जिससे अनशन अवमौदर्य (ऊनोदर) आदि तपों के लिये मन उत्तेजित हो, आशा में निराशा को सहने का अभ्यास बढ़े। कभी कभी दूसरों को कष्ट से बचाने के लिये भी इसका उपयोग हो जाता है। इस प्रकार के तप से महात्मा महावीर के द्वारा महासती चन्दनबाला का उद्धार हुआ था। इसी प्रकार दूसरों का भी उद्धार किया जा सकता है। आजकल तो भिक्षा-वृत्ति के अनिवार्य नियम को ही उठा देना है, इसलिये इस तप की कोई जरूरत नहीं है। अगर भिक्षा लेने का अवसर मिले भी तो ऐसी ही प्रतिज्ञा लेना चाहिये—जिससे किसी का उद्धार हो। सिर्फ़ तपस्वी कहलाने के लिये निरुपयोगी प्रतिज्ञाएँ लेकर दूसरों को परेशान करना तथा

---

* वृत्तिपरिसंख्यानम् अनेकविधम्। तद्यथा—उत्क्षिप्तान्तप्रान्त चर्यादीनां सक्तु कुल्माषौदनादीनाम् चान्यतममभिगृह्यावशेषस्य प्रत्याख्यानम्। तत्वार्थभाष्य ९-१९-२

‡ एकागारसप्तवेश्मैकरथ्यार्धग्रामादिविषयः संकल्पो वृत्तिसंख्यानं।
—तत्वार्थराजवार्तिक ९-१९-४।

अपव्यय कराना अनुचित है। क्योंकि जब इस ढंग की प्रतिज्ञाएँ ली जाने लगती हैं, तब दाता-लोग बीसों तरह की वनस्पतियाँ और अन्य चीज़ें एकत्रित करते हैं, बदल बदल कर उनका प्रदर्शन करते हैं, इससे एक तमाशा लग जाता है। यह सब हिंसाजनक और अनावश्यक कष्टदायक होने से छोड़ देना चाहिये।

दिगम्बर सम्प्रदाय के कोई कोई लेखक इस तप का उद्देश सिर्फ़ यही बताते हैं कि शरीर की चेष्टा के नियमन* करने के लिये यह व्रत है। इसका कारण शायद यही है कि दिगम्बर सम्प्रदाय में अनेक घरों से भिक्षा लेने का नियम नहीं है। परन्तु यह अर्थ बहुत संकुचित है। इतनी छोटी-सी बात के लिये अलग तप बनाने की आवश्यकता भी नहीं है। इसके अतिरिक्त मूलाचार में दाता तथा भाजन (बर्तन) आदि के नियमविशेषों को वृत्तिपरिसंख्यान कहा † है। इस प्रकार राजवार्तिककार का अर्थ मूलाचार के विरुद्ध जाता है। मालूम होता है कि राजवार्तिककार की नज़र में मूलाचार नहीं आया था। खैर, आजकल इस तप का अधिकांश भाग निरुपयोगी है।

**रसपरित्याग**–जिस रस की तरफ़ आकर्षण अधिक हो अथवा उत्कट रस का चटपटा भोजन ही अच्छा मालूम होता हो

---

* न वा, कायचेष्टाविषयगणनार्थत्वाद् वृत्तिपरिसंख्यानस्य ।
—त० रा० वार्तिक ९–१९–११।

† गोयर पमाण दायग भोयण नाणाविधाण जं गहणं।
तह एसणस्स गहणं विविधस्स य वृत्तिपरिसंखा।
—मूलाचार ३५५।

तो उसका त्याग करना रसपरित्याग है। रसना इन्द्रिय को वश में रखने के लिये यह तप बहुत अच्छा है। हाँ, यह बात कषाय से न होना चाहिये। परन्तु यह शर्त तो हरएक तप के लिये आवश्यक है।

**विविक्तशय्यासन**–एकान्त-सेवन करना विविक्तशय्यासन तप है। ब्रह्मचर्य पालने तथा मौज-शौक की आसक्ति कम करने के लिये यह तप किया जाता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसलिये साधारणतः वह एकान्त पसन्द नहीं करता। परन्तु दूसरे लोगों के अनावश्यक सहवास में रहकर, वह जानबूझकर नहीं तो अनजान में, बहुत कष्ट पहुँचाया करता है। इसके अतिरिक्त उसका सुख पराधीन हो जाता है–इससे उसको कष्ट होता है, और दूसरों को भी कष्ट होता है। जैसे–एक आदमी ऐसा है जिसे किसी न किसी से गप्पें मारने की आवश्यकता है। अब ऐसा आदमी अवश्य ही जान में अनजान में या उपेक्षावश दूसरों के कार्य में विघ्न करेगा, अथवा वह दुखी होकर रहेगा। इसलिये अपनी और दूसरों की भलाई के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य में एकान्त में रहकर सुखी रहने की तथा पवित्र मन रखने की आदत हो। इसके लिये यह तप आवश्यक है।

परन्तु यह याद रखना चाहिये कि तप किसी दोष की निर्जरा करने अर्थात् उसे दूर करने के लिये है। एक दोष को दूर करके दूसरे दोषों को स्थान देने से वह तप नष्ट हो जाता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसीलिये उसके दुष्प्रभाव से बचने के लिये विविक्तशय्यासन-तप है। परन्तु, मानलो मनुष्य एक ऐसा

प्राणी है जो घर के भीतर या गुफाओं में अकेले पड़ा रहना ही पसन्द करता है, इस प्रकार उसमें जड़ता आ गई है, परस्पर सहयोग के अभाव से अनेक प्रकार के प्राकृतिक कष्ट दूर नहीं किये जा सकते हैं, तथा विनोद आदि का निर्दोष सुख भी उपलब्ध नहीं है, ऐसी हालत में विविक्तशय्यासन तप न कहलायगा, किन्तु सामाजिकता या सहवास-तप कहलायगा। मतलब यह कि तप सुख-प्राप्ति दुःख-नाश तथा स्वतन्त्रता के लिये है। इसलिये कोई तप इनका विरोधी न होना चाहिये। विविक्तशय्यासन कभी कभी इनका विरोधी हो जाता है, इसलिये इस विषय में सतर्कता की ज़रूरत है। जैसे—एकान्त में रहने का अभ्यास हो जाने से हमें प्रसन्न रहने के लिये दूसरे की आवश्यकता नहीं होती, इस प्रकार हम स्वतन्त्र भी होते हैं और दूसरों को कष्ट देने से भी बचते हैं। परन्तु कल्पना करो कि हम किसी ऐसी जगह पहुँच जाँय—जहाँ एकान्त दुर्लभ हो, एकान्त की योजना करने में लोगों को बहुत परेशान होना पड़ता हो। अगर ऐसी जगह न रह सकें और लोगों की सेवा न कर सकें तो यह हमारे जीवन की बड़ी भारी त्रुटि होगी। ऐसी परिस्थिति में विविक्तशय्यासन नहीं अविविक्तशय्यासन ही तप कहलायगा। हम, लोगों को सहन कर सकें, कोलाहल में भी शान्ति से सेवा स्वाध्याय आदि तप कर सकें, यह बड़ी भारी तपस्या है। इस तप का मतलब सिर्फ़ यही है कि हम विविक्तता या अविविक्तता में समभावी हों, इसके लिये दूसरे को कष्ट न दें, स्वयं दुखी न हों।

हाँ, अगर गम्भीर चिन्तन के कार्य के लिये थोड़े बहुत

एकान्त की आवश्यकता हो तो कोई हानि नहीं है। किसी ख़ास कार्य के लिये साधन के रूप में विविक्तता या अविविक्तता की इच्छा करना बुरा नहीं है, परन्तु साधारण हालत में उसे इस विषय में समभावी होना चाहिये।

**कायक्लेश**—शारीरिक कष्टों को सहन करना भी एक तप है। कभी कोई शारीरिक कष्ट आ पड़े तो उस समय हम उसे सहन कर सकें, समभाव रख सकें, इसके लिये यह तप है—एक समय यह साम्प्रदायिक प्रभावना के लिये भी था, परन्तु आज वह प्रभावना के लिये नहीं है, बल्कि अप्रभावना के लिये है। कोरी प्रभावना के लिये तप करना कुतप है।

जैनधर्म ने ऐसे तपों का विरोध किया है। पंचाग्नि तपना, शीत ऋतु में पानी में खड़े होना—आदि कुतप माने गये हैं। परन्तु उस जमाने में बाह्य-तप का इतना प्रभाव था कि जैनाचार्यों को भी बाह्य-तप का विरोध करना कठिन था, इसलिये उनने इसका विरोध दूसरे ढङ्ग से किया। जैसे—अग्नि जलाने में हिंसा होती है, इसलिये पंचाग्नि तप नहीं तपना चाहिये आदि। परन्तु असली बात तो यह है कि ऐसे बाह्य-तप करने की ज़रूरत नहीं है, जो सिर्फ़ सर्कस के खेल की तरह लोगों को आश्चर्यचकित करने के लिये हैं। समय के असर के कारण तथा लोकाकर्षण के कारण कुछ जैनाचार्यों ने इसे प्रभावना* के लिये भी लिख दिया है, परन्तु यह दिशा ठीक नहीं है। वास्तव में उसकी उपयोगिता सिर्फ़ कष्टसहि-

---

* देह दुःख तितिक्षासुखानाभिष्वंग प्रवचनप्रभावनार्थं।
—त० रा० वा० ९-१९-१४।

ष्णुता का अभ्यास करने के लिये है। फिर असली कष्टसहिष्णुता तो मन के ऊपर अवलम्बित है। प्रबल मनोबल होने पर ऐसे लोग भी कष्ट सहन कर लेते हैं--जिनने कभी कष्टों को नहीं सहा। जैन-शास्त्रों में ऐसी अनेक कथाएँ आतीं हैं। सुकुमाल कुमार इतना कोमल था कि उसकी बैठक के नीचे एक तिल का दाना आ गया था इससे वह भोजन न कर सका था, परन्तु ऐसा आदमी जब तपस्या करने लगा और गीदड़ी उसे सात दिन तक चाटती रही तब भी वह दृढ़ रहा। इससे मालूम होता है कि असली अभ्यास तो मानसिक है। फिर भी थोड़ा-बहुत इस प्रकार का अभ्यास किया जाय तो हानि नहीं है। परन्तु इसके लिये अन्तरङ्ग तपों को भुला बैठना, या प्रभावना समझना, या इससे यश खरीदने लगना आदि अनुचित है। यह बात अन्य बाह्य-तपों के विषय में भी समझना चाहिये।

अन्तरङ्ग-तप ही वास्तव में तप हैं। इन्हीं से आत्म-शुद्धि और लोक-सेवा होती है। बाह्य-तप तो इसलिये तप हैं कि वे अन्तरङ्ग तप में कारण हैं। महात्मा महावीर के पहिले बाह्य-तप को ही तप कहा जाता था, परन्तु बाह्य-तप से आत्मा का कोई विशेष विकास न होता था, इसलिये उनने इन आभ्यन्तर तपों की रचना की, या मुख्यता दी। जैन-धर्म ने तप शब्द के अर्थ में यह आवश्यक वृद्धि की थी। अकलङ्क देव* ने इन तपों की आभ्यन्तरता के तीन

---

*यतोऽन्यैस्तीर्थ्यैरनभ्यस्तमनालीढं ततोऽस्यांतरत्वम् अभ्यन्तरमितियावत। अन्तःकरणव्यापारावलम्बनं ततोऽस्याभ्यन्तरत्वम्। ९-२०-१। बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वाच्च। ९-२०-२। तत्त्वार्थ राजवार्तिक।

कारण बताये हैं। (१) दूसरे धर्मों ने इनका तप रूप में अभ्यास नहीं किया। (२) अन्तःकरण की वृत्ति पर अवलम्बित हैं। (३) इनके करने में बाह्यद्रव्य की आवश्यकता नहीं। इससे मालूम हो सकता है कि जैनधर्म का वास्तविक तप क्या है?

अन्तरङ्ग तप छः हैं–प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान।

**प्रायश्चित्त**– अपने दोषों के दुष्प्रभाव को दूर करने के लिये स्वेच्छा से प्रयत्न करना प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त और दंड का उद्देश्य एक ही है। दोनों ही दोषों के दुष्प्रभाव को दूर करने के लिये हैं, परन्तु प्रायश्चित्त स्वेच्छता से होता है, वह आत्मशुद्धि से सम्बन्ध रखता है; जब कि दंड में स्वेच्छा का खयाल नहीं किया जाता, इसलिये प्रायश्चित्त तप है, दंड तप नहीं है।

प्रायश्चित्त गुरु आदि के द्वारा दिया जाता है और दंड किसी शासक के द्वारा दिया जाता है, इसलिये दोनों की प्रक्रिया में भी भेद है। फिर भी कभी दंड प्रायश्चित्त बन जाता है; और कभी प्रायश्चित्त; दंड बन जाता है। अनिच्छा से लिया गया प्रायश्चित्त आत्मशोधक नहीं होता, इसलिये वह दंड है। और जब नीति की रक्षा के लिये शासक के सामने स्वेच्छा से आत्म समर्पण किया जाता है तब वह दंडरूप होकर भी प्रायश्चित्त है। मतलब यह कि स्वेच्छा और अनिच्छा से दोनों में भेद पैदा होता है।

प्रायश्चित्त, दंड न बन जाय–इसलिये अनेक दोषों का बचाव किया जाता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि किसी प्रकार का बहाना न किया जाय, मायाचार न किया जाय। जिस

से अपनी निर्मलता सिद्ध हो और लोगों में निर्वैर-वृत्ति का प्रचार हो उसी ढंग से प्रायश्चित्त लेना चाहिये। प्रायश्चित्त में निम्नलिखित दोषों का बचाव करना चाहिये—

(१) प्रायश्चित्त करने के पहिले इस आशय से गुरु को प्रसन्न करना जिससे वे प्रायश्चित्त कम दें, (२) बीमारी आदि का बहाना निकालकर यह कहना कि अगर आप कम प्रायश्चित्त दें तो मैं दोष कहूँ। (३) जो दोष दूसरों ने देख लिये हैं—उनका कहना और जो दूसरों ने नहीं देख पाये हैं—उनको छुपा जाना। (४) बड़े बड़े दोष कहना, छोटे-छोटे दोष छुपा जाना (५) बड़े बड़े दोष छुपा जाना और छोटे छोटे दोष प्रगट करना। (६) दोष न बताना किन्तु यह पूछ लेना कि अगर ऐसा दोष हो जाय तो क्या प्रायश्चित्त होगा, इस प्रकार चुपचाप प्रायश्चित्त लेना। (७) सांवत्सरिक पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण के समय यह समझकर दोष प्रगट करना कि इसी सामूहिक प्रतिक्रमण के साथ ही प्रायश्चित का आलोचन प्रतिक्रमण हो जायगा और अलग से कुछ न करना पड़ेगा। (८) प्रायश्चित में अनुचित सन्देह करना। (९) अपने किसी घनिष्ट मित्र या साथी को अपना दोष बताकर प्रायश्चित लेना, भले ही वह उचित से अधिक हो। (१०) अपने समान किसी दूसरे ने अपराध किया हो तो उसी के समान चुपचाप प्रायश्चित ले लेना।

इन दस दोषों में जिस बात को हटाने की सबसे अधिक चेष्टा की गई है, वह है—प्रायश्चित की गुप्तता। प्रायश्चित की गुप्तता से, उसका होना क़रीब क़रीब न होने के बराबर हो जाता है।

वह न तो आत्म-शोधन करता है (अथवा बहुत थोड़ा करता है) और न निर्वैरता पैदा करता है। जब हमसे किसी का अपराध हो जाता है, और उससे जो वैर बढ़ता है—जो कि बड़े बड़े अनर्थों को पैदा करता है, उसका कारण सिर्फ़ यह नहीं है कि उस अपराध से उसकी ऐसी हानि हो गई है जिसकी वह पूर्ति नहीं कर सकता; किन्तु उसका कारण यही होता है कि वह हमको अपना हितैषी और विश्वासी नहीं समझता। प्रायश्चित्त से वह विश्वस्तता फिर पैदा की जाती है। परन्तु अगर हम चुपचाप प्रायश्चित्त कर लें तो इस से दो बड़ी हानियाँ होंगीं। पहिली तो यह कि जिसका हमने अपराध किया है—उसको हमारी आत्म-शुद्धि का पता न लगेगा, इसलिये उसका वैर बढ़ता ही जायगा। दूसरी यह कि इससे हमारे अहङ्कार की पुष्टि होती है। अपराधी होने पर भी जब हम अपना अपराध प्रगट रूप में स्वीकार नहीं करते तब इसका कारण यही समझना चाहिये कि इससे हम अपनी तौहीन समझते हैं। यही अहङ्कार तो आत्म-शुद्धि के मार्ग में सबसे बड़ा अड़ंगा है। जहाँ अहङ्कार है, वहाँ प्रेम कहाँ? जहाँ प्रेम नहीं, वहाँ शान्ति कहाँ? जहाँ शान्ति नहीं, वहाँ सुख कहाँ?

हमारी यह छोटी-सी ही भूल अनर्थ पैदा करती है। हम मित्रों की हानि और शत्रुओं की सृष्टि करते हैं। हम मुनि हों या श्रावक, हमारा कर्तव्य है कि हमसे जब किसी का अपराध हो जाय तो वह हमें माफ करे या न करे; परन्तु हमें उसके सामने अपराध स्वीकार कर लेना चाहिये। अपराध कितना भी पुराना पड़ गया हो, परन्तु वर्षों पीछे भी उसकी आलोचना सफल है। इस

विषय में अपवाद सिर्फ इतना ही बनाया जा सकता है कि किसी समाज-हित के लिये उस अपराध का छुपाना आवश्यक हो तो छुपाया जाय। उसमें अहंकारका तो लेश भी न आना चाहिये। मायाचार, कायरता आदि भी आत्मशुद्धि में बाधक हैं, इसलिये उनको दूर करने के लिये भी उन दोषों को दूर करना चाहिये।

पुराने समय की मुनिसंस्था को लक्ष्य में लेकर प्रायश्चित्त के नौ भेद किये गये हैं—आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, उपस्थान। अपने दोष को स्वीकार करना आलोचना है इसकी आवश्यकता जैसी तब थी—वैसी अब भी है। लगे हुए दोषों पर पश्चात्ताप प्रगट करना, वह मिथ्या हो जाय, इत्यादि कहना यह प्रतिक्रमण है। आलोचन और प्रतिक्रमण ये एक ही तरह के प्रायश्चित्त हैं। प्रतिक्रमण शब्द का अर्थ है पापसे लौटना। इस दृष्टिसे आलोचन भी प्रतिक्रमण है। परन्तु यहाँ पर प्रतिक्रमण और आलोचन को अलग अलग कहा है, इससे प्रतिक्रमण को आलोचन से विशेष समझना चाहिये, और सामाजिक व्यवहार में प्रतिक्रमण में क्षमायाचना शामिल करना चाहिये। कहीं सिर्फ आलोचना से प्रायश्चित्त होता है, कहीं पर अपराधों की पृथक-पृथक आलोचना न करके सिर्फ क्षमायाचना से काम चल जाता है, और कहीं पर दोनों की आवश्यकता होती है। प्रत्येक बात की जुदी-जुदी आलोचना करके जुदी-जुदी क्षमा-याचना करना पड़ती है।

जिस विषय में अधिक आसक्ति हो उस विषय को छुड़ादेना विवेक है। अमुक समय के लिये ध्यान आसन-लगाना कायोत्सर्ग

है। तपका वर्णन पहिले हो चुका है। प्रायश्चित्त के प्रकरण में तप का अर्थ उपवास आदि बाह्य तप है।

छेद प्रायश्चित्त पहिले समय के रिवाज़ पर अवलम्बित है। पहिले समय में यह नियम था कि जो मनुष्य पहिले दीक्षित होता था, वह बड़े भाई के समान माना जाता था और जो पीछे दीक्षित होता था वह छोटे भाई के समान माना जाता था। इस के बाद सभ्यता का नियम लगता था कि छोटा भाई बड़े भाई की विनय करे। एक मुनिकी उमर पचास वर्षकी है परन्तु वह पाँच वर्षसे दीक्षित है, और दूसरे की उमर चालीस वर्षकी है परन्तु वह दस वर्ष का दीक्षित है, ऐसी हालत में पचास वर्षकी उमरवाला चालीस वर्षकी उमर वाले का छोटा भाई कहलायगा। लोकव्यवहार में जो स्थान उमर को प्राप्त है, मुनिसंस्था में वह स्थान दीक्षाकाल को प्राप्त था। जिस प्रकार व्यवहार में गुण, पद आदिके कारण उमर के नियम में अपवाद होता है, इसी प्रकार के अपवाद दीक्षाकाल में भी हुआ करते थे। दीक्षाकाल के इसनियम का उपयोग प्रायश्चित्त के लिये भी किया गया था। अगर दस वर्षके दीक्षितको नव वर्ष का दीक्षित नमस्कार करता है और कल दस वर्षके दीक्षित से ऐसा अपराध हो गया कि उसकी दीक्षा का दो वर्ष छेद कर दिया गया तो वह आठ वर्षके दीक्षित के समान हो जायगा और अब नव वर्ष वाले को बड़ा भाई मानेगा। यह छेद है।

कभी कभी दोषी प्रायश्चित्त में कुछ समय के लिये संघसे बाहर करदिया जाता था। यह परिहार था। और जब बहुत

भयंकर अपराध होता था तब उसे फिर नये सिरे से दीक्षा दी जाती थी। यह उपस्थापना प्रायश्चित्त था।

पुरानी मुनिसंस्था के लिये ये सब नियम बहुत उपयोगी थे, और आज भी इनकी उपयोगिता है। हाँ, थोड़ा बहुत परिवर्तन करने की आवश्यकता होगी तो इसमें कोई हानि नहीं है। मूल बात यही है कि निर्दोषता बढ़ायी जाय, वैर भाव हटाया जाय, अहंकार दूर किया जाय, इस प्रकार आत्म-शुद्धि हो। प्रायश्चित्त एक महान तप है। व्यवहार को सुव्यवस्थित और सुखमय बनाने के लिये भी इस तरह तपकी बड़ी उपयोगिता है। सैकड़ों उपवासों का करना सरल है परन्तु सच्चा प्रायश्चित्त करना कठिन है। इसका महत्त्व भी सैकड़ों उपवासों से सैकड़ों गुणा है।

**विनय**– विनय अर्थात नम्रता भी एक सच्चा तप है। अहङ्कार के सिर पर यह सीधा दंड–प्रहार है। सत्य के द्वार पर ले जाने वाला एक सुंदर मार्ग है। इसके चार भेद हैं–ज्ञान विनय, दर्शन-विनय, चारित्र-विनय और उपचार-विनय।

ज्ञान के विषय में विवेक पूर्वक पूज्यभाव रखना ज्ञान-विनय है। ज्ञान के क्षेत्र की बहुतसी बातें ऐसी होती हैं जो हमारे लिये उपयोगी नहीं होतीं, इसलिये हम उनका तिरस्कार करने लगते हैं परन्तु ऐसा न करना चाहिये। अगर कोई बात मिथ्या नहीं है अर्थात कल्यणकारी है तो हमारे लिये उपयोगी हो या न हो, हमें उसके विषय में मान रखना चाहिये। इसी प्रकार सत्यकी प्राप्ति के लिये दुनिया में जितने शास्त्र बने हैं, बन रहे हैं, अथवा उनमें विकास हो रहा है उसके विषय में भी आदर भाव रखना चाहिये।

कोई कोई लोग ज्ञान का ग्रहण, अभ्यास, स्मरण आदि को ज्ञान-विनय कहते हैं। बात तो अच्छी है परन्तु श्रेणी-विभाग की दृष्टि से उसका समर्थन नहीं किया जा सकता। क्योंकि ज्ञान-ग्रहण अभ्यास आदि तो स्वाध्याय नाम के तप में आजाते हैं। तब उसका इसी जगह अन्तर्भाव करना उचित नहीं मालूम होता।

कोई कोई लोग ज्ञानियों की विनय को ज्ञान विनय समझते हैं, परन्तु यह तो उपचार-विनय है।

सम्यग्दर्शन का विस्तृत स्वरूप पहिले कहा गया है उसके अङ्गों का वर्णन भी हुआ है। उन बातों में आदर रखना दर्शन-विनय है। ज्ञान और दर्शन में जो थोड़ा बहुत भेद है वह पहिले समझाया गया है। उसीसे ज्ञान-विनय और दर्शन-विनय का भेद भी समझा जा सकता है। सच बात तो यह है कि ज्ञान-विनय और दर्शन-विनय भगवान सत्य की उपासना है।

चारित्र-विनय भगवती अहिंसा की उपासना है। चारित्र के जो नियम पहिले बताये जा चुके हैं उनमें आदर भाव, विनय भाव रखना, स्वार्थ के पीछे उनका मानसिक, वाचनिक या शारीरिक तिरस्कर न करना चारित्र विनय है।

ज्ञान दर्शन चारित्र को धारण करने वालों का योग्यता-नुसार आदर करना, किसी भी तरह उनका तिरस्कार न होने देना, उनकी अपेक्षा अयोग्यों का उनके सामने उनसे अधिक आदर न करना आदि उपचार-विनय है।

अधिकार के और शक्ति के आगे भय से, धन और किसी प्रलोभन के आगे लालच से सिर झुकाने-वाले तो प्रायः सभी हैं

और ढोंगी वेषधारी के आगे अन्धश्रद्धा या समाज भय से झुकनेवाले भी बहुत हैं परन्तु इन कुवृत्तियों पर विजय प्राप्त करके सच्चे समाज सेवकों के आगे सिर झुकाना वास्तविक विनय है। यह एक तप है। मनुष्य की पूजा उसकी समाज-सेवा तथा उसके लिये उपयोगी स्वार्थ त्याग से है। अमुक स्थान पर शिष्टाचार के रूपमें हम अधिकारी आदि के साथ नम्रता का व्यवहार कर सकते हैं परन्तु उसे जीवन की बाहिरी चीज़ समझना चाहिये। आत्मा का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में वह विनय नहीं है।

वास्तव में यह उपचार विनय, ज्ञान दर्शन चारित्र-विनय ही है। परन्तु ज्ञान दर्शन चारित्र का मूर्त्तिमान रूप उसको धारण करनेवाला ही है, इसलिये उसका विनय करना चाहिये। इससे अपने में वे गुण उतरते हैं, इस मार्ग पर चलने के लिये दूसरों को उत्तेजना मिलती है। इससे अपना और जगत का कल्याण होता है।

**वैयावृत्य**—वैयावृत्य का अर्थ है सेवा। इसको तप में गिनाकर जैनधर्म ने यह बतला दिया है कि जैनधर्म का तप कोरा कष्टसहन नहीं है, प्रेमहीन नहीं है, अक्रियात्मक नहीं है। दूसरों की सेवा करना भी वास्तव में तप है।

तप का विवेचन विशेषतः मुनि संस्था को लक्ष्य में लेकर किया गया था, इसलिये वैयावृत्य के पात्रों में नाना मुनियों का ही उल्लेख हुआ है। विवेचन की यह मुख्यता सामयिक है। इसका यह अर्थ न समझना चाहिये कि वैयावृत्य का क्षेत्र मुनि-संस्था में ही संकुचित है। वहाँ संघ की वैयावृत्य का भी उल्लेख है जिसमें

मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका चारों का समावेश होता है।
अकलंक देवने तो मनोज्ञ वैयावृत्य में मनोज्ञ‡ का अर्थ असंयत सम्य-
ग्दृष्टि भी लिया है, अर्थात् जो मनुष्य संयम का पालन नहीं करता
किन्तु सच्चे मार्ग का विश्वासी है वह भी वैयावृत्य का पात्र है।

यह अर्थ भी कुछ संकुचित है परन्तु दर्शन ज्ञान चारित्र का
साम्प्रदायिक अर्थ न करने से यह संकुचितता भी नष्ट हो जाती
है। जब दर्शनज्ञान चारित्र हरएक सम्प्रदाय में हो सकता है तब
साम्प्रदायिक संकुचितता तो नष्ट हो ही गई। जिसमें थोड़ा भी
स्वार्थत्याग है, विश्वप्रेम है, वह चारित्रधारी तो है ही। इस प्रकार
उदार व्याख्यान से इसकी संकुचितता दूर हो जाती है।

फिर भी स्पष्टता के लिये इतना और समझ लेना चाहिये कि
इसके भीतर प्राणिमात्र की सेवा का संकेत है। हाँ, समाज सेवा
आदि गुणों को उत्तेजना देने के लिये गुण के अनुसार वैयावृत्य
करना चाहिये। जो अधिक गुणी है, समाजसेवी है, वह वैया-
वृत्य का अधिक पात्र है। समान आवश्यकता होने पर अधिक
गुणी का अधिक खयाल रखना चाहिये।

अधिकारी, श्रीमानों और वेषियों की वैयावृत्य अधिक लोग
किया ही करते हैं, परन्तु वास्तव में वह तप नहीं है। ऊपर विनय
के विषय में जो बातें कहीं गई हैं वे यहाँ भी समझना चाहिये।

---

‡ मनोज्ञोऽभिरूपः। ९-२४-१२। असंयतसम्यग्दृष्टिर्वा।
। ९-२४-१३। त० राजवार्तिक

**स्वाध्याय**—स्वाध्याय को भी तप में शामिल करके जैन-धर्म ने तप की व्यापकता तथा प्रत्यक्ष फलप्रदता का सुन्दर प्रदर्शन किया है। स्वाध्याय वास्तव में एक महान् तप है। ज्ञान के बिना मनुष्य कुछ नहीं कर सकता और स्वाध्याय ज्ञानप्राप्ति का असाधारण कारण है।

इसके पाँच भेद किये गये हैं। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय, धर्मोपदेश।

शिष्योंको पढ़ाना* अथवा किसी को निर्दोष ग्रन्थ† सुनाना या उसका अर्थ समझाना वाचना है। सच पूछा जाय तो वाचना का समावेश धर्मोपदेश में करना चाहिये। प्राचीन ग्रन्थकारों ने जो इसे स्वतन्त्र भेद माना है उसका कारण प्राचीन युग में लेखनपद्धति की कठिनाई है। पहिले ज़माने में शास्त्र श्रुतिस्मृति रूपमें रहते थे। वे सुनेजाते थे और स्मरण में रक्खे जाते थे, इसलिये श्रुति या स्मृति या श्रुति-स्मृति कहलाते थे। जब कोई गुरु या गुरुतुल्य व्यक्ति किसी को याद करने के लिये ग्रन्थ सुनाता था तथा उसका अर्थ भी समझाता था, तब यह वाचना कहलाती थी। धर्मोपदेश में कोई पाठ नहीं किन्तु इच्छानुसार अपने शब्दों में व्याख्यान किया जाता था।

लेखन प्रणाली का अधिक प्रचार न होने से स्वाध्याय के भेदों में, लिखी हुई पुस्तक आदि के पढ़ने के लिये कोई शब्द ही नहीं रक्खा गया। वाचना का जो ऊपर अर्थ किया गया है, वह

---

* तत्र वाचनम् शिष्याध्यायनम्। तत्वार्थभाष्य ९–२५॥

† निरवद्यग्रन्थार्थोभयप्रदानम् वाचना। त० रा० वर्तिक। ९–२५–१।

लिखित का पढ़ना नहीं मालूम होता। परन्तु आजकल उसका यही अर्थ करना चाहिये। आजकल पुराने ढंग की वाचना का रिवाज नष्टप्राय हो गया है और लिखित के पढ़ने का रिवाज सब जगह फैल गया है। इसलिये वांचना का अर्थ "पढ़ना" करना उचित है। प्राकृतभाषा में अध्ययन के अर्थ में यह शब्द प्रचलित हुआ है तथा आजकल की लोकभाषा में तो पढ़ने के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग और भी अधिक होता है।

पृच्छना का अर्थ है पूछना। निःपक्ष होकर जिज्ञासा के साथ शंका समाधान करना भी एक प्रकार का स्वाध्याय है। पढ़ी हुई, सुनी हुई या अनुभव की गई बातों पर विचार करना अनुप्रेक्षा है। स्वाध्याय का यह बहुत महत्वपूर्ण-प्राणोपम भाग है। धारण करने के लिये याद करना आम्नाय है। व्याख्यान देना, समझाना आदि धर्मोपदेश है।

**व्युत्सर्ग**—आभ्यन्तर तथा बाह्य उपधि का त्याग करना व्युत्सर्ग है। प्रायश्चित्त के भेदों में भी इसका वर्णन हुआ है, परन्तु वहाँ अपराध की प्रतिक्रिया के रूप में है जब कि यहाँ यह कारण नहीं है। आभ्यन्तर उपधि में कषाय तथा बाह्य उपधि में हर बाह्य वस्तु का संग्रह किया जा सकता है। परन्तु इसकी विशेष उपयोगिता शरीर त्याग में है। और शरीर त्याग का मतलब मर जाना नहीं है किन्तु उससे विशेष रूप में ममत्व छोड़ देना है। अपरिग्रह व्रत की अपेक्षा इसमें कुछ विशेष जोर दिया जाता है।

**ध्यान**—मन की एकाग्रता का नाम ध्यान है। इस तप पर बहुत जोर दिया गया है, इसका वर्णन भी बहुत किया गया है।

ध्यान के चार भेद हैं आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान पहले के दो ध्यान बुरे हैं, संसार अर्थात् दुःख के कारण हैं। पिछले दोनों अच्छे हैं, मोक्ष के अर्थात् सुख के कारण हैं।

आर्तध्यान में पीड़ा होती है। दुःख रूप जो ध्यान है वह आर्तध्यान है। किसी प्रिय वस्तु के वियोग होने पर ( इष्टवियोग ) या अप्रिय वस्तु के मिलने पर (अनिष्टसंयोग) या बीमारी वगैरह से (वेदना) अथवा भविष्य में विषय भोग की आकांक्षा से (निदान) जो ध्यान होता है वह आर्तध्यान है।

**शङ्का**—प्रारम्भ के तीन आर्तध्यान इसलिये अशुभ कहे जा सकते हैं कि उनमें कायरता है इसलिये दुःखों पर विजय प्राप्त करने में बाधा उपस्थित होती है। सहिष्णुता का अभाव होने से थोड़ा दुःख भी बहुत मालूम होता है परन्तु निदान क्यों बुरा है? यह तो आप ही कहते हैं कि धर्म सुख के लिये है इसलिये अगर कोई सुख के साधनों की आकांक्षा करे तो इसमें बुराई क्या है?

**समाधान**—सुख के साधनों की आकांक्षा करना बुरा नहीं है, परन्तु निदान में असली सुखकी आकांक्षा न करके नकली सुखकी आकांक्षा की जाती है। प्रथम अध्याय में सुखका जो स्वरूप बतलाया गया वैसे सुखकी आकांक्षा करना बुरा नहीं है, क्योंकि वह सुख समष्टिकी उन्नति के साथ होता है। परन्तु निदान में ऐसे सुखाभास की आकांक्षा की जाती है जो दूसरों के दुःखका तथा अनेक अनर्थों का कारण है। इसलिये निदान आर्तध्यान है, अशुभ है। जो मनुष्य समाज को सुखी करने के साथ अपने को सुखी करना चाहता है अर्थात् ऐसी आकांक्षा करता है उसके निदान

आर्तध्यान न समझना चाहिये

**शंका**–भविष्य सुखकी आकांक्षा करने को आपने निदान बताया परन्तु वर्तमान सुखकी इच्छा करने वाला अर्थात् वर्तमान में विषयों में लीन रहनेवाला क्या आर्तध्यानी नहीं है ? क्या वह शुभध्यानी है।

**समाधान**–वह शुभध्यानी नहीं किन्तु रौद्रध्यानी है। भविष्य की भोगाकांक्षा में अप्राप्ति का कष्ट रहता है इसलिये इसे आर्तध्यान में शामिल रक्खा है, परंतु वर्तमान भोगों में तो एक क्रूरता पूर्ण उल्लास रहता है इसलिये इसे विषयसंरक्षणानन्द या परिग्रहानन्द नामका रौद्रध्यन कहा है।

इस प्रकरण में अपरिग्रह की परिभाषा ध्यान में रखना चाहिये। शरीर की स्थितिके लिये तथा दूसरों को कष्ट न देते हुए अगर वस्तुओं का उपयोग किया जाय तो उस में अशुभ ध्यान नहीं होता।

**रौद्रध्यान**–पाप में आनन्दरूप–उल्लासरूप-वृत्ति रौद्रध्यान है। इसके चार भेद हैं, हिंसानन्द, अनृतानन्द, चौर्यानन्द, परिग्रहानन्द। इन के लक्षण इन के नामसे ही मालूम हो जाते हैं।

**शंका**-जिस प्रकार पाप पाँच हैं, उसी प्रकार रौद्रध्यान पाँच प्रकार का होना चाहिये था। कुशीलानन्द क्यों छोड़ दिया ?

**समाधान**–वह परिग्रह या विषय सेवन में शामिल है। पहिले चार व्रत और चार पाप माने जाते थे इसलिये रौद्रध्यान की संख्या भी चार ही रही। पीछे जब ब्रह्मचर्यको अलग व्रत बनाने की ज़रूरत पड़ी तब पाँच व्रत हो गये। और पाँच व्रतों को सम

ज्ञान के लिये पापोंका भी पाँच भेदों में वर्णन करना पड़ा। परन्तु रौद्रध्यान के भेद बढ़ाने की कोई ज़रूरत नहीं थी इसलिये वे चार ही रहे। अगर आज किसी को उस का पाँच भेदों में वर्णन करना हो तो भले ही करे, इस में कोई आपत्ति नहीं है।

**धर्म्यध्यान**–ज्ञान चारित्र रूप धर्म से युक्त ध्यान धर्म्यध्यान है। धर्मध्यान की कोई ऐसी परिभाषा नहीं जो उसे शुक्लध्यान से अलग करती हो। धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान में क्या अंतर है, इसका भी स्पष्टीकरण नहीं मिलता है। सर्वार्थसिद्धि में* इतना अवश्य कहा है कि श्रेणी आरोहण के पहिले धर्म्यध्यान है और श्रेणी में शुक्ल। फिर भी इससे दोनों के स्वरूप में अन्तर नहीं मालूम होता जिससे यह समझ में आ जावे कि दोनों में यह गुणस्थान भेद क्यों हुआ है? इसके अतिरिक्त एक अड़चन और है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित तत्त्वार्थसूत्र में ग्यारहवें और बारहवें‡ गुणस्थान तक धर्म्यध्यान बतलाया गया है। अगर यह बात मानी जाय तब तो धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान एक प्रकार से समान दर्जे के हो जाते हैं। इस प्रकार इनमें स्वरूप भेद बताना और भी कठिन हो जाता है।

बहुत कुछ विचारने पर यही मालूम होता है कि धर्मध्यान में कर्तव्य का विचार किया जाता है इसका सम्बन्ध धर्म पुरुषार्थ से है और शुक्लध्यान में धर्म की सिद्धि का अनुभव किया जाता

---

* तत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति श्रेण्यारोहणात्प्राग्धर्म्यं श्रेण्योः शुक्ले। ९–३७।

‡ उपशान्तक्षीणकषाययोश्च। त० ९–३८।

है इसका सम्बन्ध मोक्ष पुरुषार्थ से है, और दोनों ही बारहवें गुण-स्थान तक जा सकते हैं। तेरहवें चौदहवें गुणस्थान में तो ध्यान लगाने की आवश्यकता ही नहीं रहती है; वास्तव में वहाँ ध्यान माना भी नहीं जाता, कर्म की निर्जरा होने से ध्यान का उपचार किया जाता है। जीवन के अन्तिम समय में यह अवस्था होती है।

धर्म्यध्यान के चार भेद हैं। आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय संस्थानविचय। आजकल इन चारों ध्यानों की परिभाषाएँ निम्नलिखित रूप में प्रचलित हैं:—

जिस समय कोई बात समझ में न आवे, उस समय यह समझकर कि जिनेन्द्र कभी झूठ नहीं बोलते उस बात पर विश्वास रखना आज्ञाविचय है। अथवा जिनेन्द्र के कहे शब्दों को युक्तितर्क से सिद्ध करना आज्ञाविचय है*।

कहना न होगा कि धर्म्यध्यान के नाम पर किसी वैज्ञानिक धर्म में इस प्रकार अन्धश्रद्धा का समर्थन नहीं किया जा सकता। जीवन में कभी किसी को इस प्रकार श्रद्धा से काम लेना भी पड़े परन्तु ऐसी बात को तो अपवाद और आपद्धर्म के रूप में रखना चाहिये न कि धर्मध्यान का भेद बनाकर। सम्भवतः निःपक्ष

---

* उपदेष्टुरभावान्मन्दबुद्धित्वात्कर्मोदयात्सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां हेतुदृष्टान्तोपरमे सति सर्वज्ञप्रणीतमागमं प्रमाणीकृत्य इत्थमेवेदं नान्यथावादिनो जिना इति गहनपदार्थश्रद्धानमर्थावधारणमाज्ञाविचयः अथवा स्वयंविदितपदार्थतत्वस्यतः परंप्रतिप्रतिपादयिषोः स्वसिद्धान्ताविरोधेन तत्त्वसमर्थनार्थतर्कनयप्रमाणयोजनपरःस्मृतिसमन्वाहारः सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञाविचयः इत्युच्यते। सर्वार्थसिद्धि ९-३६।

विचारकों को तो इसमें कोई स्थान ही नहीं रह जाता। इससे मालूम होता है कि आज्ञाविचय का यह ठीक लक्षण नहीं है। शास्त्रों का क्या अर्थ है, इस प्रकार का विचार भी आज्ञाविचय* कहा जाता है। यह अर्थ कुछ ठीक दिशा में अवश्य है, फिर भी संकुचित है। आगे वास्तविक अर्थ कहा जायगा।

प्राणी सन्मार्ग से किस प्रकार नष्ट हो रहे हैं, इस प्रकार विचार करना अपायविचय है। कर्म का कैसा फल मिलता है इसपर विचार करना विपाक विचय है। और विश्व की रचना पर विचार करना संस्थान विचय है।

साधारण दृष्टि से ये परिभाषाएँ ठीक हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि संस्थान विचय के नाम पर भूगोल और खगोल पर जोर क्यों दिया गया? इतिहास और पुराण पर क्यों नहीं? बारह भावनाओं में एक लोक भावना है, उसी तरह का यह संस्थान विचय ध्यान है। माना कि भावना में ध्यान की तरह स्थिरता नहीं है परन्तु अन्य भावनाओं को भी धर्म्यध्यान के भेदों में क्यों नहीं रक्खा? यदि कहा जाय कि इनका आज्ञाविचय में समावेश हो जायगा तो बाकी तीनों धर्म्यध्यानों का भी आज्ञाविचय में समावेश किया जा सकता है। इससे मालूम होता है कि धर्म्यध्यान का यह श्रेणी-विभाग ठीक नहीं है अथवा इनकी परिभाषाओं में कुछ विकृति आगई है।

वास्तव में धर्म्यध्यान के इन विभागों में एक क्रम है। बल्कि

---

* आप्तवचनं तु प्रवचनमाज्ञाविचयस्तदर्थनिर्णयनम्। स्थानांग टीका ४-१।

ये एक विचार के चार अंश हैं। आत्माको कल्याणमार्ग में लगाने तथा जगत के उद्धार की अपेक्षा से धर्म्यध्यान के ये भेद किये हैं।

धर्मशास्त्र में आज्ञा का अर्थ है कर्तव्य की प्रेरणा, अथवा कल्याणोपयोगी पदार्थों का विधान। उसका विचार करना वह आज्ञा विचय है अर्थात् सुख के मार्ग पर विचार करना आज्ञाविचय है। प्राणियों का जो कर्तव्य है उसका अर्थात् आज्ञा का पालन न करने से वे कैसे दुराचारी, पतित, स्वार्थी आदि हो जाते हैं इस प्रकार का विचार अपायविचय है। इस प्रकार पतित होकर उन्हें कैसे कष्ट भोगना पड़ते हैं, इस प्रकार का विचार विपाकविचय है। प्राणियों के इस अधःपतन से संसार की कैसी दुरवस्था हो रही है यह संस्थानविचय है।

धर्म्यध्यान के इन चारों भेदों का ऐसा अर्थ करने से उसमें एक प्रकार का क्रम आजाता है, जो कि धर्म के किसी उद्देश्य को पूरा करने के लिये उचित और आवश्यक मालूम होता है।

**शुक्लध्यान**—धर्म्यध्यान की तरह यह भी एक पवित्र ध्यान है। इसके भी चार भेद हैं; पृथक्त्व वितर्क, (इस अवस्था में ध्यान कुछ चञ्चल रहता है। एक विषय पर स्थिर होने पर भी भीतर ही भीतर इसमें कुछ परिवर्तन होता रहता है) एकत्ववितर्क (इसमें परिवर्तन नहीं होता) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति (मरते समय जब शरीर में एक प्रकार की स्थिरता आजाती है, बहुत ही सूक्ष्म क्रिया बाकी रह जाती है, उस समय यह ध्यान माना जाता है) व्युपरतक्रियानिवर्ति—इसमें वह सूक्ष्म क्रिया भी बन्द हो जाती है।

पीछे के दोनों शुक्लध्यान अर्हंत के ही माने जाते हैं। इन ध्यानों के लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। प्रत्येक अर्हन्त के जीवन के अन्त समय में ये आप से आप होते हैं।

ध्यान की व्यावहारिक उपयोगिता भी बहुत है। इससे किसी विषय पर विचार किया जा सकता है, इससे ज्ञान की वृद्धि या प्राप्ति होती है, दुःखों को भुलाया जाता है, अपने आप में पूर्ण बना जाता है।

इस प्रकार ये अन्तरङ्ग तप हैं। बहिरङ्ग तप की अपेक्षा अन्तरङ्ग तपों पर अधिक जोर देना चाहिये। बहिरङ्ग तप वास्तव में तप नहीं है किन्तु वास्तविक तप के लिये एक साधन मात्र हैं।

**त्याग**—आठवाँ धर्म त्याग है। त्याग शब्द का व्यापक अर्थ किया जाय तब तो इसमें बहुत से धर्मों का समावेश किया जा सकता है परन्तु यहाँ पर उसका अर्थ दान है। पहिले अध्याय में कहा जा चुका है कि समाज की उन्नति में अपनी उन्नति है। अगर हम समाज को पतित अवस्था में छोड़कर उन्नत बनाना चाहें तो हमें असफल होना पड़ेगा अथवा हमें जितनी सफलता मिलना चाहिये उतनी सफलता न मिलेगी। दान के द्वारा हम दोनों का कुछ समीकरण करते हैं। दूसरों को उन्नत बनाकर हम वातावरण को कुछ स्वच्छ बनाते हैं जिससे हमें भी श्वास लेने में कष्ट न हो। इस प्रकार दान जितना परोपकारक है उतना ही स्वोपकारक है।

जैन शास्त्रों में दान के चार भेद किये गये हैं। आहार दान, औषधदान शास्त्रदान (ज्ञान दान) और अभयदान।

अभयदान के वदले में आवासदान भी कहा जाता है। वास्तव में ये दान मुनिसंस्था को लक्ष्य में लेकर कहे गये थे। इसलिये मुनियों को जिन जिन चीज़ों की ज़रूरत होती थी उनका नाम लिख दिया गया। परन्तु वास्तव में इसकी उपयोगिता सभी के लिये है, और देश काल के भेद से इस के ढंग में भी परिवर्तन करना आवश्यक है।

जैन साहित्य में भी इस प्रकार का संशोधन हुआ है और उस के अनुसार दान के चार भेद दूसरे ढंग से किये गये हैं— पात्रदान, करुणादान, समदान, और अन्वयदान। प्रारम्भ के चार दान पात्र-दान में शामिल किये जाते हैं। दान के ये चार भेद पहिले भेदों की अपेक्षा अधिक पूर्ण हैं।

**पात्रदान**— जो लोग सदाचारी हैं, न्यायशील हैं, दुनिया की भलाई के लिये जिनने अपना जीवन लगाया है—उनको सहायता पहुँचाना, उन के जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करना पात्र दान है।

इसका साम्प्रदायिक अर्थ न करना चाहिये; किन्तु जो भी मनुष्य दुनिया की भलाई के लिये प्रयत्न करता हो और किसी भी ढंग से क्यों न करता हो, उसे सहायता पहुँचाना आवश्यक है। हाँ, सच्चे पात्र को पहिचानने के लिये विवेककी ज़रूरत तो है ही, साथ ही उसके कार्योंकी उपयोगिता का भी विचार करना पड़ेगा।

पहिले ब्राह्मणों को इस प्रकार का दान दिया जाता था और आज भी दिया जाता है, परन्तु अब ब्राह्मण कुलोत्पन्न को दिया जाता है, भले ही वह ब्राह्मण हो या न हो। अगर ब्राह्मण-

कुलोत्पन्न न हो किन्तु ब्राह्मण हो तो भी नहीं दिया जाता। श्रमण सम्प्रदाय में यह दान श्रमणोपासकों को भी दिया जाने लगा। परन्तु आज पात्रापात्र का विचार कुछ दूसरे ढंग से करना चाहिये।

ब्राह्मण कुलोत्पन्न होने से या ब्राह्मण (विद्वान्) होने से ही कोई पात्र नहीं हो जाता और न श्रमण का वेष धारण करने से पात्र होता है। सच्ची साधुता का स्वरूप पहिले कहा गया है। उसी को कसौटी बनाकर साधुता की—पहिचान करना चाहिये, मनुष्य में निस्वार्थ समाज सेवाके साथ समाज सेवा करने की जितनी योग्यता होगी और उस का वह जितना उपयोग करेगा उसकी पात्रता उतनी ही अधिक होगी, फिर वह किसी भी जाति का क्यों न हो और किसी भी वेष में क्यों न हो।

पहिले ज़माने में पात्र को चार वस्तुएँ दी जाती थीं। भोजन, औषध, ज्ञानवृद्धि के साधन, रहने या ठहरने के लिये स्थान। वस्त्र तथा अन्य उपकरणों का समावेश भी इन्हीं में हो जाता है। आज भी इस प्रकार के साधन जुटाना आवश्यक है। परन्तु इस के अतिरिक्त कुछ और भी करना चाहिये।

पात्रों में भिक्षावृत्ति अनिवार्य न बन जाय, उनके हृदय पर कर्मण्यता का कुछ अंकुश रहे तथा कुपात्र भी पात्रों में न घुस जायँ—इसके लिये दानप्रणाली में कुछ नया ढंग लाना चाहिये। उनको भोजनादि देनेकी अपेक्षा उपार्जनके साधन जुटादेना कहीं बहुत अच्छा है। वे स्वयं परिश्रम करें, उस के बदले में जीवन निर्वाह के लिये उचित और आवश्यक वस्तुएँ लें और अगर कुछ बचत हो तो समाज को अर्पण करें।

पहिले ज़माने में साधुओं को या धर्म-स्थानों को ज़मीन वगैरह दी जाती थी। उसका प्रयोजन यही था कि समाज-सेवक लोग कृषिद्वारा अपना जीवन* निर्वाह करें और इस प्रकार स्वाश्रयी बनकर समाज सेवा करें। परन्तु बहुत समय व्यतीत हो जाने पर इसका दुरुपयोग होने लगा। उनमें कर्मण्यता तो न रही किन्तु जमींदारी-शान आ गई। उनने अपने हाथ से काम करना छोड़ दिया और पूँजीवादी मनोवृत्ति से काम लेना शुरू किया।

आज पूँजीवादी मनोवृत्ति को दूर करके इसी प्रकार के आश्रमों या संस्थाओं की ज़रूरत है जिसके बन्धन में रहकर समाज-सेवक-वर्ग समाज-सेवा करता हुआ जीवन यापन करे, जिससे इनको भी शान्ति मिले और समाज को सच्चे सेवक तथा मित्र मिलें। जो काम पैसा खर्च करके वेतनभोगी विद्वानों से नहीं हो सकता, वह इनसे हो, फिर भी समाज के ऊपर इनका कम से कम बोझ पड़े।

यह आवश्यक नहीं है कि ये लोग खेती ही करें। ये लोग गृहोद्योग तथा मशीनों के अन्य काम भी करें, छोटे बड़े कारखाने चलावें—साहित्य प्रचार के लिये मुद्रणालय चलावें। इससे साधु-संस्था और समाज-सेवक-वर्ग स्वाश्रयी, कर्मण्य, उत्तरदायित्वपूर्ण और संगठित बनेगा। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय दृष्टि से बहुत लाभ

---

*आज कल सरीखी ज़मींदारी की प्रथा अर्वाचीन है। अगर मैं भूलता नहीं हूँ तो अकबर बादशाह के समय राजा तोड़रमल ने इस प्रथा का सूत्रपात किया था। इसके पहिले ज़मीन के मालिक ही ज़मीन जोतते होंगे। इसलिये सन्यासियों को दी गई ज़मीन का उपयोग वे ही करते होंगे।

होंगे । उदाहरणार्थः—

राष्ट्र के जो उद्योग विदेशी पूँजीपतियों की प्रतियोगिता के कारण पनप नहीं सकते या टिक नहीं सकते, वे इन स्वार्थत्यागियों के भरोसे खड़े किये जा सकेंगे क्योंकि इन लोगों को बदला बहुत थोड़ा देना पड़ेगा ।

अगर राष्ट्र का ग्राम्यजीवन बर्बाद हो रहा है तो ये लोग—जो कि विवेकी सभ्य और त्यागी होंगे—ग्राम्य जीवन का आदर्श उपस्थित करेंगे, जहाँ स्वच्छता, सभ्यता, सहयोगशीलता के साथ नागरिकता का समन्वय किया जायगा । इस प्रकार के नमूने उपस्थित कर दूसरे ग्रामों को इसीप्रकार सुधारने की कोशिश करेंगे। एक बार जहाँ इस प्रकार ग्राम्य सुधार की हवा चली कि वह सर्वव्यापी हो जायगी ।

जिस देश में करोड़ों रुपये धार्मिक संस्थाओं को दान दिया जाता हो उस देश में अगर उसका दसवाँ भाग इस ढंग से खर्च किया जाय तो देश की सारी आवश्यकताएँ देश में ही पूरी की जा सकती हैं । इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक आक्रमणों का पाप दूर किया जा सकता है । अगर किसी उद्योग में एक लाख रुपया प्रतिवर्ष घाटा सहा जाय और उस में काम करने वाले साधु के समान अपरिग्रही हों तो यह सम्भव ही नहीं है कि थोड़े से वर्षों में वह अपने पैरों पर खड़ा न हो सके । प्रारम्भ से ही जब पूँजीवादी मनोवृत्ति काम करने लगती है तब असफलता होती है, परन्तु यहाँ तो पूँजी खो देने तक की तयारी है और निस्वार्थ काम करना है तब क्यों न सफलता होगी ?

इस प्रकार दान करने की दिशा में परिवर्तन करना चाहिये ऐसी संस्थाओं के नीचे उद्योग चलाने के लिये धन का दान करना किसी भी अन्य धार्मिक संस्था में दान करने की अपेक्षा अधिक पुण्यका कार्य है क्योंकि इससे स्वकल्याण और परकल्याण दोनों ही होते हैं। इस ज़रिये से बेकारी भी हटायी जा सकती है और आदर्श समाज भी बनायी जा सकती है। इन दोनों बातों के नाना सुफल होंगे वे अलग।

ये आश्रम लोगों को शांति प्रदान करने तथा जीवन सुधार की शिक्षा लेने के लिये भी उपयोगी होंगे। पुराने ढंग के लोगों में तीर्थाटन का बहुत रिवाज है। नये ढंग के के लोग भी हवाखोरी के बहाने देशाटन करते ही हैं। कुछ लोग नगरों से या अपने स्थान से ऊब कर कुछ समय के लिये अन्यत्र चले जाते हैं। ऐसे लोगों के लिये ये आश्रम बड़े काम की चीज होंगे। यहाँ पर आकर लोग सकुटुम्ब होकर रहें। जीवन-सुधार का, संयम का, शांति का अभ्यास करें। साथ ही वायु परिवर्तन भी। इस प्रकार ये संस्थाएँ समाज राष्ट्र और विश्व की बहुत अच्छी चीज बन सकेंगी।

पात्र-दान की यह नयी व्यवस्था विवेकपूर्ण तथा बहुत फल देनेवाली है। रोटी खिला देने से या थोड़ा-सा अन्न दे देने से या थोड़ी सी सम्पत्ति आँख बन्द कर जहाँ चाहे फेंकदेने से पात्र दान नहीं हो जाता। उस के लिये विवेक से काम लेकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिस से समाज का सर्वाङ्गीण विकास हो—उस के कष्ट कम हों तथा सुख में वृद्धि हो।

पात्र दान में अन्य दानों की अपेक्षा विशेषता यह है कि

इस में पात्र की पूजा की जाती है । इस के लिये चरण धोने आदि की प्रणाली प्रचलित है । यह है तो अनुचित, परन्तु इसके भीतर एक रहस्य है, वह अवश्य ही ध्यान में और व्यवहार में रखने लायक है ।

पात्र-दान ऐसे ही लोगों को दिया जाता है जो कि निस्वार्थ समाज सेवक हैं । उनको दान देकर हम उनके ऊपर अहसान नहीं कर रहे हैं—यह बात ध्यान में रहे, इसलिये यह पूजा-अर्चाकी प्रथा है । उसका वर्तमान रूप त्याग करके भी हमें उस का भाव ध्यान में रखना चाहिये, तथा सच्चे समाज-सेवकों को अहसान में न दबाकर उनका आदर करना चाहिये तभी उन से लाभ उठाया जा सकता है; अन्यथा सच्चे सेवक न तो मिलेंगे और न हम उनसे सच्ची सेवा ले सकेंगे । कदाचित वे हमारी इच्छा के अनुसार काम करेंगे, जैसा कि हम चाहते हैं, परन्तु हित के अनुसार नहीं ।

**करुणादान—** दीन-दुःखी मनुष्यको करुणा बुद्धि से दान देना करुणा-दान है । चिकित्सालय खुलवाना आदि इसी दान के भीतर है । सदावर्त द्वारा गरीबों को भोजन देना भी करुणादान है । परन्तु इसकी अपेक्षा यह अधिक अच्छा है कि उनसे कुछ काम कराया जाय जिससे उनमें दीनता, भिखमंगापन, आलस्य आदि न आने पावे ।

शंका—अगर किसी देश में काम करनेवाले इतने अधिक हों कि उन्हें काम न मिलता हो, और फिर इन भिक्षुकों से भी काम लिया जाने लगे तब तो बेकारी और बढ़ेगी ।

**समाधान**— इनको ऐसे काम दिये जावें जिन्हें कि आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद न होने से कोई न करता हो। देश में ऐसे बहुत से काम होते हैं जो आवश्यक होने पर भी बहुव्ययसाध्य होने से उसके लिये कोई पैसा खर्च नहीं करता। ऐसे काम इन लोगों से लेना चाहिये। मानलो गाँव के बाहर एक ऐसी ज़मीन है जहाँ लोग शाम को घूमने जा सकते हैं, परन्तु ज़मीन इतनी ऊबड़ खाबड़ तथा पथरीली है कि कोई उसका उपयोग नहीं करता। म्युनिसिपैलिटी या ग्राम्यसंघ में पैसे की इतनी गुंजायश नहीं है कि वह मजूर लगाकर यह काम करा सके, और गाँव का कोई श्रीमान भिक्षुकों को मुट्ठीभर अनाज रोज़ देता है। अब अगर वह इस शर्त पर अनाज दे कि सब भिक्षुक पन्द्रह मिनिट तक वह ज़मीन साफ़ करें तो थोड़े ही दिनों में वह बिलकुल साफ़ हो जायगी। अगर इससे भी मजूरोंकी मज़ूरी मारी जाती हो तो और कोई काम देखना चाहिये। यह तो एक उदाहरण मात्र है। और इस तरह के काम ढूँढे जा सकते हैं जो भिक्षुकों से कराये जायँ किन्तु उसके लिये किसी को बेकार न होना पड़े। इस प्रकार करुणादान में अगर विवेक से काम लिया जाय तो अकर्मण्य लोग करुणास्पद बनने का ढोंग न करेंगे, तथा यह दान व्यापक रूप में लोकोपकारक सिद्ध होगा। हाँ, जो लोग किसी कारण से कोई काम करने लायक न हों तो उनको वैसे ही मदद की जाय। क्योंकि इसका क्या ठिकाना कि हमारी कभी दुरवस्था न होगी। उस समय इस सुनियम का सुफल हमें भी मिलेगा। परोपकार क्यों आवश्यक है; इस विषय में प्रथम अध्याय में लिखा गया है।

शङ्का– अगर हम कर्मफल को मानते हैं तो हमें करुणा-दान क्यों करना चाहिये ? प्राणी अपने पाप का फल भोगते हैं। वह उन्हें भोगना चाहिये। उन्हें उस से छुड़ाने का प्रयत्न करने वाले हम कौन ?

**समाधान**—इस प्रकार का विचार हमें दूसरों के लिये ही न करना चाहिये, किन्तु अपने कुटुम्बियों और अपने लिए भी करना चाहिए। अपना पुत्र जब बीमार पड़े तो उसकी चिकित्सा सेवा न करना चाहिए यहाँ तक कि जब हम स्वयं बीमार पड़ें तब निरोग होने की चेष्टा न करना चाहिए। चलते चलते गिर पड़ें तो उठना भी न चाहिए अन्यथा कर्मफल में बाधा आयगी। अगर अपने लिये हम इतनी उदारता का उपयोग नहीं करते तो दूसरे के लिए भी उस का उपयोग न करें, इसी में हमारी सचाई है।

दूसरी बात यह है कि हमारे और दूसरे के भाग्य में क्या है–यह हमें दिखाई नहीं देता। इधर कर्म भी अपना कार्य करने के लिये नोकर्म ( बाह्य निमित्तों ) की अपेक्षा रखता है। इसलिए सम्भव है कि उसका शुभ कर्म उदय में हो जिससे वह विपत्ति से छुटकारा पानेवाला हो, परन्तु किसी बाह्य निमित्त की ज़रूरत हो। वह हमें जुटा देना चाहिए। सहायक का संयोग भी तो उस के शुभ कर्म की निशानी है।

तीसरी बात यह है कि मनुष्य में दैव की प्रधानता नहीं है, किन्तु पुरुषार्थ की प्रधानता है। दैव अपना काम करे, परन्तु हमें भी अपना काम करना चाहिए। दैव को हम नहीं जान सकते, न वह हमारे हाथ में है हमारे हाथ

पुरुषार्थ है, प्रयत्न है—इसलिये दैव का विचार किये बिना हमें प्रयत्नशील होना चाहिए और अधिक से अधिक भलाई करना चाहिए।

**शङ्का**—असंयमी प्राणियों पर करुणा करने से तथा उन की रक्षा करने से असंयम की वृद्धि ही होगी। भविष्य में वे जो पाप करेंगे उसके निमित्त हम भी होंगे।

**समाधान**— प्राणी के जीवन में असंयम ही नहीं होता किन्तु संयम भी होता है, उसमें प्रेम भी होता है, इससे वह किसी का अवलम्बन भी बनता है, इसलिये हमें असंयमी का नहीं किन्तु असंयम का विचार करना चाहिए। असंयम के कार्य में सहायता कभी न करे, परन्तु असंयमी को सहायता करना चाहिए। सम्भव है—इसीसे वह संयमी बने, दूसरों के लिए वह भलाई का साधन बने। गाय भैंस आदि पशु भी असंयमी होते हैं, परन्तु उनकी रक्षा से समाज की रक्षा है। अहिंसा के प्रकरण में भी इस विषय में विवेचन किया है। उस पर भी विचार कर लेना चाहिये।

**समदान**— सामाजिकता तथा प्रेम बढ़ाने के लिये प्रीतिभोज करना आदि समदान है। यथाशक्ति ये काम भी उपयोगी हैं। इससे साम्पत्तिक वितरण में समता आती है—पारस्परिक सहयोग का भाव बढ़ता है। प्रवास वगैरह में हम दूसरों को, दूसरे अपने को सहायक होते हैं। हाँ, विवेक से काम लेने की ज़रूरत तो यहाँ भी है। मृत्युभोज सरीखी क्रूर क्रियाओं का समर्थन इससे नहीं किया जा सकता।

अन्वयदान– अपनी सम्पत्तिका किसी या किन्हीं उत्तराधिकारियों को सौंपना अन्वयदान है। बहुत से लोग शायद इसे दान न मानेंगे,परन्तु यह भी एक दान है। हमारे मर जाने पर हमारे उत्तराधिकारी जो हमारी सम्पत्ति के स्वामी हो जाते हैं–वह दान नहीं है। दान वही है कि अपने जीते जी अपनी सम्पत्ति का यथायोग्य वितरण कर देना,तथा वानप्रस्थ होकर अपना स्थान दूसरों को खाली कर देना तथा अपने हाथ में ऐसे काम ले लेना जो समाज की उन्नति तथा प्रगति के लिये उपयोगी हैं, किन्तु आर्थिक बेकारी नहीं फैलाते। जीवन के अंतिम भाग में सेवा और शान्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये। कर्मयोगी बनकर विश्वमात्र की सेवा के लिये कर्मशील बनना उचित है। अन्वय-दान इस क्रिया में बहुत सहायक है।

दान की यहाँ दिशा-मात्र बतला दी गई है। इससे दान के विषय में पर्याप्त विचार किया जा सकेगा। हाँ, एक बात ध्यान में रखना चाहिये कि दान ऐच्छिक धर्म नहीं है, किन्तु अनिवार्य है। सम्पत्ति होने पर अगर दान न किया जाय, उसको कैद करके रख लिया जाय तो इसमें समाज का द्रोह है, परिग्रह पाप है। अपरिग्रह के प्रकरण में भी इस विषय पर पर्याप्त विचार किया गया है।

सम्पत्ति एक न एक दिन छूटनेवाली तो अवश्य है। भले ही वह ऐसे आदमी को मिले जिसे हम अपना पुत्र कहते हैं, परन्तु आखिर वह भी तो समाज का ही एक अङ्ग है। शायद हम यह समझें कि उसे सम्पत्ति देने से नाम चलेगा; परन्तु इसका

भरोसा क्या है ? दूसरी बात यह है कि अगर सम्पत्ति से नाम चल सकता है तो उसका उपयोग जीवन में ही क्यों न किया जाय—जिससे यश का आनन्द अपने को मिल सके ? तीसरी बात यह है कि अपने मरने के पीछे उत्तराधिकारी सम्पत्ति ले ले और उससे किसी का जितना नाम हो सकता है उससे हज़ार-गुणा नाम उसका होता है—जो समाज के लिये सम्पत्ति दे जाता है। यहाँ सन्तान को भिक्षुक बना देने की बात नहीं है। सन्तान का पालन, रक्षण, उन्नति आदि भी समाज का काम है। परन्तु सभी तरफ समतोलता रहे—इसके लिये एक तरफ ज़ोर दिया गया है। इस प्रकार दान, यश की दृष्टि से तथा समाज-हित की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। यह परमार्थ भी है और स्वार्थ भी है।

**आकिंचिन्य**—अर्थात अपना कुछ न समझना। अपरिग्रह-व्रत के लिये, शौच और दान के लिये यह उत्तेजक है। अपने को स्वामी नहीं, किन्तु ट्रस्टी, रक्षक मानने में निराकुलता भी है तथा समाज हित भी है।

**ब्रह्मचर्य**—इसका विवेचन पहिले विस्तार से किया गया है।

## परिषह-विजय

मुनि या संयमी मनुष्य को परिषह-विजय करना चाहिये, अन्यथा वह संयम का पूर्ण रूप से पालन नहीं कर सकता वह संयम से गिर पड़ेगा। इसके लिये बाईस परिषहों को जीतने का उल्लेख है। मैं पहिले मुनियों के ग्यारह मूल-गुणों का उल्लेख कर आया हूँ। उनमें एक कष्ट-सहिष्णुता भी है। परिषहों का

यथाशक्ति विजय करना इसी मूल-गुण में शामिल है। स्वास्थ्य वगैरह को सम्हालने की जो बातें कष्ट-सहिष्णुता के वर्णन में कही गई हैं, उनका यहाँ भी ध्यान रखना चाहिये। हाँ, योग्य कर्त्तव्य के लिये स्वास्थ्य का क्या, जीवन का भी बलिदान करना पड़ता है।

यद्यपि यहाँ परिषह-विजय पर कुछ लिखने की जरूरत नहीं थी, परन्तु कुछ परिषहों पर जुदे जुदे दृष्टि-बिन्दुओं से विचार करना है, इसीलिये यहाँ कुछ लिखा जाता है। परिषहें बाईस हैं। उनका अर्थ उनके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है। यह भी आवश्यक नहीं है कि वे बाईस ही मानी जायँ। आवश्यकता होने पर उनमें न्यूनाधिकता भी हो सकती है। उनके नाम ये हैं:-

क्षुधा (भूख), पिपासा (प्यास), शीत, उष्ण, दंशमशक (डाँस, मच्छर, बिच्छू, सर्प आदि), नग्नता, स्त्री, चर्या (चलने का कष्ट), निषद्या (एक जगह आसन लगाने का कष्ट), शय्या (सोने का कष्ट, कठोर ज़मीन में सोना पड़े आदि), आक्रोश (गालियाँ वगैरह सहना पड़े), वध (मारपीट सहना पड़े), याचना, अलाभ (भिक्षा वगैरह न मिले), रोग, तृणस्पर्श (कंटक वगैरह), सत्कार-पुरस्कार (मानापमान), प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन इनमें से कुछ परिषहों पर विशेष सूचना करने की ज़रूरत है।

**नग्नता**— इस विषय में मूल-गुणों की आलोचना करते समय लिख दिया गया है। यहाँ सिर्फ इतना समझना चाहिये कि परिषहों में नग्नता के उल्लेख से इतना तो मालूम होता है कि जैन सम्प्रदाय में नग्नता प्राचीन है, अर्थात् महात्मा महावीर के ज़माने से

है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह अनिवार्य है। परिषहों में जो परिषहें उपस्थित हो जायँ-उन पर विजय करना चाहिये। सहन करने के लिये प्रत्येक परिषह को रखना जरूरी नहीं है। जैसे साधु प्रति समय भूखा-प्यासा आदि नहीं रहता, उसी प्रकार नग्न रहना भी जरूरी नहीं है। हाँ, अगर कभी नग्न रहना पड़े तो उसे विजय करने की शक्ति रखना चाहिये। कुछ लोग नग्नता के समर्थन में कहने लगते हैं कि अगर कोई मनुष्य नग्न रहकर ठण्ड-गर्मी नहीं सह सकता तो वह साधु क्यों बनता है? इसके उत्तर में पहिली बात तो यह है कष्टसहिष्णुता का सम्बन्ध सिर्फ़ शरीर से नहीं है--वह अनेक परिस्थितियों पर अवलम्बित है। दूसरी बात यह है कि नाग्न्य परिषह का ठंड-गर्मी आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु लज्जा से है। एक आदमी शीत पीड़ित होकर ताप रहा है, किन्तु नग्न है। तो हम उसे शीत-परिषह-विजयी तो न कह सकेंगे, किन्तु नग्न-परिषह विजयी कह सकेंगे। इसी प्रकार लँगोटी लगाकर ठंड सहनेवाला नग्न-परिषहजयी नहीं है, किन्तु शीतजयी है। इसीलिये इस परिषह का सम्बन्ध चारित्र-मोह से रक्खा गया है, क्योंकि इससे शरीर पर नहीं, मन पर विजय प्राप्त करना है। मन पर विजय प्राप्त करके भी अगर लोगों की सुविधा के लिये नग्न न भी रहे तो भी वह नग्नपरिग्रह-विजयी है।

स्त्री--स्त्रियों की तरफ़ से कामुकतापूर्ण आकर्षण किया जाय तो उस आकर्षण पर विजय प्राप्त करना स्त्री-परिषह-विजय है। यह परिषह तो सिर्फ़ साधुओं को ही लागू हो सकती है, न

कि साध्वियों को। परन्तु परिषह-विजय तो दोनों के लिये एक-सी आवश्यक है। तब स्त्री-परिषह के समान पुरुष-परिषह क्यों नहीं मानी जाती? इसका कारण तो सिर्फ़ यही मालूम होता है कि पहिले ज़माने में जब साधारणतः किसी बात का उपदेश दिया जाता था तब वह विवेचन पुरुषों को लक्ष्य में लेकर किया जाता था, इसलिये उन ही को लक्ष्य लेकर यह परिषह बन गई है। दूसरा कारण यह है कि साधारणतः पुरुष जितना स्त्री की तरफ आकर्षित होता है—उतनी स्त्री पुरुष की तरफ आकर्षित नहीं होती, अथवा आकर्षित हो करके भी उसका आकर्षण प्रगट नहीं होता, इसलिये पुरुष को सम्हालने की अधिक ज़रूरत मालूम हुई। परन्तु ये दोनों कारण पर्याप्त नहीं हैं। इसलिये आज तो इस परिषह का नाम बदल देना चाहिये। स्त्री-परिषह के बदले इसका नाम "काम-परिषह" रखना चाहिये। यह स्त्री और पुरुष दोनों के लिये एक सरीखी है।

**याचना**—इस परिषह के अर्थ में दोनों सम्प्रदायों में मत-भेद है। दिगम्बर सम्प्रदाय कहता है कि प्राण जाने पर भी दीन वचन न बोलना और न किसी से आहार वगैरह की याचना करना याचना-परिषह-विजय है। याचना के रिवाज़ को वे पाप समझते हैं *। जब कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में इसे पाप नहीं माना गया है, बल्कि याचना करने में दीनता तथा अभिमान न आने देना

---

* अद्यत्वे पुनः कालदोषाद्दीनानाथपाखंडिबहुले जगत्यमार्गज्ञैरनात्मवेदिभिः याचनमनुष्ठीयते। त० रा० वार्तिक ९-९-२१।

याचना-परिषह का विजय है। दोनों सम्प्रदायों के मुनियों की भिक्षा का ढंग जुदा जुदा है। इसीलिये इस परिषह के अर्थ करने में यह गड़बड़ी पैदा हुई है। मैं लिख चुका हूँ कि भिक्षा के दोनों ढङ्ग प्राचीन हैं। पहिला ढङ्ग जिनकल्पियों का है, दूसरा ढङ्ग स्थविरकल्पियों का। आंशिक दृष्टि से दोनों ठीक हैं; फिर भी याचना-परिषह की उपयोगिता तथा वर्गीकरण की दृष्टि से पहिला अर्थ कुछ असंगत मालूम होता है। यहाँ यह बात याद रखना चाहिये कि याचना-परिषह का सम्बन्ध भी चारित्रमोह * से है। इससे यह मालूम होता है कि उसमें किसी मानसिक-वासना पर विजय प्राप्त करना है। दिगम्बर मान्यता के अनुसार उसका सम्बन्ध चारित्रमोह से नहीं रहता; बल्कि भूख-प्यास सहने के समान असातावेदनीय से हो जाता है। यों तो हरएक परिषह में वास्तविक विजय तो मन पर ही करना पड़ती है; परन्तु कुछ का सम्बन्ध पहिले शरीर से है फिर मन से, जब कि कुछ का सीधा मन से ग्यारह † परिषहें शारीरिक-कष्टों से सम्बन्ध रखती हैं, इसलिये उनका कारण असातावेदनीय माना जाता है; और बाकी ग्यारह घातिया-कर्मों से सम्बन्ध रखती हैं।

याचना करने में लज्जा, दीनता, संकोच आदि मानसिक कष्टों का सामना करना पड़ता है, इसलिये उनके विजय करने का

---

* चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ९-१५ तत्वार्थ।

† क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल।

विधान किया गया है, इसलिये याचना करना ही वास्तव में परिषह कहलायी–जिस पर विजय प्राप्त करना है। याचना न करना परिषह नहीं है, क्योंकि उससे किसी मानसिक कष्ट का सामना नहीं करना पड़ता। इसीलिये परिषह का नाम याचना है, न कि अयाचना।

इस ग्रन्थ के अनुसार तो मुनियों का कार्यक्षेत्र विशाल है तथा मुनियों का धर्म गृहस्थों के लिये भी उपयोगी है, इसलिये याचना-परिषह का क्षेत्र विशाल है। भोजन के विषय में भिक्षावृत्ति अनिवार्य न होने से उस विषय में आज याचना-परिषह अनिवार्य नहीं है; फिर भी अगर कभी ज़रूरत हो तो याचना-विजय करना चाहिये। इसके अतिरिक्त धर्म तथा समाज की उन्नति के लिये लोगों से अनेक प्रकार की याचना करना पड़ती है, इसलिये वहाँ भी उस परिषह के विजय की आवश्यकता है।

**मल**— इसके विजय की भी ज़रूरत है, परन्तु इसके नाम पर शरीर को मलिन रखने का जो रिवाज़ है—वह ठीक नहीं है। अकलंक देव ने इस विषय में एक बात यह भी कही है कि केश-लौंच परिषह भी इसी में शामिल है। परन्तु यह ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि मल-परिषह विजय का अर्थ है घृणित चीज़ों से भी घृणा न करके कर्तव्य पर दृढ़ रहना। बाल कोई मल नहीं है, बल्कि वे तो शृङ्गार के साधन माने जाते हैं। अगर उन्हें मलरूप माना भी जाय तो उनके धारण किये रहने में मल-परिषह-विजय है—न कि लौंच करने में। इसलिये यह समाधान ठीक नहीं है।

आज केशलौंच की ज़रूरत नहीं है, इसलिये उसका उल्लेख निरर्थक है। अगर उसकी ज़रूरत होती तो उसका नाम

अलग ही लेना चाहिये था। यह भी सम्भव है कि प्रारम्भ में--जब कि परिषहों की गणना की गई हो उस समय--केशलौंच का रिवाज़ न हो।

**प्रज्ञा**—विद्वान् और बुद्धिमान होने से मनुष्य में एक प्रकार का अहंकार आ जाता है। यह उसके अधःपतन का मार्ग है तथा समाज-हित का नाशक है, इसलिये ऐसा अहंकार न आना चाहिये। यहाँ प्रज्ञा उपलक्षण है इसलिये किसी भी तरह का विशेष गुण जिससे अहंकार पैदा हो सकता है, वह सब प्रज्ञा शब्द से समझना चाहिये।

**अज्ञान**— अज्ञान की व्याख्या भी गुणाभावरूप करना चाहिये। प्रज्ञा से यह उल्टा है। उसमें गुण के अहंकार का विजय करना पड़ता है और इसमें गुणाभाव से जो दीनता, निराशा, अपमान, अपमान से पैदा होनेवाली कषाय आदि का अनुभव करना पड़ता है, उस पर विजय की जाती है।

**अदर्शन**— अविश्वास पर विजय प्राप्त करना अदर्शन-परिषह है। धर्म मनुष्य को सदाचारी बनाना चाहता है। इसलिये वह इस बात की घोषणा करता है कि सदाचार, संयम, तप आदि से सब प्रकार की उन्नति होती है। सैकड़ों मनुष्य मिलकर जो काम कर सकते हैं, जो जान सकते है—वह सब तपस्वी की ऋद्धियों और अलौकिक प्रत्यक्षों के आगे कुछ नहीं है। इस आशा से सैकड़ों मनुष्य अपने जीवन को सदाचारमय बनाते हैं और जब उन्हें सदाचार का मर्म समझ में आ जाता है—तब वे समझ जाते हैं कि ऋद्धियों आदि की बात तो निरर्थक है, सदाचार से इनका कोई

विशेष सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में सदाचार से आत्मिक-शान्ति और सुख मिलता है, परलोक सुधरता है, दुनियाँ की भलाई होती है और उससे मेरी भी भलाई होती है---इस प्रकार धर्म का मर्म समझकर वह केवली हो जाता है। परन्तु यह अवस्था प्रारम्भ में नहीं होती। पहिले तो मनुष्य यह समझता है कि संयम का पालन करने से सचमुच मैं यहीं बैठें बैठें हजारों कोस की सब चीजें देखने लगूँगा, तप से आकाश में उड़ने लगूँगा, बनाना और बिगाड़ना मेरे बाएँ हाथ का खेल हो जायगा आदि। अन्त में जब उसे इनकी प्राप्ति नहीं होती और उधर वह धर्म का मर्म भी नहीं समझ पाता, तब वह व्याकुल हो जाता है वह धर्म पर अविश्वास करने लगता है। इसका नाम है अदर्शन-परिषह। जैन-शास्त्र कहते हैं कि यह परिषह दर्शन-मोह अर्थात् मिथ्यात्व के उदय से होती है। बात बिलकुल सत्य है। धर्म का मर्म नहीं समझना, यह मिथ्यात्व तो है ही। उसी से यह परिषह होती है। इस परिषह को विजय करने का उपाय यही है कि धर्म का मर्म समझा जाय। उसके कार्य-कारण भाव का ठीक ठीक पता लगाकर यह विश्वास किया जाय कि धर्म का फल भौतिक जानकारी तथा ऋद्धियाँ नहीं हैं, किन्तु आत्मिक-ज्ञान तथा शान्ति है। इस तरह अदर्शन-परिषह पर विजय करना चाहिये।

मैं पहिले कह चुका हूँ कि परिषहों की नियत संख्या बनाने की जरूरत नहीं है। परिषहों की संख्या बदली भी जा सकती है। उदाहरणार्थ; लज्जा परिषह है। जब एक आदमी साधु हो जाता है और उसे अपने हाथ से झाड़ू लगाना पड़ती है, बर्तन

मलना पड़ता है, कभी-मल-मूत्र भी साफ करना पड़ता है तो उसे इन कामों में लज्जा आती है। परन्तु ऐसी लज्जा न आना चाहिये—इसे स्वावलम्बन, सेवा और अहिंसा का कार्य समझकर प्रसन्नता से करना चाहिये। यह लज्जा-परिषह का विजय है। इस प्रकार और भी परिषहें ढूँढ़ीं जा सकती हैं।

धर्म चारित्रमय है। इसलिये उसका जितने द्वारों से विवेचन किया जाय उतना ही थोड़ा है। दुःख को दूर करने तथा भविष्य के लिये न आने देने के लिये अनेक उपायों का वर्णन जैन शास्त्रों में किया गया है, उनमें अधिकांश की विवेचना यहाँ कर दी गई है। कुछ उपाय जान-बूझकर छोड़ दिये जाते हैं। जैसे चारित्र के पाँच भेद हैं सामायिक छेदोपस्थापना आदि। अभेद रूप में व्रत लेना सामायिक, भेद रूप में व्रत लेना छेदोपस्थापना। आजकल इन भेदों की कोई विशेष उपयोगिता नहीं है, इसलिये उन पर उपेक्षा की जाती है।

## गृहस्थ-धर्म

जैन शास्त्रों में अहिंसा अणुव्रत आदि १२ व्रतों के नाम से गृहस्थ-धर्म का जुदा विवेचन किया गया है साधारण शब्दों में गृहस्थों का धर्म अणुव्रत कहा जाता है। परन्तु अणुव्रत और महाव्रत की सीमा का वर्णन मैं 'पूर्ण और अपूर्ण चारित्र' शीर्षक के नीचे कर आया हूँ। साधारणतः श्रावक का अणुव्रत के साथ और मुनि का महाव्रत के साथ सम्बन्ध न जोड़कर स्वतंत्र रूप में ही इनकी व्याख्या करना चाहिये, जैसी कि पहिले मैंने की है। इसलिये जैन शास्त्रों में जो अणुव्रत या देशव्रत के नाम से कहे जाते हैं,

उन्हें अणुव्रत न कहकर गृहस्थव्रत कहना चाहिये ।

गृहस्थों के बारह व्रत कहे गये हैं। अहिंसा आदि पाँच व्रत तो वे ही हैं—जिनका पहिले विवेचन किया गया है । इसके अतिरिक्त तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत और हैं । इसमें से कुछ तो अनावश्यक हैं । संक्षेप में उनका विवेचन किया जाता है ।

गुणव्रत तीन हैं और शिक्षाव्रत चार हैं । अणुव्रत में वृद्धि करनेवाले व्रत गुणव्रत हैं और संयम की या मुनिधर्म की शिक्षा देनेवाले व्रत शिक्षाव्रत हैं । यहाँ तक जैन शास्त्रों में मतभेद नहीं है, परन्तु गुणव्रत और शिक्षाव्रत के नामों में मतभेद है । एक मत—जिसका आचार्य उमास्वाति आदि ने उल्लेख किया है—के अनुसार सातों का क्रम यह यह है ।

तीन गुणव्रत- दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदंडव्रत । चार शिक्षाव्रत—सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण, अतिथिसंविभाग ।

गुणव्रत प्रायः जीवन भर के व्रत * होते हैं. और शिक्षाव्रत प्रति दिन के अभ्यास के व्रत हैं । इस लक्षण के अनुसार देशविरति को गुणव्रत में शामिल नहीं कर सकते, परन्तु आचार्य उमास्वाति ने यह परिवर्तन क्यों किया इसका—ठीक ठीक उल्लेख नहीं मिलता । श्वेताम्बर सम्प्रदाय की आगम परम्परा में भी देश

* १—गुणार्थं अणुव्रतानामुपकारार्थं व्रतं गुणव्रतम्, दिग्विरत्यादीनामणुव्रतानुबृंहणार्थत्वात् । तथा भवति शिक्षाव्रतं । शिक्षायै अभ्यासाय व्रतं देशावकाशिकादीनां प्रतिदिवसाभ्यसनीयत्वात् । अतएव गुणव्रतादस्य भेदः । गुणव्रतं दि ग्गो यावज्जीविकमाहुः ।

—सागारधर्मामृत टीका ४-४ ।

विरति को गुणव्रत नहीं माना है।

सम्भव है कि आचार्य उमास्वाति ने गुणव्रत और शिक्षाव्रत का भेद किसी दूसरी दृष्टि से किया हो। परन्तु वह दृष्टि उल्लिखित नहीं है। सम्भव है कि उनके ये विचार हों कि दिग्विरति और देशविरति एक ही ढंग के व्रत हैं, इसलिये उनको एक ही श्रेणी में रखना चाहिये। दूसरी बात यह भी कही जा सकती है कि देशविरति में कोई ऐसी क्रिया नहीं है जो संयम के साथ खास सम्बन्ध रखती हो। अणुव्रती की दृष्टि से देश की मर्यादा भले ही उपयोगी हो सकती हो, परन्तु महाव्रती के लिये उसकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह मर्यादा के बाहर भी पाप नहीं करता तथा समस्त नरलोक में भ्रमण कर सकता है, इसलिये भी देशविरति, संयम की शिक्षा के लिये उपयोगी नहीं मालूम होती। दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदंडविरति ये तीनों ही व्रत विरतिप्रधान अर्थात् निषेधप्रधान हैं। इनमें किसी विधायक कार्यक्रम की मुख्यता नहीं मालूम होती, इसलिये भी आचार्य उमास्वाति को इन्हें एक ही श्रेणी में रखना पड़ा हो।

दूसरा मत जिसका उल्लेख आचार्य समन्तभद्र आदि ने किया है, उसमें देशव्रत और उपभोगपरिभोगपरिमाण में परिवर्तन हुआ है, अर्थात् देशव्रत शिक्षाव्रत में शामिल है और उपभोगपरिभोगपरिमाण, भोगोपभोगपरिमाण नाम से गुणव्रत में शामिल है।

इसके अतिरिक्त थोड़ा-सा भेद यह भी है कि आचार्य समन्तभद्र ने अतिथिसंविभाग को वैयावृत्य का नाम देकर इसकी

व्याख्या कुछ व्यापक कर दी है। इसमें और भी अनेक प्रकार की सेवा का समावेश कर दिया [‡] गया है।

इस विषय में तीसरा मत आचार्य कुंद-कुंद आदि का है उनके गुणव्रत तो आचार्य समन्तभद्र के समान हैं, परन्तु शिक्षाव्रतों में देशावकाशिक के स्थान पर सल्लेखना का[*] नाम है। इनके मतानुसार देशावकाशिक अर्थात् देशविरति को न गुणव्रत में स्थान है न शिक्षाव्रत में, और सल्लेखना नामक नया व्रत आया है। यद्यपि सल्लेखना का उल्लेख अन्य आचार्यों ने भी किया है, परन्तु इसको बारह व्रतों से बाहर रक्खा है; इसका कारण यह है कि यह व्रत गृहस्थों के लिये ही नहीं किन्तु साधुओं के लिये भी है, तथा मरते समय ही इसकी उपयोगिता है—साधारण जीवन में इसका कुछ उपयोग नहीं है।

आचार्य वसुनन्दी ने शिक्षाव्रतों को सबसे भिन्न रूप दिया है। उनने भोगोपभोगपरिमाण व्रत के दो टुकड़े करके उनको दो व्रत बना दिया है—भोगविरति और परिभोगविरति। फिर अतिथिसंविभाग और सल्लेखना को लेकर चार शिक्षाव्रत [§] कर दिये हैं। सामायिक और प्रोपधोपवासव्रत का तो बहिष्कार ही कर दिया है।

---

‡ न केवलम् दानमेव वैयावृत्यमुच्यते अपितु—व्याधिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्। वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम्। ४-२१।

रत्नकरण्डश्रावकाचार।

* सामाइयं च पढमं बिदियं च तहेव पोसहं भणियं तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अन्ते। चारित्रपाहुड २५।

§ तं भोय विरइ भणियं पढमंसिक्खावयं सुत्ते। ...तं परिभोयविरइ बिदियं ...। सल्लेहणं... ...। —वसुनन्दीश्रावकाचार

इसके अतिरिक्त और भी बहुत से मत हैं जिनमें या तो व्रतों की थोड़ी बहुत परिभाषा बदल दी गई है, अथवा गुणव्रतों में एक आचार्य का अनुकरण किया गया है और शिक्षाव्रतों में किसी दूसरे आचार्य का अनुकरण किया गया है।

इन मतभेदों का मुख्य कारण देशकाल का भेद है। गुणव्रत और शिक्षाव्रत की परिभाषा भी जैसी चाहिये वैसी स्पष्ट नहीं है, इसलिये भी अनेक व्रत वर्गीकरण में इधर के उधर हो गये हैं। इस विषय में अनेक आचार्य तो चुप्पी साधकर रह गये हैं और अनेकों ने अनिश्चित रूप में भेद दिखलाया है। 'प्रायः' शब्द का प्रयोग करके उनने लक्षण-भेद को अस्पष्ट कर दिया है। वास्तव में वहाँ अस्पष्टता का कारण भी है। जैसे—गुणव्रत के भेद अगर इससे किये जायँ कि उनमें जीवन भर के लिये व्रत लिये जाते हैं और इसलिये देशविरति को गुणव्रत से बाहर कर दिया जाय तो भोगोपभोगपरिमाणव्रत भी अमुक अंश में अलग कर देना पड़ेगा, अथवा उसके एक अंश को गुणव्रत और दूसरे अंश को शिक्षाव्रत मानना पड़ेगा, क्योंकि भोगोपभोग परिमाणव्रत में यम और नियम दोनों का विधान § है। यम जीवनपर्यन्त रहता है और नियम * में समय की मर्यादा रहती है।

---

§ नियमोयमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे। नियमः परिमित-कालो यावज्जीवं यमो ध्रियते।

२-४१-र० क० श्रा०

* अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथर्तुरयनं वा। इतिकालपरिच्छित्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः

सागारधर्मामृत टीका में शिक्षाव्रत की एक और परिभाषा दी गई है कि विशेष श्रुतज्ञान की भावनारूप परिणति जिनमें होती है वे शिक्षाव्रत ‡ हैं। देशावकाशिक आदि में विशिष्ट श्रुतज्ञान की भावना की आवश्यकता होती है। परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि देशावकाशिक की अपेक्षा अनर्थदण्डविरति में श्रुतज्ञान की भावना अधिक अपेक्षित है। तब उसे गुणव्रत क्यों माना जाय? प्रोषधोपवास में बल्कि उससे कम अपेक्षित है, तब उसे गुणव्रत में क्यों न रक्खा जाय? इसलिये यह भेद भी ठीक नहीं है।

सच तो यह है कि गुणव्रत और शिक्षाव्रत–यह भेद ही कुछ निरर्थक-सा मालूम होता है। सभी का नाम शिक्षाव्रत होना चाहिये। श्वेताम्बर आगमों में जब किसी श्रावक के बारह व्रत लेने का उल्लेख आता है तब वह यही कहता है कि मैं पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत* लेता हूँ। वह तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत नहीं बोलता; यद्यपि पीछे के श्वेताम्बर-साहित्य में गुणव्रत और शिक्षाव्रत का भेद मिलता है। इससे मालूम होता है कि गुणव्रत शिक्षाव्रत का भेद पीछे से आया है। परन्तु आकर के भी वह ठीक ठीक नहीं बन सका।

खैर, यहाँ इनकी गहरी मीमांसा करने की जरूरत नहीं रह

---

‡ शिक्षाप्रधानं व्रतं शिक्षाव्रतं। देशावकाशिकादेर्विशिष्टश्रुतज्ञानभावनापरिणतत्वेनैव निर्वाह्यत्वात्। ४-४१

* अहं णं देवाणुप्पियाणं अन्तिए पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि।

—उवासगदसा १-१२।

जाती। परन्तु इससे इस बात का फिर एक वार समर्थन होता है कि जैनाचार्य भी आचार-शास्त्र की परम्परा भूल गये थे और वे समयानुसार स्वेच्छा से नये विधान बनाते थे। वे पुरानी परम्परा भूलें या न भूलें, परन्तु समयानुसार उचित विधान बनाने तथा उनमें परिवर्तन करने का प्रयत्न उचित है।

इन सातों व्रतों को शील भी कहते हैं। व्रतों के रक्षण करने के लिये जो उप व्रत बनाये जाते हैं—उन्हें शील* कहते हैं। इसलिये इनकी शीलसंज्ञा भी ठीक है।

अब यहाँ मैं उन व्रतों की आलोचना कर देना चाहता हूँ, जिससे मालूम हो जाय कि इस समय कौन-सा व्रत उपयोगी है? और कौनसा नहीं? आजकल इन शीलों या शिक्षाव्रतों की संख्या कितनी रखना चाहिये?

**दिग्विरति**—मैं अमुक दिशा में इतनी दूर जाऊँगा, इससे अधिक न जाऊँगा—इस प्रकार जीवन भर के लिये मर्यादा बाँधना दिग्विरति है। मनुष्य मर्यादा के बाहर पाँच पापों से बचा रहता है, इस दृष्टि से इस व्रत की उपयोगिता बताई जाती है। इस प्रकार अहिंसादि अणुव्रतों की वृद्धि का कारण होने से यह गुण व्रत कहलाता है। यहां तक कि मर्यादा के बाहर पाँच पापों से पूर्ण निवृत्ति

---

* परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि। व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि। पुरुपार्थसिद्ध्युपाय १३६।

रहती है, इसलिये उसे मर्यादा के बाहर उपचार से महाव्रती* भी कह दिया है। यद्यपि साथ में यह बात भी कह दी है कि उसमें महाव्रती के समान मन्दकषायता न होने से वह वास्तव में महाव्रती नहीं है, फिर भी उपचरित महाव्रत कहना भी कम महत्व की बात नहीं है।

श्रमण संस्कृति के अनुसार निवृत्ति मार्ग का अभ्यास कराने के लिये इस व्रत की थोड़ी-सी उपयोगिता थी, परन्तु वास्तविक उपयोगिता नहीं के बराबर है। एक मनुष्य हिमालय के उस पार अगर हिंसा न करे और देश के भीतर सब कुछ करे, इसलिये वह व्रती नहीं हो जाता—पाप का क्षेत्र कम हो जाने से पाप कम नहीं हो जाता। माना कि इस व्रत के पहिले मनुष्य को अणुव्रती होना आवश्यक है, परन्तु अणुव्रती रहकर भी मनुष्य जितना पाप मर्यादा के बाहर कर सकता है, उतना मर्यादित क्षेत्र में भी कर सकता है। इसलिये इस व्रत को व्रत-रूप न मानना चाहिये। बल्कि आजकल तो इससे नुकसान ही है, क्योंकि आज सारी पृथ्वी एक बाज़ार या गांव के समान हो गई है। यातायात के इतने साधन बढ़ गये हैं, साक्षात् या परम्परा-रूप में हमारा जीवन सारी पृथ्वी के साथ इस तरह गुँथ गया है कि हमारा सबसे असम्बद्ध होकर रहना अशक्य-प्राय हो गया है। हमें सेवा के लिये, विकास के लिये, सीमा के

---

* अवधेर्बहिरणुपाप प्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम्।
पञ्च महाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते। २४।
प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरण मोह परिणामाः।
सत्वेन दुरवधाराः महाव्रताय प्रपद्यन्ते। २५।
—रत्नकरण्ड श्रावकाचार

भीतर क़ैद न रहना चाहिये। एक तो पुराने जमाने की तरह निवृत्तिप्रधान बनना कठिन है, फिर एकान्त-निवृत्ति ही तो धर्म नहीं है। धर्म की एक बाजू निवृत्ति है और दूसरी बाजू प्रवृत्ति है, इसलिये भी इसको व्रत-रूप में रखने की कोई ज़रूरत नहीं है।

**देशविरति**—यह व्रत भी दिग्विरति के समान दिशाओं की मर्यादा बनाने के लिये है। अन्तर इतना ही है कि दिग्विरति की मर्यादा जीवन भर के लिये होती है और इसकी मर्यादा अमुक समय के लिये होती है। इसलिये इसका क्षेत्र भी छोटा रहता है। इसमें दिन दो-दिन आदि के लिये मर्यादा ली जाती है, इसलिये छोटे क्षेत्र की रहती है। आचार्य समन्तभद्र ने इसका नाम देशावकाशिक रक्खा है। देशव्रत या देशविरति कहने से कभी कभी बारह ही व्रतों का भान होता है, इसलिये सामान्य देशव्रत और इस विशेष देशव्रत में अन्तर नहीं मालूम होता, इसलिये इसका नाम देशावकाशिक कर दिया, यह ठीक ही किया है। परन्तु जिन कारणों से दिग्व्रत अनावश्यक था—उन्हीं कारणों से यह भी अनावश्यक है।

**अनर्थ-दंडविरति**— निरर्थक पापों का त्याग अनर्थ-दंडविरति है। परन्तु निरर्थक में जो 'अर्थ' शब्द है—उसका अर्थ अनिश्चित है। अनेक जैनाचार्यों ने इस व्रत के नाम पर इतनी अधिक बातों का उल्लेख कर दिया है और उनके व्यावहारिक रूपों को इतना अस्पष्ट रक्खा है कि इसे व्रत-रूप में स्वीकार करना कठिन हो जाता है। बहुत से लोगों के मत में ऐसा भ्रम है कि स्वास्थ्य के लिये वायु-सेवन करना, तैरना, दौड़ना, कूदना आदि भी

अनर्थ-दंड है। अगर इन सब बातों को अनर्थ-दंड न माना जाय, तो दूसरी तरफ़ यह प्रश्न उठता है कि तब अनर्थ-दंड क्या है, जिसका त्याग किया जाय ? मनुष्य की प्रत्येक क्रिया में अर्थ और काम का साक्षात या परम्परा सम्बन्ध रहता ही है—इसलिये निरर्थक पाप किसी को भी नहीं कह सकते।

इस प्रश्न की इस तरह जटिलता रहने पर भी यह बात निश्चित है कि यह एक व्रत हैं। इससे अहिंसा आदि व्रतों का बहुत कुछ संरक्षण हो सकता है। हाँ, इसकी सापेक्षता विशाल होने से इस पर गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

आचार्य उमास्वाति ने इस प्रकरण में 'अर्थ' शब्द का अर्थ किया है 'उपभोग-परिभोग'* । इससे जो भिन्न हो अर्थात् जिससे उपभोग-परिभोग न होता हो—वह अनर्थ है। इसके लिये जो दंड-प्रवृत्ति मन-वचन-काय की क्रिया हो वह अनर्थदंड है। उसका त्याग अनर्थ-दंडविरति नाम का व्रत है।

उपभोग और परिभोग में पाँच इन्द्रियों के व्रत आते हैं, किन्तु इन्द्रियाँ पाँच ही नहीं हैं, छः हैं। मन एक महान इन्द्रिय है, इसका विषय भी विशाल है—इसलिये 'अर्थ' शब्द का अर्थ करते समय इसके विषय को भी ध्यान में रखना चाहिये।

बहुत से काम ऐसे हैं कि जो स्पष्ट ही अनर्थ-दंड मालूम होते हैं। जैसे हमारे हाथ में लकड़ी है और रास्ते में कोई पशु खड़ा है तो बहुत से लोग बिना किसी प्रयोजन के या आवेशवश

---

* उपभोग परिभोगौ अस्यागारिणोऽर्थः । तद्व्यतिरिक्तोऽनर्थः। —त० भाष्य—७—१६ ।

उसे लकड़ी मार देते हैं। इससे न तो इन्द्रियों की सन्तुष्टि है और न कोई स्वास्थ्य वगैरह का लाभ है, इसलिये यह अनर्थदण्ड है। ऐसी वृत्ति का त्याग होना चाहिये।

यद्यपि हमारे द्वारा छोटी-छोटी प्रवृत्तियाँ इस प्रकार की होती रहती हैं कि उनके बिना भी हमारा काम चल सकता है, परन्तु अनिच्छा से वे हो जाती हैं। जैसे, एक मनुष्य खड़े-खड़े पैर हिला रहा है, उङ्गली चला रहा है। उसका यह काम निरर्थक है। फिर भी ऐसे छोटे-छोटे कामों को अनर्थ नहीं कहना चाहिये, क्योंकि ये शरीर की स्वाभाविक क्रिया के समान अनिच्छा से होते हैं।

इसी प्रकार कभी कभी मनोविनोद के लिये भी हमें ऐसा काम करना पड़ता है। जो कि बाहिरी दृष्टि से आवश्यक नहीं मालूम होता, उसे भी अनर्थदण्ड में न रखना चाहिये। इस प्रकार की बातों पर विचार करने के बाद भी यह कहना उचित है कि अनर्थ दंड-विरति एक व्रत है। इस व्रत की उपयोगिता यह है कि हम अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति के फलाफल पर विचार करना सीखें, और जिन प्रवृत्तियों से हानि के बदले लाभ कम हो, पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक हो, उनका त्याग करें। अहिंसादि व्रतों के वर्णन में जो हिंसा आदि के अपवाद बताये गये हैं उनका दुरुपयोग न हो जाय इसके लिये यह अनर्थदंड विरति है। इस प्रकार व्रतों का संरक्षक होने से यह व्रत शील-रूप है, शिक्षाव्रत है।

अनर्थदण्ड-विरति में जिन जिन अनर्थों के त्याग करने का विधान है—उनको पाँच भागों में विभक्त किया गया है। पापोपदेश,

हिंसादान, अपध्यान, प्रमादचर्या और दुःश्रुति ।

**पापोपदेश**—जो काम पाप-रूप हैं–उनका उपदेश देना पापोपदेश है । हम में अनेक आदतें ऐसी रहती हैं–जो बुरी होती हैं और जिन्हें हम भी बुरी समझते हैं, फिर भी उनका जानबूझकर या लापर्वाही से प्रचार करते हैं । एक बीड़ी पीनेवाला दूसरे को बीड़ी का शौक लगायगा, यद्यपि वह जानता है कि यह हानिकर है—यह पापोपदेश है । जो बात बुरी है उसको अगर हम स्वार्थ-वश या कमजोरी से त्याग नहीं सकते तो कम से कम इतना जरूर करना चाहिये कि हमारे द्वारा उनका प्रचार न हो । कौन-सा कार्य पाप है और कौन-सा पाप नहीं है, इस विषय का निर्णय करने के लिये पहिले जो पाँचों पापों की और व्रतों की आलोचना की गई है उस पर ध्यान देना चाहिये ।

पापोपदेश से अपना कोई लाभ नहीं है, किन्तु दूसरों का अधःपतन है, इसलिये इसका त्याग करना चाहिये ।

**शंका**—अगर किसी पापोपदेश से अपना लाभ हो, स्वार्थ सिद्ध होता हो तो क्या वह पापोपदेश नहीं है ? क्या स्वार्थियों को पापोपदेश की छूट है ?

**उत्तर**—पापोपदेश तो वह भी है, परन्तु वह पापोपदेश अनर्थ-दण्ड नहीं है । यह सम्भव है कि अनर्थदण्ड से भी बढ़कर उसका पाप हो, परन्तु यहाँ तो इतना ही विचार करना है कि एक तरह का पाप अगर सार्थक और निरर्थक किया जाय तो सार्थक की अपेक्षा निरर्थक अधिक बुरा है ।

अनेक जैन लेखकों ने पापोपदेश के नाम पर कृषि आदि के

उपदेश देने का निषेध किया है, परन्तु यह निवृत्त्येकान्तवाद का फल है। जिसको हम न्याय्य और आवश्यक वृत्ति कह सकते हैं, उसके विषय में उपदेश भी दे सकते हैं। मनुष्य के जीवन-निर्वाह के लिये जब कृषि आदि आवश्यक हैं, तब उसका प्रचार करना उनमें सुधार करने तथा सतर्क रहने का उपदेश देना उचित है। इसे पापोपदेश न समझना चाहिये। हाँ, शिकार वगैरह संकल्पी-हिंसा आदि का उपदेश अवश्य पापोपदेश है।

पीछे के जैन लेखकों को भी पापोपदेश के अथवा अनर्थ-दण्ड के अर्थ में संशोधन करना आवश्यक मालूम हुआ है—इसीलिये हेमचन्द्राचार्य ने * कहा है कि पारस्परिक-व्यवहार के सिवाय दूसरे स्थानों पर ऐसा उपदेश न देना चाहिये, अर्थात् पारस्परिक व्यवहार में ऐसा उपदेश अनर्थ-दण्ड नहीं है। इस संशोधन से पापोपदेश की व्याख्या करीब करीब ठीक हो जाती है। पारस्परिक व्यवहार की बात उनने हिंसादान के विषय में भी की है, जिसका अनुकरण पं० आशाधरजी ने भी सागार-धर्मामृत में किया है।

हाँ, यहाँ इतनी बात और कहना है कि उदार-चरित मनुष्य के लिये सारा जगत् व्यवहार का विषय है, और प्रत्येक मनुष्य-को उदार होना चाहिये ; इसलिये जो काम समाज के लिये आवश्यक है, वह पारस्परिक व्यवहार के विषय में हो या अविषय में, इसका विचार ही न करना चाहिये। मतलब यह है कि निवृत्ति-

---

* वृषभान् दमय, क्षेत्रं कृष, षंढय वाजिनः।
दाक्षिण्याविषये पापोपदेशोयं न युज्यते ॥
—योगशास्त्र ३-७३।

मार्ग पर बहुत अधिक भार डाल देने से जो आवश्यक प्रवृत्ति पर भी अवहेलना हो गई है—उसे दूर करके अनर्थदण्ड का त्याग करना चाहिये।

**हिंसादान**—हिंसा करने के लिये उसके साधनों का दान करना हिंसादान है। जिन चीजों से हिंसा हो सकती है—उनका दान करना हिंसादान नहीं, किन्तु हिंसा के लिये उनका दान करना हिंसादान है। अनेक लोग हिंसादान के नाम पर अपने पड़ौसी को या किसी अपरिचित को रसोई बनाने के लिये भी अग्नि नहीं देते; यह भूल है। केवल शस्त्र का विचार न करना चाहिये, किन्तु उसके उपयोग का विचार करना चाहिये। शाक बनाने के लिये अगर कोई चाकू माँगे तो चाकू देना यह हिंसादान नहीं है; किन्तु किसी को मारने के लिये चाकू देना हिंसादान है।

हाँ, कभी कभी हिंसा, अहिंसा होती है, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है। ऐसी अवस्था में हिंसा के लिये दान भी हिंसादान नहीं है। एक स्त्री को इसलिये कटार दी जाय कि अगर उसके सतीत्व पर कोई आक्रमण करे तो उससे वह आत्मरक्षा करे, तो यह हिंसादान नहीं है।

इस प्रकार के उचित हिंसादान को अनर्थदंड न कहना चाहिये, और न इस विषय में यह विचार करना चाहिये कि यह दान परिचित के लिये है या अपरिचित के लिये? जैन लेखकों ने हिंसादान के विषय में भी यह कहा है कि पारस्परिक व्यवहार के

बाहर हिंसादान* अनुचित है। परन्तु भलाई के लिये पारस्परिक-व्यवहार का क्षेत्र समग्र विश्व है। जिन लोगों ने रसोई बनाने के लिये भी अग्नि देने की मनाई की है ⁂ उनने एक प्रकार से निवृत्येकान्त का पोषण किया है जो कि अनुचित है।

**प्रश्न**– जो लोग युद्ध की सामग्री बनाने या बेचने का धन्धा करते हैं और अपना व्यापार चमकाने के लिये दो राज्यों को लड़ने को उत्तेजित करते हैं, राष्ट्रीयता का ऐसा मोहक-संगीत सुनाते हैं कि जिससे मोहित होकर अनेक राज्य हरिण की तरह युद्ध के जाल में फँस जाते हैं, उनका यह कार्य अनर्थदंड कहलायगा कि नहीं? यदि नहीं तो जगत् में आप हिंसादान किसी को भी नहीं कह सकेंगे। यदि हाँ, तो इसमें अनर्थदंड की परिभाषा कहाँ जाती है? क्योंकि अनर्थदंड तो उस पाप को कहते हैं जिस से अपना कोई प्रयोजन सिद्ध न होता हो। परन्तु राज्यों को लड़ाने से तो शस्त्रास्त्र के व्यापारियों का व्यापार चमकता है।

**उत्तर**— वास्तव में वह भयंकर पाप अनर्थ-दंड की परिभाषा में नहीं आता, परन्तु वह है हिंसादान अवश्य। वह अनर्थदंड-रूप नहीं है, किन्तु उससे भी बढ़कर घोर-हिंसारूप है। ऐसे लोग तो महा-हिंसक हैं।

**अपध्यान**– -पाप की सफलता की तथा पुण्य के पराजय

---

* यंत्र लांगल शस्त्राग्नि मूशलोदूखलादिकं। दाक्षिण्याविषये हिंसा नार्पयेत् करुणापरः। —योगशास्त्र ३-७७।

⁂ हिंसादानं विषास्त्रादि हिंसाङ्गस्पर्शनं त्यजेत्। पाकाद्यर्थं च नाग्न्यादि दाक्षिण्याविषयेऽर्पयेत। — सागारधर्मामृत ५-८।

की इच्छा करना, इसी के अनुसार घटनाओं पर विचार करना अपध्यान है। ध्यान करने से किसी का हानि लाभ तो हो नहीं जाता, इसलिये वह निरर्थक तो है हीं, और पाप रूप है, इसलिये अनर्थदंड कहलाया। न्याय या न्यायी के जय और अन्याय या अन्यायी के पराजय के विचार अपध्यान नहीं हैं। जैसे राम-रावण के युद्ध में राम की जय और रावण के पराजय के विचार अपध्यान-रूप नहीं हैं। साधारणतः राग-द्वेष के विचारों से अपने को मुक्त रखना चाहिये, परन्तु न्यायरक्षण और अन्याय का नाश दुनिया की भलाई के लिये आवश्यक है, इसलिये वैसा विचार अपध्यान नहीं है।

**प्रमादचर्या**—निरर्थक ज़मीन खोदना, अग्नि जलाना आदि प्रमादचर्या नामक अनर्थदंड है। बहुत से लेखकों ने वायु-सेवन आदि को भी प्रमादचर्या बतला दिया है, परन्तु यह ठीक नहीं है। स्वास्थ्य तथा मनोविनोद के लिये मात्रा के भीतर कुछ काम किये जायँ तो वह प्रमादचर्या नहीं है।

**दुःश्रुति**—ऐसी बातों का सुनना या पढ़ना जिससे मन में विकार तो पैदा होते हैं, किन्तु न तो मानसिक उन्नति होती है, न कोई दूसरा लाभ होता है, दुःश्रुति है। संशोधन के लिये या अध्ययन के लिये पढ़ना दुःश्रुति नहीं है। बहुत से लेखकों ने दूसरे सम्प्रदायों के ग्रन्थ पढ़ने को भी दुःश्रुति कहा है। यह साम्प्रदायिक संकुचितता अनुचित है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में इस दुःश्रुति नामक अपध्यान का

नाम नहीं आता है। उवासगदसा सूत्र में चार ही अनर्थदंडों* का उल्लेख है। इससे मालूम होता है कि पहिले दुःश्रुति नाम का अनर्थदंड नहीं माना जाता था; पीछे से उसकी ज़रूरत मालूम होने लगी। अथवा कट्टर साम्प्रदायिकता का भी यह फल हो सकता है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यह संख्या तो चार ही रही, किन्तु दुःश्रुति का काम प्रमादचर्या से ही ले लिया गया। इसीलिये हेमचन्द्रचार्य ने प्रमादचर्या के भीतर ही दुःश्रुति को शामिल ‡ कर लिया है।

**सामायिक**— थोड़े समय के लिये सब पापों का त्याग कर देना सामायिक है। परन्तु इसका रिवाज़ इस प्रकार है कि थोड़े समय के लिये अमुक आसन लगाकर मनुष्य ध्यान लगाकर स्थिर हो जाता है; कुछ मन्त्र का जाप भी किया जाता है। इस प्रकार दिन में तीन बार—सुबह, दुपहर और संध्या को—सामायिक का विधान है।

बहुत से स्थानों पर यह विधान रिवाज़ में परिणत हो गया है। तीन बार तो नहीं किन्तु दो बार या एक बार लोग समायिक करते हैं। जिसको फुरसत हो वह तीन से भी अधिक बार सामायिक

---

* तयाणन्तरं च णं चउव्विहं अणट्ठादण्डं पचक्खाइ। तं जहा-अवज्झाणायरियं, पमायायरियं हिंसप्पयाण, पावकम्मवएसे। १-४३।

‡ कुतूहलाद्गीत नृत्य नाटकादि निरीक्षणं।
कामशास्त्र प्रसक्तिश्च द्यूतमद्यादिसेवनं। ३-७८।
जलक्रीडान्दोलनादि विनोदो जंतु योधनं।
रिपोः सुतादिना वैरं भक्तस्त्री देशराट् कथा।
३-७९। योगशास्त्र।

करे, परन्तु साधारणतः इस या ऐसे ही किसी एक काम के लिये दिन में एक बार समय देना काफ़ी है। इसलिये साधारणतः एक बार का रिवाज़ होना चाहिये। विशेष अवसरों पर एक से अधिक वार किया जाय तो अच्छा है।

सामायिक में मन्त्र पढ़ने का रिवाज़ अनावश्यक है। इसकी अपेक्षा वह कर्तव्याकर्तव्य का विचार करे, प्रतिक्रमण करे--यही अच्छा है। अथवा जिस भाषा को वह समझता हो उस भाषा में हृदय को आकर्षित करनेवाले पद्य पढ़े तो अच्छा है। इतने बार अमुक नाम बोलना चाहिये, इत्यादि नियम समय का दुरुपयोग कराते हैं, क्योंकि नामों के गिनने में ही उसका समय नष्ट हो जाता है। हाँ, यह सम्भव है कि पुराने समय में समय मापने के विशेष साधन न होने से समय-मापक यन्त्र के रूप में नामों की गिनती रक्खी गई हो; परन्तु आज उसकी जरूरत नहीं है। जब तक विचारों की धारा ठीक चलती रहे, तब तक उसे बैठना चाहिये अथवा घड़ी से समय का निर्णय कर बैठना चाहिए।

यद्यपि नामों का गिनना आदि भी चित्त स्थिर करने में सहायक होता है, परन्तु उस स्थिरता का कुछ मूल्य नहीं है जो जीवन के लिये उपयोगी कोई पारमार्थिक लाभ न देती हो।

**प्रोपधोपवास**— साधारणतः इसके तीन नाम मिलते हैं— प्रोपधोपवास, पौपधोपवास और पोषधव्रत। पहिला नाम दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित है, किन्तु उसके अर्थ करने में लेखकों में मत

भेद है। पूज्यपाद और अकलंक * आदि आचार्य 'प्रोषध' शब्द का अर्थ पर्व-दिवस—अष्टमी चतुर्दशी करते हैं, और पर्व के दिनों में उपवास करने को प्रोषधोपवास कहते हैं। 'प्रोषध' शब्द के अर्थ में समन्तभद्राचार्य का मत जुदा है। वे कहते हैं कि उपवास के पहिले दिन में एक बार भोजन करना प्रोषध ‡ है। पहिले प्रोषध (एक बार भोजन करना) करना, फिर उपवास करना, इस प्रकार प्रोषधोपवास होता है।

समन्तभद्राचार्य का मत श्वेताम्बर सम्प्रदाय के मत से भी नहीं मिलता; श्वेताम्बर सम्प्रदाय में जो मत प्रचलित है वही पूज्यपाद आदि दिगम्बराचार्यों को भी स्वीकृत है। अर्थ एक है—परन्तु शब्द में थोड़ा फ़रक है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में 'प्रोषध' नहीं किन्तु 'पौषध' † पाठ है।

पहिले जमाने में उपवास का अधिक महत्व था इसलिये यह एक व्रत बना दिया गया। परन्तु आज इस व्रत की आवश्यकता नहीं है। उपवास करना ठीक है, परन्तु नियमित व्रत के रूप में नहीं। शरीर में विकार वगैरह होने पर उपवास करना चाहिये। पीछे भी इस व्रत की आवश्यकता का कम अनुभव होने लगा था। इसलिये सागारधर्मामृत आदि ग्रंथों में हलका भोजन ‡ करने का

---

* प्रोषधशब्दः पर्वपर्यायवाची। प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः। त० राज० वा० ७-२१-७

‡ चतुराहार विसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारंभमाचरति। रत्न० श्रावकाचार। ४-१९

† पौषधः पर्वेत्यनर्थान्तरम्। तत्वार्थभाष्य ७-१६।

‡ उपवासाक्षमैः कार्योऽनुपवासस्तदक्षमैः, आचाम्ल निर्विकृत्यादि शक्त्या हि श्रेयसे तपः। ५—३५।

भी विधान है, क्योंकि शक्ति के अनुसार तप करना ही कल्याणकारी है।

साधारणतः नियम ऐसा रखना चाहिये कि सप्ताह में एक दिन एकाशन किया जाय, और एकाशन में भी प्रतिदिन के समान सादा भोजन किया जाय—यही प्रोषधोपवास है।

**उपभोग-परिभोग-परिमाण** - यहाँ पर 'उपभोग' शब्द का अर्थ है, इन्द्रियों के वे विषय जो एक ही बार भोगे जा सकते हैं, जैसे—रोटी, पानी, गन्ध, द्रव्य आदि। 'परिभोग' का अर्थ है-इन्द्रियों के वे विषय जो एक बार भोग करके फिर भी भोगे जा सकते हैं, जैसे-वस्त्र आदि *। परन्तु अन्य जगह उपभोग के अर्थ में भोग शब्द का और परिभोग के अर्थ में उपभोग शब्द का व्यवहार हुआ है। आश्चर्य तो यह है कि एक ही पुस्तक में इस प्रकार शब्दों की गड़बड़ी पाई जाती ‡ है।

इस विषयमें मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि इस प्रकार के परिमाण की आवश्यकता नहीं है। बल्कि अमुक वस्तुओं का त्याग कर देने से शेष वस्तुओं की माँग तीव्र हो जाती है-इससे अधिकतर अपने को और दूसरों को परेशानी उठानी पड़ती है। इसलिये आवश्यकता होने पर इस नियम को किसी दूसरे ही रूप में लेना

---

* उपेत्य भुज्यते इति उपभोगः। अशनपानगन्धमाल्यादिः। ७-२१-८ परित्यज्य भुज्यते इति परिभोगः। आच्छादनप्रावरणाऽलंकारशयनासनगृहयानवाहनादिः।७–२१–९। त० राज वा०

‡ गंधमाल्याशिरःस्नानवस्त्रान्नपानादिषु भोगव्यवहारः शयनासनांगनाहस्त्यश्वरथ्यादिषूपभोगव्यपदेशः। ८–१३–२ त० राजवार्तिक।

चाहिये। इसे गणना की मर्यादा बना लेना चाहिए कि आज पाँच या दस वस्तुओं से अधिक न लूँगा, जिससे कि अपने को या दूसरों को बहुत परेशानी न उठाना पड़े।

हाँ, दूसरे रूप में भी इस व्रत का पालन किया जा सकता है। जो वस्तुएँ हिंसा-जन्य हैं तथा आध्यात्मिक और आधिभौतिक दृष्टि से हानिकारक हैं, उनका त्याग करना चाहिए। आचार्य अकलङ्क ने इसका बहुत ही सुन्दर क्रम पाँच भागों में बतलाया है। वे भोग संख्यान के वे पाँच भेद बताते हैं—त्रस-वध, प्रमाद, बहुवध, अनिष्ट, अनुपसेव्य।

चलते-फिरते प्राणियों के नाश से जो चीज़ तैयार होती है उसका त्याग पहिले करना चाहिए। इसमें मांस का नाम ही ठीक तौर से लिया जाता है। उसका त्याग अवश्य करे। हृदय को विक्षिप्त करनेवाली शराब आदि का त्याग दूसरा है। तीसरी श्रेणी जैनाचार्यों के प्राणिशास्त्र के ज्ञान की अपेक्षा से है। अमुक वनस्पतियों में अनन्त स्थावर जीव रहते हैं, इसलिए उनका त्याग करना चाहिए। इस विषय में संशोधन की जो आवश्यकता है उसका ज़िकर मैं पहिले कर चुका हूँ। वहीं यह बात कही है कि वनस्पति का भी इस ढंग से उपयोग न करना चाहिए—जिससे उस का विघात तो अधिक हो और लाभ कम हो।

जो वस्तु अपने शरीर के लिये हानिकर है—वह अनिष्ट है। साधारणतः विष आदि को अनिष्ट कह सकते हैं, परन्तु जुदे-जुदे प्राणियों के लिये जुदा-जुदा ही 'अनिष्ट' होगा। इसलिये किसी वस्तु का नाम नहीं लिया जा सकता। इससे यह बात समझ में

आ जाती है कि स्वास्थ्य की रक्षा रखना भी धर्म की रक्षा करना है। निरोगी मनुष्य अपनी और जगत् की सेवा करता है, यही तो धर्म है।

जिस वस्तु का सेवन शिष्ट-सम्मत नहीं है, घृणित है, वह अनुपसेव्य है।

इस प्रकार उपभोग-परिभोग-परिमाण या भोगोपभोग परिमाण नामक शील का पालन करना चाहिये।

**प्रश्न**—भोगोपभोगपरिमाण को शील में क्यों रक्खा? इसे तो अपरिग्रह के स्थान पर मूल-व्रत बनाना चाहिये था; क्योंकि भोगोपभोग ही सारे अनर्थों की जड़ है।

**समाधान**—अधिक भोगोपभोग और अधिक परिग्रह ये दोनों ही पाप हैं, परन्तु अधिक परिग्रह बड़ा पाप है। जगत में जो बेकारी फैलती है, तथा दूसरों को भूखों मरना पड़ता है, तथा मनुष्य अधिक पाप करता है—उसका कारण परिग्रह का संचय है। इसका विशेष विवेचन अपरिग्रह के प्रकरण में किया गया है।

**अतिथिसंविभाग**—सद्गुणी तथा समाजसेवी मनुष्यों को स्थान भोजन आदि देना अतिथिसंविभाग है। त्याग-धर्म के वर्णन में इसका विशेष विवेचन हो चुका है। यहाँ किसी भी प्रकार की अनुचित संकुचितता से काम न लेना चाहिये। आचार्य समन्तभद्र ने इसका नाम वैयावृत्य रक्खा है, और उसका अर्थ भी व्यापक किया है। उसका भी यथायोग्य समावेश कर लेना चाहिये। वर्तमान युग में निम्नलिखित सात शीलों की या शिक्षाव्रतों की

ज़रूरत है:—

१— प्रतिक्रमण ( सामायिक आदि ), २—स्वाध्याय, ३—
अतिथिसेवा, ४--दान ( अपनी आमदनी में से अमुक भाग समाजो-
पयोगी कार्यों में ख़र्च करना ), ५ भोगोपभोग परिसंख्यान,
अनर्थ-दंड-विरति, ७ प्रोषध ( सप्ताह में एक दिन एकाशन
करना ) ।

अतिथि-सेवा और दान ये दोनों वैयावृत्य की व्यापक व्याख्या
में आ जाते हैं, परन्तु दोनों की उपयोगिता पृथक् पृथक् है और
दोनों पर जोर देना है, इसलिये अलग अलग उल्लेख किया है ।

सबकी व्याख्या हो चुकी है सात शीलों के विषय में
इतनी बात और ध्यान में रखना चाहिये कि ये पाँच अणुव्रतों के
रक्षण के लिये तो हैं ही, साथ ही जिनने अणुव्रत नहीं लिये हैं वे
अणुव्रत प्राप्त करने के लिये तथा अभ्यास के लिये इनका पालन
करें ।

## गृहस्थों के मूलगुण ।

महात्मा महावीर ने जब जैन-धर्म की पुनर्घटना की और
एक नयी संस्था को जन्म दिया तब उनने आचार के जो नियम
बनाये थे—वे साधुओं को लक्ष्य में लेकर थे; क्योंकि साधुसंस्था ही
प्रारम्भ में व्यवस्थित संस्था थी। पीछे गृहस्थों के लिये भी कुछ नियम
बने । परन्तु ज्यों ज्यों समय निकलता गया, त्यों त्यों गृहस्थों के
लिये अनेक तरह के विधि-विधानों की आवश्यकता होती गई। जिस
प्रकार मुनियों के मूल-गुण थे,उसी प्रकार चारित्र की दृष्टि से
श्रावकों के मूल-गुण की भी ज़रूरत हुई । परन्तु मुनियों के समान

श्रावकों को एकरूप बनाना असम्भव था, इसलिये श्रावकों के लिये अनेक तरह के मूल-गुण मिलते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में गृहस्थों के मूल-गुणों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, इससे भी माळूम होता है कि इन मूल-गुणों का निर्माण दिगम्बर-श्वेताम्बर भेद हो जाने के बाद हुआ था। इसलिये देश-काल के अनुसार इनका वर्णन भी जुदा जुदा मिलता है। यहाँ सबका जुदा जुदा वर्णन क्रमशः दिया जाता है।

१— १–५ पाँच अणुव्रत, ६ मद्यत्याग, ७ मांसत्याग ८ मधुत्याग। —समन्तभद्र *

२— १–५ पाँच अणुव्रत, ६ मद्यत्याग, ७ मांसत्याग, द्यूतत्याग। —जिनसेन ‡

३— १–८ मद्य, मांस, मधु, ऊम्बर, कठूम्बर, बड़फल पीपरफल, पाकरफल—इन आठ का त्याग। —सोमदेव §

४— १ मद्यत्याग, २ मांसत्याग, ३ मधुत्याग, ४ रात्रि-भोजन त्याग, ५ ऊंबर आदि पाँच फलों का त्याग, ६ अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु को नमस्कार, ७ जीवदया, ८ पानी

---

* मद्यमांसमधु त्यागैः सहाणुव्रतपंचकम् !
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः !

‡ हिंसासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात् !
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः॥

§ मद्यमांसमधुत्यागैः सहोदुम्बरपंचकैः।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते।

छानकर पीना। —आशाधर *

कालक्रम से इन मतों का उल्लेख यहाँ किया गया है। अन्य आचार्यों ने भी इन मतों का उल्लेख किया है, तथा और भी इस विषय में मत होंगे।

मैं पहिले कह चुका हूँ कि चारित्र के नियम द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार होते हैं। हरएक धर्म के नियम इस बात की साक्षी देते हैं। जैनधर्म में भी यह बात पाई जाती है। मूलगुणों की विविधता भी इस बात का एक प्रमाण है। अपने अपने समय के अनुसार बनने-वाले चार नियम ऊपर बताये गये हैं, परन्तु आज के लिये वे सब पुराने हैं, इसलिये वर्तमान देश-काल के अनुसार नये मूलगुण बनाना चाहिये।

मूलगुणों के विषय में इतना और समझना चाहिये कि ये व्रती होने की कम से कम शर्त के रूप में हैं। ये जैनत्व की शर्त नहीं हैं; क्योंकि अष्टमूलगुणों का पालन किये बिना भी कोई जैनी बन सकता है, जिसे कि अविरत-सम्यग्दृष्टि कहते हैं। हाँ, मूलगुणों में से कुछ ऐसी बातें चुनी जा सकती हैं, जो जैनत्व की शर्त के रूप में रक्खी जा सकें। खैर, आजकल मूलगुण निम्नलिखित होना चाहिये—

१ सर्वधर्म-समभाव, २ सर्वजाति-समभाव, ३ सुधारकता (विवेक), ४ प्रार्थना, ५ शील, ६ दान, ७ मांसत्याग, ८ मद्यत्याग।

(१) सर्वधर्म-समभाव का दूसरा नाम स्याद्वादिता है। किसी

---

* मद्यपलमधु निशाशन पंचफली विरतिपंचकाप्तनुती।
जीवदया जलगालन मिति च क्वचिदष्ट मूलगुणाः।

धर्म से द्वेष न करना, उसमें जो जो भलाइयाँ हों–उनको सादर ग्रहण करना, विधर्मी होने से ही किसी की निंदा न करना, आदि सर्वधर्म-समभाव या स्याद्वाद है।

(२) मनुष्यमात्र को एक जाति समझना, विजातीय होने से ही किसी से द्वेष न करना, या इसी कारण से खानपान आदि में आनाकानी न करना सर्वजाति समभाव है।

(३) रीति-रिवाजों में जो अच्छा हो उसे स्वीकार करना और जो बुरा हो असत्य हो–अपना या समाज का नुकसान करने-वाला हो या अन्य किसी कारण से अनुपयुक्त हो–उसका त्याग करना, रूढ़ियों का अन्धभक्त न होना, सुधारकता या विवेक है।

(४) सत्य आदि धर्मों की तथा उनको पाकर जो व्यक्ति महान बन गये हैं उनकी, प्रत्यक्ष या परोक्ष में प्रार्थना स्तुति प्रशंसा आदि करना, उन गुणों को जीवन में उतारने के लिये विनीत मन से विचार करना और उन विचारों को किसी तरह प्रकट करना प्रार्थना है।

(५) 'शील' शब्द का अर्थ पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं है, किन्तु स्त्री-पुरुष का आपस में ईमानदार रहना है। पुरुषों के लिये यह स्व-स्त्री सन्तोष या पर-स्त्री-निषेध के रूप में है और स्त्रियों के लिये स्व-पुरुष सन्तोष या पर-पुरुष-निषेध के रूप में है। जो पुरुष विवाहित हैं उन्हें स्व-स्त्री-सन्तोषी होना चाहिये। जो अविवाहित (कुमार या विधुर) हैं उन्हें पर-स्त्री-निषेधी होना चाहिये, अर्थात् जिन स्त्रियों का पति जीवित है— उनके साथ काम-सम्बन्ध स्थापित न करना चाहिये। जिस प्रकार अविवाहित पुरुषों के लिये कुछ छूट रक्खी

गई है, उसी तरह अविवाहित विशेषतः विधवा स्त्रियों के लिये भी है।

परन्तु यह छूट उसी जगह के लिये है जहाँ कि चेष्टा करने पर भी विवाहित न बना जा सकता हो। अविवाहित का पहिला कर्तव्य यह है कि वह ब्रह्मचर्य का पालन करे। अगर ब्रह्मचर्य का पालन न कर सकता हो, तो विवाह करे। परन्तु जब हरएक प्रकार की कोशिश करने पर भी विवाह न हो, तो वह ऐसे व्यक्ति को अपना साथी बना सकता है—जो किसी दूसरे व्यक्ति के साथ इस बन्धन में नहीं बँधा है।

अहिंसादि चार अणुव्रतों को छोड़कर जो सिर्फ शील या ब्रह्मचर्याणुव्रत को मूलगुणों में रक्खा गया है उसका कारण यह है कि यह गृहस्थ-जीवन का मूलाधार है। स्त्री और पुरुष अगर आपस में विश्वासघात करें तो गार्हस्थ्य जीवन नरक ही समझना चाहिये। अन्य अणुव्रतों के पालन न करने पर भी गार्हस्थ्य-जीवन की उतनी दुर्दशा नहीं होती जितनी कि इस शील के न पालने से होती है, इसलिये गृहस्थों के मूलगुणों में इसका समावेश करना अत्यावश्यक है।

अविवाहितों को जो छूट दी गई है, उसका कारण यह है कि उसके दुरुपयोग से आर्थिक या प्रबन्ध सम्बन्धी अन्य बुराइयाँ भले ही होवें, परन्तु गार्हस्थ्य-जीवन के मूल पर कुठाराघात नहीं होता।

(६) गृहस्थ को अपनी आमदनी में से समाज-हित के लिये कुछ न कुछ अवश्य देना चाहिये। अगर वह अत्यन्त गरीब हो,

अपनी ही गुज़र न कर सकता हो, बेकार हो तो उसे छूट है, परन्तु इस छूट का ज़रा भी दुरुपयोग न हो, इस विषय में सावधानी रखना चाहिए।

(७) जिन देशों में अन्न या शाक मिल सकता है—वहाँ के लिये यह अत्यावश्यक मूलगुण है; मांस-भोजन हिंसा का उग्र रूप है, इसलिये उसका त्याग करना चाहिये। भारतवर्ष या इसी के समान अन्य देशों के लिये यह एक आवश्यक मूलगुण है। हाँ, उत्तर ध्रुव के आसपास के प्रदेश अथवा और भी ऐसे स्थानों के लिये जहाँ जीवन-निर्वाहयोग्य अन्न पैदा ही नहीं होता, वहाँ के लिये इस मूलगुण को शिथिल बनाना पड़ेगा। उसका शिथिल रूप कैसा हो, यह बात वहाँ की परिस्थिति के ऊपर निर्भर है। उदाहरणार्थ, जलचरों की छूट देकर स्थलचर और नभचरों का त्याग किया जा सकता है, क्योंकि जलचरों की अपेक्षा स्थल-चर और नभचर अधिक विकसित प्राणी हैं। इसी तरह से और भी विचार करना चाहिये। ऐसे देशों के लिये इस मूल-गुण का नाम मांस-मर्यादा होगा।

(८) मद्य-त्याग भी आवश्यक है, क्योंकि मद्यपायी का जीवन अनुत्तरदायी तथा पागल के समान हो जाता है। हाँ, औषध के लिये मद्य-बिन्दु का सेवन करना पड़े तो इससे मूल गुण का भंग नहीं होता। तथा जिन शीतप्रधान-देशों में दूध और चाय की तरह मद्यपान किया जाता है, वहाँ अगर इसका त्याग न हो सके तो भी मर्यादा बना लेना चाहिये और इतनी शराब कभी न पीना चाहिये जिससे मनुष्य भान भूलकर पागल सरीखा

हो जावे। ऐसे देशों के लिये इस मूलगुण का नाम मद्यत्याग के स्थान पर मद्य-मर्यादा होगा।

मूलगुणों में जिन-जिन नियमों में अपवाद बताया गया है या छूट दी गई है, वहाँ पर यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि वह छूट या अपवाद व्यसन का रूप न पकड़ ले। जीवन के लिये जो कार्य आवश्यक नहीं हैं, फिर भी जो पाप-कार्य इस प्रकार आदत का रूप पकड़ लेते हैं कि जिसके बिना बेचैनी का अनुभव होने लगता है, उसे व्यसन कहते हैं। इस प्रकार के दुर्व्यसनों का मूलगुणी को त्यागी होना चाहिये।

जैनशास्त्रों में जुआ, मांस, मद्य, वेश्या, शिकार, चोरी, पर-स्त्री के विषय को लेकर सात व्यसन बताये गये हैं। व्यसनों की संख्या कितनी भी हो, उसका सार वही है जो ऊपर कहा जा चुका है। स्पष्टता के लिये सात की गणना कर दी गई, यह ठीक है। मूलगुणी को इनका त्यागी होना चाहिये। हाँ, 'जुआ' शब्द के स्पष्टीकरण में यह कह देना उचित मालूम होता है कि हार-जीत की कल्पना से ही जुआ नहीं हो जाता, किन्तु जब जुआ धन-पैसे से खेला जाता है तब जुआ कहलाता है। अन्यथा स्वास्थ्य, शिक्षा आदि विषयों की अच्छी प्रतियोगिताएँ भी जुआ कहलाने लगेंगी; अथवा मनोविनोद के लिये कोई खेल भी जुआ कहलाने लगेगा। 'जुआ' शब्द का इतना व्यापक अर्थ करना ठीक नहीं है, क्योंकि जुआ की जो विशेष हानियाँ हैं वे उपर्युक्त प्रतियोगिताओं या खेलों में नहीं पाई जातीं।

वर्तमान परिस्थिति के अनुसार ये आठ मूलगुण बताये गये

हैं। देश-काल-पात्र के भेद से इनमें न्यूनाधिकता तथा नामों में परिवर्तन किया जा सकता है।

## जैनत्व।

मैं पहिले कह चुका हूँ कि मूलगुण व्रती होने की पहिले शर्त है, परन्तु व्रती हुए बिना जैन बन सकता है। जैन सम्प्रदाय में जन्म लेने से जैन में गिनती हो सकती है, परन्तु वास्तव में वह सच्चा जैन नहीं बन सकता। सच्चा जैन होने के लिये उसमें अमुक गुण होना चाहिये। व्रतादि उसमें हों या न हों, परन्तु अमुक तरह की भावना तो होना ही चाहिये, जिससे वह जैन कहा जा सके।

ऊपर जो मूलगुण बताये गये हैं—उनमें से प्रारम्भ के तीन मूलगुण जैनत्व की शर्त के रूप में पेश किये जा सकते हैं।

१— सर्व-धर्म-समभाव, २—सर्व-जाति-समभाव, ३–सुधारकता ( विवेक )।

आवश्यकता तो इस बात की है कि प्रत्येक जैन आठ मूलगुणों का पालन करे, परन्तु अगर किसी कारणवश न कर सकता हो तो जैनत्व की लाज रखने के लिये कम से कम इन तीन गुणों का पालन तो अवश्य करे। और जहाँ तक बन सके प्रार्थना में शामिल अवश्य हो। प्रतिदिन न हो सके तो सप्ताह में एक दिन अवश्य हो।

## नित्य कृत्य।

प्रत्येक धर्म-संस्था के सदस्यों के लिये कुछ ऐसे साधारण नित्यकृत्य नियम किये जाते हैं—जिनसे उस संस्था की संघटना बनी

रहती है और उसके आश्रित रहकर उसके सदस्य आत्मोन्नति तथा परोन्नति करते रहते हैं। ऐसे कृत्य संस्था के साथ ही पैदा नहीं हो जाते, किन्तु धीरे धीरे पैदा होते हैं, और कभी कभी तो वे पूर्ण रूप में प्रचलित भी नहीं हो पाते।

जैनशास्त्रों में, खासकर दिगम्बर जैनशास्त्रों में, इस प्रकार के छः दैनिक कृत्यों का वर्णन मिलता है। १ देवपूजा, २ गुरूपास्ति, ३ स्वाध्याय, ४ संयम, ५ तप, ६ दान।

इनमें से स्वाध्याय, संयम, तप और दान—इन चार का वर्णन पहिले अच्छी तरह किया जा चुका है, इसलिये यहाँ इनके विवेचन की ज़रूरत नहीं है। रही देवपूजा और गुरूपास्ति; इनमें से भी गुरुपास्ति की आज ज़रूरत नहीं है, जिनमें वास्तव में गुरुत्व है उनको हर तरह सहायता पहुँचाना प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है; परन्तु यह तो पात्रदान में आ जाता है, इसलिये अलग उल्लेख करना अनावश्यक है। इससे अधिक गुरूपास्ति आवश्यक नहीं है। कम से कम वह नित्यकृत्य में नहीं रक्खी जा सकती।

अब रही देवपूजा, सो देव कहीं मिलता तो है नहीं, भूतकाल के गुरु या महागुरु ही देव के रूप में माने जाने लगते हैं। महात्मा महावीर आदि महागुरु ही आज देव के रूप में माने जाते हैं, और देवपूजा के नाम पर उनकी मूर्तियों की पूजा की जाती है। हम ऐसे महागुरुओं को तथा जिन गुणों के कारण वे महागुरु बने—उन गुणों को देव के स्थान पर पूजें तो अनुचित नहीं है। परन्तु इसके विषय में तीन तरह के सुधारों की आवश्यकता है—

१—देवपूजा के वर्तमान रूप को बदल देना चाहिये। २—पूजा के

विषय में अधिकार, अनधिकार का जो प्रश्न है, उसके विषय में प्रतिबन्ध उठा लेना चाहिये । ३--देवपूजा का अर्थ व्यापक करना चाहिये । इन तीनों का संक्षेप में स्पष्टीकरण इस प्रकार है ।

१--देव-पूजा का वर्तमान रूप विकृत है । अभिषेक, आँगी, पक्वान्न चढ़ाना आदि उसमें समय के प्रवाह के कारण मिल गये हैं । जैन-धर्म में महावीर आदि की यद्यपि एक महात्मा या तीर्थंकर के रूप में ही मान्यता है, तथापि लोगों के हृदय में ऐश्वर्य की जो अमिट छाप है उसके कारण वे अगर महात्माओं की उपासना भी करते हैं तो वे उन्हें ईश्वर बनाकर छोड़ते हैं । उनके वाह्य वैभवों और अतिशयों की कल्पना करके--वे उन्हें मनुष्य की श्रेणी से निकालकर बाहर कर देते हैं । उनके जीवन की अद्भुत कहानियाँ गढ़ डालते हैं, और फिर उनके स्मरण में नाना तरह की क्रियाएँ रचते हैं ।

मूर्तियों के अभिषेक आदि ऐसी ही अवैज्ञानिक सारहीन भक्तिकल्प्य घटनाओं के स्मारक है । उनकी आज ज़रूरत नहीं है । इसके अतिरिक्त मूर्तियों का शृङ्गार पूजा का अंग न बनाना चाहिये । रंगमंच के ऊपर नेपथ्य का काम करना जैसे कलाहीन और भद्दा है, उसी प्रकार पूजा में मूर्तियों का सजाना भी अनुचित है । जो कुछ करना हो पूजा के पहिले ही एकान्त में कर लेना चाहिये । साथ ही उसके अनुरूप ही सजावट करना चाहिये । महात्मा महावीर, महात्मा बुद्ध आदि की मूर्तियों पर मुकुट आदि लगाना—उनके श्रमण-जीवन की हँसी करना है । हाँ महात्मा राम, महात्मा कृष्ण आदि की मूर्तियों पर यह सजावट की

जाय तो किसी तरह क्षन्तव्य है, परन्तु उन पर भी राजोचित शृङ्गार विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं मालूम होता। म० रामचन्द्र की महत्ता उनके वनवासी-जीवन में है, और म० कृष्ण की महत्ता महाभारत के सारथी-जीवन में है; इसलिये उस समय के अनुरूप ही उनका शृङ्गार होना चाहिये। जैनमूर्तियों में म० महावीर की मूर्ति तो नग्न ही बनाना चाहिये। म० पार्श्वनाथ की मूर्ति, म० बुद्ध की तरह सवस्त्र बनाना चाहिये; तथा यह नियम रक्खा जाय कि श्रमण महात्माओं की मूर्तियों पर अलङ्कार नाममात्र को भी न हो।

२—पूजा तो ब्राह्मण या उपाध्याय ही कर सकता है, या पुरुष ही कर सकता है—इस प्रकार के प्रतिबन्ध उठा देना चाहिये। यह घोषित कर देना चाहिये कि पुरुष हो या स्त्री, ब्राह्मण हो या शूद्र, अमीर हो या ग़रीब, सबको देवपूजा का समान अधिकार है।

बहुत से स्थानों पर स्त्रियों को पूजा नहीं करने दी जाती अथवा मूर्ति को नहीं छूने दिया जाता। यह अन्याय है और यह बात जैनशास्त्रों के भी प्रतिकूल है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में तो स्त्रियों को तीर्थंकर तक माना है, सैकड़ों स्त्रियों के मुक्त होने का उल्लेख है, इसलिये देवपूजा का निषेध किया जाय—यह तो हो ही नहीं सकता। दिगम्बर सम्प्रदाय में यद्यपि दिगम्बरत्व के कट्टर आग्रह से तथा समय के प्रवाह से स्त्रीमुक्ति का निषेध किया गया, तथापि स्त्रियों के द्वारा देवपूजा के बहुत से उल्लेख मिलते हैं- पद्मपुराण में रावण की पत्नियाँ, अंजनासती, चन्द्रनखा, विशल्या आदि; आदिपुराण में सुलोचना आदि; हरिवंशपुराण में गन्धर्वसेना,

सुभद्रा, जिनदत्ता, अर्हद्दास सेठ की पत्नी आदि; शान्तिपुराण में स्वयंप्रभा आदि।

इनमें से कुछ ने अकेले पूजा की है, कुछ ने पति के साथ। कुछ के विषय में तो उनके द्वारा मूर्त्तिस्थापन तथा अभिषेक होने का स्पष्ट उल्लेख है।

ये सब उदारतापूर्ण बातें शास्त्रों में मिलती हैं। अगर कदाचित् न मिलती होतीं तो भी न्याय की रक्षा के लिये इनका रखना आवश्यक था। समता का विघातक अनुचित प्रतिबन्ध कदापि न होना चाहिये। इसी प्रकार शूद्रों के बारे में भी समझना चाहिये। जब उन्हें मोक्ष जाने, संयम पालने, व्रत लेने का अधिकार है, तब पूजा का अधिकार कौन सा बड़ा अधिकार है?

३-देव-पूजा के लिये मूर्ति को अवलम्बन मानकर उसका उपयोग किया जाय यह अच्छा है, परन्तु यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि मूर्ति आदि के अवलम्बन के बिना भी पूजा हो सकती है। जहाँ तक सम्भव हो सामाजिकता को बढ़ाने के लिये, वात्सल्य की स्थिरता के लिये, सामूहिक प्रार्थना करना चाहिये। अगर यह सम्भव न हो तो प्रार्थना के लिये सार्वजनिक स्थान, मन्दिर, स्थानक, आदि में जाना चाहिये। अगर इतना भी न हो तो कहीं भी प्रार्थना करना चाहिये। इस प्रकार की प्रार्थनाएँ वास्तव में देव-पूजा ही हैं।

श्रावकों के इन छः कृत्यों में से गुरूपास्ति की तो ज़रूरत ही नहीं है अथवा उसे दान में शामिल कर सकते हैं। संयम कोई खास दैनिक कृत्य नहीं है, वह तो मूलगुणादिक के रूप में सदा

रहता है। तप को भी दैनिक कृत्य बनाने की आवश्यकता नहीं है। किसी की इच्छा हो तो वह भले ही करे। इस प्रकार नित्य-कृत्यों की संख्या तीन रह जाती है—प्रार्थना, स्वाध्याय और दान। प्रार्थना का सम्बन्ध सम्यग्दर्शन से है, स्वाध्याय का सम्बन्ध ज्ञान से है और दान का सम्बन्ध सम्यक्चारित्र से है। इस प्रकार ये तीन दैनिक कृत्य उपयोगी भी हैं, सरल भी हैं। जीवन के किसी कार्य में विशेष बाधा डाले बिना—इनका अच्छी तरह से पालन किया जा सकता है, इसलिये इनका पालन अवश्य करना चाहिये।

## सल्लेखना।

जैनधर्म में व्रतों के प्रकरण में सल्लेखना का भी उल्लेख किया जाता है। यह मृत्युसमय की क्रिया है तथा मुनि और श्रावक कोई भी इसे कर सकता है, इसलिये इस व्रत का अलग विधान किया गया है। यद्यपि किसी ने इसे शिक्षा-व्रतों में भी गिना है—जैसा कि पहिले कहा जा चुका है—परन्तु अधिकांश लेखकों ने इसे अलग ही रक्खा है।

जिस समय मृत्यु का निश्चय हो जाय अथवा कोई ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाय कि मृत्यु को स्वीकार किये बिना कर्तव्य-भ्रष्टता से बचने का दूसरा कोई उपाय न हो, उस समय अपने कर्तव्य की रक्षा करते हुए जीवन का उत्सर्ग कर देना सल्लेखना है।

बहुत से धर्मों में इस प्रकार के जीवनोत्सर्ग का विधान पाया जाता है। कहीं जल में डूबने, कहीं पर्वत से गिरने अथवा किसी दूसरे रूप से प्राणों के उत्सर्ग करने का विधान है। परन्तु

आजकल वैसे विधानों का कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि एक तो उनकी नींव अन्धश्रद्धा पर खड़ी हुई है, दूसरे उसकी कोई उपयोगिता सिद्ध नहीं होती है। किसी देवता को खुश करने के लिहाज़ से मर जाना अन्धश्रद्धा का भयंकर परिणाम है, क्यों कि न तो कोई ऐसा देवता है और न उसे इस प्रकार से खुश करने की ज़रूरत है। हाँ, कर्तव्य की वेदी पर बलिदान करना ही सच्चा बलिदान है। समाज की रक्षा के लिये जान लड़ा देना, दूसरों की सेवा में शरीर देना पड़े तो देना आदि ही सच्चा बलिदान है। अमुक जगह मरने से या अमुक का नाम लेकर मरने से स्वर्ग या मोक्ष मिल जायगा, इस प्रकार की अन्धवासना से प्राण देने का कोई फल नहीं है। वह एक प्रकार की आत्महत्या ही है।

अपनी और जगत् की भलाई की दृष्टि से जब प्राणोत्सर्ग करना, अधिक कल्याणकारी मालूम हो तभी प्राणोत्सर्ग करना चाहिये। पुराने समय की प्राणोत्सर्ग क्रिया इतनी विकृत और दुर्वासनापूर्ण थी कि वह एक प्रकार से नामशेष ही हो गई या अन्धश्रद्धालुओं के लिये बच रही। धार्मिक उपयोगिता की दृष्टि से उसका कुछ मूल्य न रहा; किन्तु जैनधर्म ने उसका इतना अधिक संशोधन किया है कि वह शोधे हुए विष की तरह औषध का रूप धारण कर गई है। आज उसमें थोड़े बहुत संशोधन की आवश्यकता और हो गई है; उस संशोधन के बाद वह आज भी उपयोगी है।

जैनधर्म ने जो इस विषय में संशोधन किया है, उसमें सबसे बड़ा संशोधन यह है कि उपवास को छोड़कर मृत्यु के अन्य

सब उपायों की मनाई कर दी गई है। जब कोई ऐसी असाध्य बीमारी हो जाय कि उसके कष्टों का सहन करना कठिन हो, उसके मारे हम दूसरों की सेवा भी न कर सकते हों, बल्कि दूसरों से अधिक सेवा लेनी पड़ती हो, उस समय उपवास करके शरीर छोड़ना चाहिये। जल में डूबने आदि उपायों की सख्त मनाई है। और उपवास का विधान भी एकदम नहीं है; किन्तु प्रारम्भ में नीरस भोजन करना चाहिये, बाद में अन्न त्याग करना चाहिये, बाद में छाछ वगैरह किसी पेय वस्तु के आधार पर रहना चाहिये, इसके बाद शुद्ध जल के आधार पर रहना चाहिये, इसके बाद पूर्ण उपवास का विधान है या सिर्फ़ जल के आधार पर रह सकता है। इस प्रक्रिया से दिनों, महिनों और वर्षों का समय लग जाता है। एकदम प्राण-त्याग करने में जो संक्लेश अपने को और दूसरों को होता है, वह इस प्रक्रिया में नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह प्रक्रिया मरण का ही नहीं, जीवन का भी उपाय है। इस प्रकार का भोजन-त्याग कभी कभी असाध्य बीमारियों तक को दूर कर देता है। अगर भोजन-त्याग से बीमारी शांत हो जावे और जिन कारणों से सल्लेखना की थी, वे कारण हट जावें तो सल्लेखना बन्द कर देना चाहिये। इस प्रकार के संशोधन से सल्लेखना की उपयोगिता और भी अधिक बढ़ जायगी।

आत्महत्या और सल्लेखना में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। आत्म-हत्या किसी कषाय के आवेग का परिणाम है, जब कि सल्लेखना त्याग और दया का परिणाम है। जहाँ अपने जीवन की कुछ भी उपयोगिता न रह गई हो, और दूसरों को व्यर्थ कष्ट

उठाना पड़ता हो, वहाँ शरीर-त्याग में दूसरों पर दया है।

**प्रश्न**–जिन रोगों को बड़े बड़े वैद्य असाध्य कह देते हैं, उनसे भी मनुष्य की रक्षा हो जाती है। क्षणभर बाद क्या होने वाला है, इसको पूर्ण निश्चय के साथ कौन कह सकता है? इसलिये मृत्यु का भी पूर्ण निश्चय कैसे होगा? और पूर्ण निश्चय के बिना सल्लेखना लेना उचित नहीं कहा जा सकता। वह तो आत्मवध हो जायगी।

**उत्तर**–मनुष्य के पास निश्चय करने के जितने साधन हैं उन सबका उपयोग करने पर जो निर्णय हो, उसी के आधार पर काम करना चाहिये। अन्यथा मनुष्य को बिलकुल अकर्मण्य हो जाना पड़ेगा। जीवन के वह सारे काम अपने ज्ञान से करता है। यह काम भी उसे इसी तरह करना चाहिये। हाँ, उसके भीतर किसी प्रकार का कषायावेष न हो, शुद्ध बुद्धि से विचार करे, इस प्रकार का तथा निम्नलिखित चार बातों का विचार करके सल्लेखना स्वीकार करे लोक-लज्जा आदि से सल्लेखना न ले और न किसी को जबर्दस्ती सल्लेखना दे।

क–रोग अथवा और कोई आपत्ति असाध्य हो।

ख–सबने रोगी के जीवन की आशा छोड़ दी हो।

ग–प्राणी स्वयं प्राण त्याग करने को तैयार हो।

घ–जीवन की अपेक्षा जीवन का त्याग ही उसके लिये श्रेयस्कर सिद्ध होता हो।

इसके अतिरिक्त और बातें भी विचारणीय हो सकती हैं

जैसे, उसकी परिचर्या करना अशक्य हो और परिचर्या करने पर भी उसकी असह्य-वेदना में कमी न की जा सकती हो, आदि। यह बात पहिले ही कही जा चुकी है कि सल्लेखना करने से अगर किसी का स्वास्थ्य सुधर जाय तो सल्लेखना बन्द कर देना चाहिये।

प्रश्न—यदि स्वास्थ्य सुधरने पर सल्लेखना बन्द कर दी जाय तो सल्लेखना एक प्रकार की चिकित्सा ( उपवास-चिकित्सा ) कहलाई। तब व्रतों के प्रकरण में उसके विधान की क्या आवश्यकता है ? उसे तो चिकित्सा-शास्त्र में शामिल करना चाहिये।

उत्तर – उपवास-चिकित्सा और सल्लेखना में अन्तर है। चिकित्सा में जीवन की पूरी आशा और चेष्टा रहती है, सल्लेखना उस समय की जाती है जबकि जीवन की न तो कोई आशा रहती है न उसके लिये कोई चेष्टा की जाती है। अकस्मात् कोई ऐसी परिस्थिति पैदा हो जाय कि उपवास वगैरह से निराशा में आशा का उदय होकर उसमें सफलता हो जाय तो जबर्दस्ती प्राण-त्याग करने की जरूरत नहीं है; क्योंकि सल्लेखना आत्महत्या नहीं है, किन्तु आई हुई मौत के सामने वीरता से आत्म-समर्पण करना है। इससे मनुष्य शांति और आनन्द से प्राण-त्याग करता है। मृत्यु के पहिले जो उसे करना चाहिये—वह कर जाता है। मौत अगर टल जाय तो उसे जबर्दस्ती न बुलाना चाहिये।

सल्लेखना का मुख्य कारण रोग अथवा और ऐसी ही कोई

शारीरिक विकृति है। परन्तु अन्य कारणों का भी उल्लेख किया जाता है। जैसे—उपसर्ग, दुर्भिक्ष, वृद्धता आदि। ये कारण पुराने समय की मुनिसंस्था को लक्ष्य में लेकर बताये गये हैं। पुरानी मुनिसंस्था के नियमानुसार उपसर्ग आने पर मुनि को भागना न चाहिये—न बचाव करना चाहिये, इसलिये सल्लेखना ही अनिवार्य है। इसी प्रकार दुर्भिक्ष में मुनि के योग्य निर्दोष आहार नहीं मिल सकता, इसलिये भी उसे प्राण-त्याग करना चाहिये। इसी प्रकार अतिवृद्ध हो जाने पर मनुष्य मुनियों के आचार का पूरी तरह पालन नहीं कर सकता, इसलिये आचारहीन होने की अपेक्षा प्राण-त्याग श्रेष्ठ है।

पुरानी मुनि-संस्था के ये नियम आज बदल दिये गये हैं, इसलिये सल्लेखना के ये कारण भी आवश्यक नहीं कहे जा सकते। परन्तु इनके भीतर जो दृष्टि—है वह आज भी उपयोगी है। पुराने समय के उपसर्ग, दुर्भिक्ष आदि को हम सल्लेखना के लिये पर्याप्त कारण मानें या न मानें, परन्तु इसमें एक बात अवश्य है कि जब मनुष्य दुनिया के लिये भारभूत हो जावे तो स्वेच्छा से सात्विक रीति से मृत्यु स्वीकार करे तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है। मनुष्य को भारभूत होने की कोशिश न करना चाहिये, किन्तु जब उसके ऊपर प्राकृतिक या पर-प्राणिकृत ऐसी विपत्तियाँ आ जायँ कि वह न तो अपना ही कल्याण कर सके, न जगत् का कल्याण कर सके, तो समाधि-मरण उचित है। यह आत्म-हत्या नहीं है।

समाधि-मरण आत्महत्या नहीं है, इसके विषय में जैना-

चार्यों ने एक सुन्दर उपमा दी है। वे कहते हैं* कि जैसे कोई व्यापारी घर का नाश नहीं चाहता, अगर घर में आग लग जाती है तो उसके बुझाने की चेष्टा करता है, परन्तु जब देखता है कि इसका बुझाना कठिन है, तब वह घर की पर्वाह न करके धन की रक्षा करता है; इसी तरह कोई आदमी शरीर का नाश नहीं चाहता, परन्तु जब उसका नाश निश्चित हो जाता है तब वह शरीर को तो नष्ट होने देता है; किन्तु धर्म की रक्षा करता है, इसलिये यह आत्म-वध नहीं कहा जा सकता।

यह आत्म-वध नहीं है; किन्तु इसका दुरुपयोग न होने लगे, इसके लिये सतर्कता रखना चाहिये।

## अतिचार।

श्रावकों के लिये जो बारह व्रत बताये गये हैं उनका वर्णन हो चुका, परन्तु व्रतों की रक्षा के लिये उनके दोषों का जानना आवश्यक है। अतिचार व्रत का दोष माना जाता है। अनाचार व्रत का नाश माना जाता है। अतिचार में भी व्रत का नाश होता है, परन्तु कुछ अंश में उसकी रक्षा रहती है। इसलिये आंशिक भंग को अतिचार और पूर्ण भंग को अनाचार कहते हैं।

---

* यथा वणिजः विविध पण्यदानादानसंचयपरस्य गृहविनाशोऽनिष्टः तद्विनाशकारणे चोपस्थिते यथाशक्ति परिहरति। दुष्परिहारे च पण्यविनाशो यथा भवति तथा यतते। एवं गृहस्थोऽपि व्रतशीलपुण्यसंचयप्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य शरीरस्य न पातमभिवाञ्छति। तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति दुष्परिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति यथा प्रयतति कथमात्मवधो भवेत्।

—त० राजवार्त्तिक ७-२२-८

दोष या अतिचार सैकड़ों हो सकते हैं, परन्तु उनमें से मुख्य मुख्य पांच पांच दोष चुनकर गिनाये गये हैं। यहां उनका संक्षेप में विवेचन किया जाता या नामावलि दी जाती है। जो अतिचार वर्तमान काल की दृष्टि से अनाचार रूप है अथवा जो दोष-रूप ही नहीं है, उसका स्पष्टीकरण उस जगह कर दिया जायगा।

अहिंसाणुव्रत–१ पशुओं को इस तरह जकड़कर बाँधना जिससे उनको हिलना-डुलना भी मुश्किल हो जाय [बन्ध], २. उनको निर्दयता से पीटना (वध), ३. कान नाक वगैरह छेदना, ४. उनपर ज्यादह बोझ लादना, ५. खाने-पीने में कमी करना। अगर ये काम दुर्भाव से न किये गये हों तो अतिचार नहीं हैं।

सत्याणुव्रत– १-झूठा उपदेश देना। इस अतिचार का साधारणतः जो अर्थ किया जाता है–वह ठीक नहीं है। जान-बूझकर अगर झूठी बात का उपदेश दिया जाय तब तो वह अनाचार है। अगर किसी विषय में हमारा विश्वास ही ऐसा हो और तदनुसार ही हमने उपदेश दिया हो तो वह व्रत की दृष्टि से अतिचार नहीं है। वास्तव में इस अतिचार का अर्थ लापर्वाही से बोलना या दुराग्रह करना है। २–स्त्री पुरुष आदि की चेष्टाओं को प्रगट करना। ३–दूसरे के कहने से झूठी बातें लिखना या नकली हस्ताक्षर * बना देना आदि। यह अतिचार नहीं वास्तव में अनाचार

---

* अन्येनानुक्तमननुष्ठितं च यत्किञ्चित्तस्य परप्रयोगवशादेव तेनोक्तमनुष्ठितं चेति वञ्चनानिमित्तम् लेखनम् अन्यसरूपाक्षर करणमित्यन्ये।

—सागारधर्मामृत ४–४५।

है। ४–कोई मनुष्य अपने यहाँ कोई चीज़ रख गया हो और भूल से कम माँगे, तो जानते हुए भी उसका अनुमोदन करना। ५–चुगली खाना।

**अचौर्याणुव्रत**––१-किसी को चोरी के लिये प्रेरित करना। वास्तव में यह अनाचार ही है। २–चोरी का सामान लेना। ३–मापने-तोलने के साधन न्यूनाधिक रखना। यह भी अनाचार है। ४–अधिक मूल्य की वस्तु में हीन मूल्य की वस्तु मिलाकर बेचना। घी में चर्बी मिलाना, पूछने पर झूठ बोलना आदि अवस्था में यह अनाचार ही है। ५–सामान पर टैक्स वगैरह न देना। सत्याग्रह में चोरी की वासना न होने से वह अतिचार नहीं है।

**ब्रह्मचर्याणुव्रत**––१.दूसरे की सन्तति का विवाह कराना। इसको अतिचार मानना निवृत्ति मार्ग का अतिरेक है। जिस कारण से अपनी सन्तान के विवाह का आयोजन करना उचित है, उसी कारण से दूसरे की सन्तान का विवाह करना भी उचित है। पीछे के लेखकों को इसकी अतिचारता खटकी भी है, इसलिये उनने इसका दूसरा अर्थ किया है कि एक पत्नी * के रहने पर अपनी दूसरी शादी करना परविवाह-करण अतिचार है। इस अर्थ की दृष्टि से बहुपत्नीत्व के रिवाज़ वाले देश में यह अतिचार माना जा सकता है। जहाँ बहुपत्नीत्व की प्रथा नहीं है, वहाँ तो यह भी

* यदा तु स्वदारसन्तुष्टो विशिष्टसंतोषाभावात् अन्यत्कलत्रं परिणयति तदाप्यस्यायमतिचारः स्यात्। परस्य कलत्रान्तरस्य विवाहकरणमात्मना विवाहनम्।
—सागारधर्मामृत ४—५८।

अनाचार है। जहाँ तलाक का रिवाज़ हो वहाँ पर तलाक देना अतिचार मानना चाहिये, या तलाक देकर दूसरा विवाह करना अतिचार है, अथवा दूसरा विवाह करने की इच्छा से तलाक देना अतिचार है। २-दूसरे के द्वारा परिगृहीत वेश्या के पास जाना। ३-अथवा अपरिगृहीत वेश्या के पास जाना। पहिले समय में इस विषय में नैतिकता के बन्धन बहुत शिथिल थे, इसलिये वेश्या-सेवन भी अतिचार ही था, न कि अनाचार। परन्तु स्त्रियों के साथ यह अत्याचार है। वास्तव में वेश्या-गमन भी अनाचार है। हाँ, अविवाहित पुरुष की दृष्टि से इसे अतिचार कह सकते हैं, परन्तु विवाहित के लिये तो अनाचार ही है। दो पुरुषों में होने वाला काम-सेवन भी वेश्या-सेवन के समान दोष है। ४. काम-सेवन के सिवाय भिन्न अंगों से काम-सेवन करना। ५. कामोत्तेजना अधिक होना या इसके लिये कामोत्तेजक पदार्थों का उपयोग करना।

आचार्य समन्तभद्र ने परिगृहीत और अपरिगृहीत, इस प्रकार वेश्या के दो भेद नहीं रक्खे हैं। उनने दोनों के स्थान पर एक ही अतिचार माना है और पाँच की संख्या पूरी करने के लिये विटत्व-भण्डपन से भरी हुई वचन और मन की चेष्टाएँ को अतिचार माना है। यह मतभेद साधारण है।

**परिग्रह परिमाण**- धनधान्यादि परिग्रह की मर्यादा का उल्लंघन करना अतिचार* है। मर्यादा का उल्लंघन करने से तो

---

* क्षेत्रवास्तु हिरण्य सुवर्ण धनधान्य दासीदास कुप्प प्रमाणातिक्रमाः।
—तत्त्वार्थ ७-२९।

अनाचार ही हो जायगा। इसलिये उल्लंघन करने में भी मर्यादा की अपेक्षा रखना चाहिये। जैसे, गाय के गर्भवती होने पर संख्या बढ़ जाती है, परन्तु उसे गिनती में शामिल न करना। आभूषणों की संख्या बढ़ रही हो तो दो आभूषणों को मिलाकर एक कर देना आदि।

आचार्य समन्तभद्र ने इस व्रत के अतिचारों के नाम दूसरे ही दिये हैं ॥ १–पशु जितनी दूर तक चल सकते हैं उससे अधिक दूर तक चलाना। २–आवश्यकता से अधिक संग्रह करना। ३–लाभ के आवेश से बहुत आश्चर्य करना। ४–बहुत लोभ--कंजूसी करना। ५--लोभ से पशुओं पर बहुत भार लादना।

दिग्व्रत और देशविरति की आज आवश्यकता ही नहीं है, इसलिये उनके अतिचार नहीं बताये जाते।

**सामायिक**–मन. वचन काय की चञ्चलता, अनादर से सामायिक करना या भूल जाना। ये बातें प्रतिक्रमण प्रार्थना आदि में भी लगाना चाहिये। प्रतिक्रमण में एक बड़ा भारी अतिचार यह गिनना चाहिये कि जिससे क्षमा-याचना करना चाहिये उससे न करके दुनियाँ भर के जीवों से क्षमा-याचना करना।

**स्वाध्याय**–पहिले यह बारह व्रतों में नहीं गिना जाता था, इसलिये इसके अतिचार नहीं बताये गये। अब इसके अतिचार यों समझना चाहिये।

---

॥ अतिवाहनातिसंग्रह विस्मय लोभातिभारवहनानि।
परिमित परिग्रहस्य च विक्षेपा पंच लक्ष्यन्ते ॥
—रत्न क० श्रा० ३–१२

१–मन की असंलग्नता, २–वचन की विसंलग्नता, ( मौन में वचन की असंलग्नता रहती है, परन्तु मौन में भी स्वाध्याय अच्छी तरह होता है, इसलिये वचन की असंलग्नता अतिचार नहीं है, किन्तु विसंलग्नता अर्थात् स्वाध्याय के समय विचार किसी और बात का करना और बोलना कुछ और, अतिचार है। हाँ, कोई आवश्यक सूचना करना पड़े तो यह अतिचार नहीं है)। ३ अनादर से पढ़ना सुनना आदि। ४ भूल जाना। ५ पक्षपात। इससे सच्चे ज्ञान की प्राप्ति में बाधा पड़ती है, इसलिये यह बड़ा भारी अतिचार है।

काय की असंलग्नता या विसंलग्नता को अतिचार नहीं कहा, इसका कारण यह है कि चलते फिरते या लेटे हुए भी स्वाध्याय हो सकता है, इसलिये वह दोष नहीं है।

**अतिथिसेवा**–मुनियों को भोजन देने की दृष्टि से पुराने समय में अतिचार बताये गये थे। इसलिये सचित्त वस्तु से ढक देना, उसमें रखना, देय वस्तु दूसरे की बता देना, अनादर से देना, काल का उल्लंघन करना अतिचार थे। सचित्त का अर्थ अभक्ष्य करने पर आज भी ये अतिचार कहे जा सकते हैं। परन्तु अतिथि-सेवा में सिर्फ भोजन कराना ही न समझ लेना चाहिये; अन्य प्रकार की सेवा का भी यथायोग्य समावेश करना चाहिये।

**दान**–इसको एक अलग व्रत के रूप में रक्खा गया है। इसके मुख्य अतिचार निम्नलिखित मानना चाहिये–१ निरुपयोगी कार्यों में देना, २ अहङ्कार करना, ३ यश की वासना को मुख्यता देना, ४ बदले की वासना रखना, ५ अनादर या अनिच्छा से देना आदि।

**भोगोपभोग परिसंख्यान**—इसके अतिचार दो तरह* के मिलते हैं।

पुरानी मान्यता यह है—१ सचित्ताहार, २ सचित्त से सम्बद्ध वस्तु का आहार, ३ सचित्त से मिश्रित वस्तु का आहार, ४ मादक आदि वस्तुओं का आहार, ५ अधपकी वस्तु का आहार, ये पाँचों अतिचार सिर्फ़ भोजन के विषय में हैं जब कि भोगोपभोग परिसंख्यान का क्षेत्र विशाल है, इसलिये अतिचारों का यह पाठ बहुत अपूर्ण है। इसलिये आचार्य समन्तभद्र ने जो संशोधन किया है या जो पाठ दिया है वह अधिक उपयुक्त है। १ विषयों में आदर रखना, २ बार बार विचार करना, ३ अत्यधिक लोलुपता रखना अर्थात् प्रतिकार हो जाने पर भी इच्छा रखना, ४ भविष्य के भोगों में तन्मय होना, ५ अत्यधिक तल्लीन होना। और भी अतिचार बनाये जा सकते हैं।

**अनर्थदंडविरति**—१ असभ्य परिहास करना, २ असभ्य चेष्टा करना, ३ व्यर्थ बकवाद करना, ४ बिना विचारे प्रवृत्ति करना, ५ अनावश्यक संग्रह करना।

**प्रोषध**—१-२-३ बिना देखे शोधे वस्तुओं का उठाना रखना और बिछाना, ४-५ धार्मिक क्रियाओं में अनादर रखना और भूल जाना।

---

* सचित्तसबन्ध संमिश्रभिषव दुःपक्वाहाराः।

—तत्त्वार्थ ७-३५।

विषयविषतोऽनुपेक्षाऽनुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ। भोगोपभोगपरिमा व्यतिक्रमा पंच कथ्यन्ते॥ —रत्न क० श्रा० ३-४४।

प्रोषध इसलिये है कि भोजन की तरफ से निराकुल रहकर मनुष्य अधिक सेवा, स्वाध्याय आदि कर सके तथा स्वास्थ्य भी ठीक रख सके। इन उद्देश्यों को धक्का पहुँचाने से अतिचार हो जाता है।

**सल्लेखना**—१ जीवन की इच्छा रखना, २ मरने की इच्छा रखना (उस समय मनुष्य को मृत्यु और जीवन में समदर्शी होना चाहिये), ३ मित्रों का स्मरण कर करके दुखी होना, ४ पुराने भोगों का स्मरण करना, ५ भविष्य के लिये भोगों की लालसा रखना।

अतिचार अनेक हैं। यहाँ तो नमूने के तौर पर मुख्य मुख्य गिनाये गये हैं। जैनाचार्यों में इस विषय में भी अनेक मतभेद हैं, जिसमें तात्त्विक हानि तो नहीं है, परन्तु उससे इतना तो सिद्ध होता है कि ये आचार्य अरहन्त के नाम की दुहाई देकर देशकाल के अनुसार स्वेच्छा से नये नये विधान बनाया करते थे। उनका यह प्रयत्न लोगों को समझाने के लिये उचित ही था।

## प्रतिमा।

प्रतिमा शब्द का अर्थ यहाँ कक्षा या श्रेणी है। गृहस्थों को आचार में धीरे-धीरे समुन्नत बनाकर पूर्णसंयमी बनाने के लिये ये श्रेणियाँ हैं। मुनि-संस्था में प्रवेश करने के पहिले इन श्रेणियों का अभ्यास कर लेना उचित है। महात्मा महावीर के पहिले वर्णाश्रम व्यवस्था का ज़ोर था। उसमें अनेक विकार आ जाने से महात्मा महावीर ने उसे तोड़ दिया। परन्तु किसी न किसी रूप में इनका रखना अनिवार्य और आवश्यक था। वर्णव्यवस्था जन्म से न रही, कर्म से रही। इसी प्रकार आश्रम-व्यवस्था भी उम्र के हिसाब से न रही, किन्तु समय के हिसाब से रही। म० महावीर की भी

इच्छा थी कि गृहस्थ और सन्यास के बीच में कोई एक आश्रम अवश्य हो जिसमें मनुष्य संयम का अभ्यास करे । म० महावीर की उसी इच्छा का फल, प्रतिमाओं का यह विधान है । हाँ, यह बात अवश्य है कि इस विधान को जैसी चाहिये वैसी सफलता न मिली ।

चारित्र के जब अन्य नियम देश-काल के अनुसार बदलते रहे है, तब प्रतिमाओं का बदलते रहना आवश्यक था; क्योंकि प्रतिमाएँ चारित्र-नियम रूप नहीं हैं किन्तु नियमों के पालन का एक क्रम हैं । बहुत से नियमों में कोई किसी नियम का पहिले अभ्यास करता है और कोई पीछे, इसलिये प्रतिमाओं में अदला-बदली होना स्वाभाविक था । फिर भी इनमें जितना परिवर्तन होना चाहिये था उतना नहीं हुआ । इसका कारण यही है कि इनका यथेष्ट प्रचार न हो सका । जैनशास्त्रों में प्रतिमाओं के सिर्फ़ तीन पाठ मुझे मिले हैं । सम्भव है और भी हों । इनमें एक तो श्वेताम्बर सम्प्रदाय का है और दो दिगम्बर सम्प्रदाय के । पाठकों की सुविधा के लिये मैं तीनों पाठ एक साथ दे रहा हूँ ।

| | प्रथमपाठ | द्वितीयपाठ | तृतीयपाठ |
|---|---|---|---|
| १ | दर्शन | दर्शन | मूलव्रत |
| २ | व्रत | व्रत | व्रत |
| ३ | सामायिक | सामायिक | अर्चा |
| ४ | प्रोषध | प्रोषधोपवास | पर्वकर्म |
| ५ | पडिमापडिमा | सचित्तत्याग | अकृषिक्रिया |
| ६ | अब्रह्मवर्जन | रात्रिभुक्तित्याग | दिवाब्रह्म |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ७ | सचित्ताहारवर्जन | ब्रह्मचर्य | नवविधब्रह्म |
| ८ | स्वयमारम्भवर्जन | आरम्भत्याग | सचित्तवर्जन |
| ९ | प्रेष्यारम्भवर्जन | परिग्रहत्याग | परिग्रहत्याग |
| १० | उद्दिष्टभक्तवर्जन | अनुमतित्याग | भोजनमात्रानुमोदन |
| ११ | श्रमणभूतप्रतिमा | उद्दिष्टत्याग | अनुमतित्याग |

पहिला पाठ श्वेताम्बर सम्प्रदायमें सर्वमान्य है ; दूसरा तीसरा पाठ दिगम्बर सम्प्रदायका है, परन्तु तीसरा न तो प्रचलित है और न प्रसिद्ध ही है । इसका विधान सोमदेवसूरि ने अपने यशस्तिलक * में किया है ।

इसके अतिरिक्त छट्ठी प्रतिमा के विषय में एक चौथा पाठ भी है । समन्तभद्र आदि आचार्यों ने इस प्रतिमा का नाम रात्रिभुक्तित्याग ‡ अर्थात् रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग, रक्खा है; जब कि सोमदेव आशाधर आदि ने इसका नाम रात्रिभुक्तव्रत

---

* मूलव्रतं व्रतान्यर्चा पर्वकर्माकृषिक्रिया ।
दिवा नवविधं ब्रह्म सचित्तस्य विवर्जनम् ॥
परिग्रह परित्यागो भुक्तिमात्रानुमान्यता ।
तद्धानौ च वदन्त्येतान्येकाश यथाक्रमम् ॥
अवधिव्रतमारोहेत्पूर्वपूर्वव्रतास्थितः ।
सर्वत्रापि समा प्रोक्ता ज्ञानदर्शनभावनाः ॥
षड्त्रगृहिणो ज्ञेया त्रयः स्युर्ब्रह्मचारिणः ।
भिक्षुको द्वौ तु निर्दिष्टौ ततः स्यात्सर्वतो यतिः ॥

‡ अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम् ।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः ।
—रत्न क० श्रा० ५-२१ ।

दिवामैथुनविरति रक्खा है। और इसका अर्थ किया है दिन में* मैथुन नहीं करना। इस मतभेद के मिलाने से प्रतिमाओं के चार पाठ हो जाते हैं।

पहिले पाठ का—जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित है—अन्य पाठों से एक विशेष मतभेद और है और वह यह कि श्वेताम्बर पाठ के अनुसार प्रतिमाएँ परिमित समय के लिये हैं, जब कि दिगम्बर मतानुसार प्रतिमाएँ जीवन भर के लिये ली जा सकती हैं। श्वेताम्बर मतानुसार पहिली प्रतिमा एक महीने के लिये है, दूसरी दो महीने के लिये, तीसरी तीन महीने के लिये, इस प्रकार ग्यारहवीं ग्यारह महीने के लिये। इस तरह सब प्रतिमाओं के अभ्यास में साढ़े पाँच वर्ष लग जाते हैं। साथ ही यह नियम भी है कि ऊँची प्रतिमा धारण करने पर नीची प्रतिमा का धारण किये रहना अनिवार्य है, इस प्रकार ग्यारहवीं प्रतिमा के समय बाकी दस प्रतिमाओं का धारण करना अनिवार्य है। इस प्रकार पहिली प्रतिमा सब प्रतिओं के साथ रहने से साढ़े पाँच वर्ष तक रहेगी, दूसरी पाँच वर्ष पाँच माह, तीसरी पाँच वर्ष तीन माह, चौथी पाँच वर्ष इत्यादि। ऊँची प्रतिमाओं के धारण करने पर नीची प्रतिमाओं का धारण करना दिगम्बर सम्प्रदाय में भी अनिवार्य है।

महात्मा महावीर ने आश्रम-व्यवस्था का विरोध करके भी उसके तत्त्व को स्वीकार किया था। कोई मनुष्य ज़िम्मेदारियों को

---

* स्त्री वैराग्यनिमित्तैकचित्तः प्राग्वृत्तनिष्ठितः।
यस्त्रिधाह्नि भजेन्नस्त्री रात्रिभक्तव्रतस्तु सः।
—सागारधर्मामृत ७-१२ ॥

छोड़कर न भागे, मुनिसंस्था में आकर के उसके नियमों का भंग न करे, आदि बातों का उनने खूब ध्यान रक्खा था। इसलिये ऐसा मालूम होता है कि ये प्रतिमाएँ मुनिसंस्था के उम्मेदवारों के लिये बनाई गईं थीं, परन्तु पीछे से सर्व साधारण के लिये उपयोगी होने से वे सभी के लिये हो गईं—फिर भले ही वह मुनिसंस्था का उम्मेदवार हो या न हो। इसी रूप में इन प्रतिमाओं का प्रचार हो पाया। मुनि-संस्था के उम्मेदवारों ने तो इनका बहुत कम उपयोग किया है। खैर, अब मैं इन प्रतिमाओं का सामान्य परिचय देकर वर्तमान युग के अनुकूल संशोधन करूँगा।

**दर्शन**—शंकादि दोषरहित सम्यग्दर्शन का पालन करना।

यह अर्थ श्वेताम्बर * और दिगम्बर ‡ दोनों को मान्य है। परन्तु किसी किसी दिगम्बर लेखक ने इसमें निरतिचार मूलगुणों के † पालन का भी विधान किया है।

**व्रत**— निरतिचार § पाँच अणुव्रतों का पालन करना। दिग-

---

* संकादि सल्ल विरहिय सम्मद्दंसण जुओ उ जो जन्तू।
सेसगुण विप्पमुक्का एसा खलु होइ पढमा उ।

‡ सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः।
पञ्चगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः।
५—१६ रत्न० क०।

† पाक्षिकाचारसंस्कार दृढीकृत विशुद्धदृक्।
भवाङ्गभोगनिर्विण्णः परमेष्ठिपदैकधीः। ३-७॥
निर्मूलयन्मलान्मूलगुणेष्वग्रगुणोत्सुकः।
न्याय्यां वृत्तिं तनुस्थित्यै तन्वन् दर्शनिको मतः॥ ३-८॥

§ दंसण पडिमाजुत्तो पालेन्तोऽणुव्वए निरइयारे।
अणुकम्पाइगुणजुओ जीवो इह होइ वय पडिमा॥

म्बर सम्प्रदाय में पाँच अणुव्रतों के साथ सात शीलव्रतों के पालने का भी विधान ꣿ है। हाँ, शीलव्रतों में अतिचार बचाने की ज़रूरत नहीं है।

**सामायिक**—प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सन्ध्यासमय निरतिचार सामायिक करना।

**प्रोषध**— अष्टमी चतुर्दशी अमावस और पूर्णिमा को उपवास करना। दिगम्बर सम्प्रदाय में सिर्फ अष्टमी चतुर्दशी का विधान है।

**पडिमापडिमा***— अष्टमी और चतुर्दशी को रात्रि में कायोत्सर्ग करना, स्नान नहीं करना; दिन में ही भोजन लेना; काँछ नहीं लगाना; दिन में सदा ब्रह्मचर्य रखना और पर्व-दिनों में रात्रि में भी ब्रह्मचर्य रखना, शेष दिनों में भी परिमित ब्रह्मचर्य रखना, कायोत्सर्ग में जिनेन्द्र का ध्यान करना और अपने दोष देखना।

**अब्रह्मवर्जन**— पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करना।

**अचित्ताहार वर्जन**— वनस्पति तथा कच्चे पानी आदि का त्याग करना।

---

ꣿ निरतिक्रमणमणुव्रत पञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनाम्मतो व्रतिकः॥

* सम्मत्तशुव्वय गुणव्वय सिक्खावयथिरो य नाणी य।
अट्ठमि चउद्दसीसु पडिमं ठायगराईयं॥
असिणाण वियडभोई मउलिकडो दिवस ब्रह्मचारी य।
राइं परिमाणकडो पडिया वज्जेसु दियहेसु॥
झायइ पडिमाइठिओ तिलोएपुज्जे जिणे जियकसाए।
नियदोस पच्चणीय अन्नं वा पंच जा मासा॥

**स्वयमारम्भ वर्जन**– व्यापार धन्धे का काम अपने हाथ से नहीं करना, सिर्फ नौकरों से कराना।

**प्रेष्यारम्भ वर्जन**– नौकरों से भी ये काम न कराना।

**उद्दिष्टभक्त वर्जन**†– अपने उद्देश से बनाया हुआ भोजन भी न करना; सिर मुँडाना या सिर्फ चोटी रखना।

**श्रमणभूत प्रतिमा**‡– सिर मुँडाना या लौंच करना; रजो-हरण ओघा ग्रहण करना।

दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रतिमाओं के जो पाठ प्रचलित हैं उनका अर्थ भी इतने से हो जाता है। जो कुछ विशेषता है, वह साधारण शब्दार्थ से समझी जा सकती है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही पहिली प्रतिमा का नाम दर्शन-प्रतिमा रखते हैं। उसमें सम्यग्दर्शन धारण करने का उपदेश है, चारित्र की कोई विशेष बात नहीं है। परन्तु सम्यग्दर्शन का धारण करनेवाला तो साधारण जैन भी होता है, फिर इस प्रतिमा-धारी में उससे क्या विशेषता आई? दूसरे शब्दों में यों पूछा जा सकता है कि चौथे गुणस्थान में ही क्षायिक सम्यक्त्व तक हो सकता है, जो कि पूर्ण निर्मल सम्यक्त्व है; फिर दर्शन प्रतिमाधारी जो कि पाँचवें गुणस्थान वाला है--उसमें क्या विशेषता है? यह प्रश्न बहुत से जैन लेखकों के सामने रहा है, परन्तु इस विषय में

---

† उद्दिट्ठकडं भत्तं पि वज्जए किमु य सेसमारम्भं।
सो होइ उ खुरमुंडो सिहलिं वा धारए कोवि॥

‡ खुरमुण्डो लोएण व रयहरणं ओग्गहं च घत्तूणं।
समणब्भूओ विहरइ धम्मं काएण फासन्तो॥

(६) **अनर्थदंडविरति**– इसका विवेचन कुछ पहिले किया गया है।

(७) **भोगोपभोग-परिसंख्यान**– इसका भी विवेचन अभी ही हुआ है।

(८) **शिक्षाव्रत**– पहिले जो सात शिक्षाव्रत बतलाये गये हैं उन सबका पालन करना।

(९) **निरतिचारिता**– पहिले जो अहिंसादि पाँच व्रतों के अतिचार बतलाये गये हैं, उनका त्याग करना।

(१०) **इन्द्रिय-जय**—इसका वर्णन महाव्रती के ग्यारह मूलगुणों में हुआ है।

(११) **अपरिग्रहता**– अपरिग्रह की जो छः श्रेणियाँ बतलाई गई हैं, उनमें से पहिली तीन श्रेणियों में से किसी एक श्रेणी में रहना।

प्रतिमाओं के विवेचन के साथ चारित्र के विषय में मुख्य-मुख्य बातों का संक्षिप्त विवेचन समाप्त होता है। परन्तु आत्मिक विकास के पूर्वक्रम को समझने के लिये गुणस्थान के विवेचन पर एक नजर डाल लेना ज़रूरी है। इस प्रकार अन्त में गुण-स्थानों का भी संक्षेप में विवेचन कर दिया जाता है।

## गुणस्थान

यहाँ पर गुण शब्द का अर्थ आत्मविकास का अंश है। आत्मविकास के अंश ज्यों ज्यों बढ़ते जाते हैं, त्यों त्यों गुणस्थानों की वृद्धि मानी जाती है। गुणस्थानों को चौदह भागों में विभक्त किया गया है। यह वर्णन करने की सुविधा के लिये है; अन्यथा गुण-

स्थान तो असंख्यात हैं। इस विषय में आत्मा की जितनी परिणतियाँ हैं, उतने गुणस्थान हैं। उनको हम कल्पना से सङ्कलित करके अमुक भागों में रख सकते हैं। जिस प्रकार नदी के एक प्रवाह को हम 'कोस' आदि के कल्पित मापों से विभक्त कर सकते हैं परन्तु इससे उस प्रवाह में कोई अमिट रेखाएँ नहीं बन जातीं, न वह प्रवाह ही टूटता है जिससे एक भाग से दूसरा भाग बिलकुल अलग मालूम पड़े, इसी प्रकार गुणस्थानों की बात है। एक गुण-स्थान से दूसरे गुणस्थान की सीमा इस प्रकार भिड़ी हुई है कि वह एक प्रवाह-सा बन गया है।

गुणस्थानों का क्रम, दर्शन और चारित्र का क्रम है। इन दोनों के भले-बुरे रूपों की विविधता से यह गुणस्थान का प्रवाह या मार्ग बना है। ज्ञान के विकास से गुणस्थान का कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि पदार्थों के जानने न जानने से गुणस्थान बढ़ते घटते नहीं हैं। नीचे गुणस्थानवाला भी अधिक ज्ञानी हो सकता है और ऊँचे गुणस्थानवाला भी कम ज्ञानी हो सकता है।

तेरहवें गुणस्थान में जो ज्ञान की पूर्णता बतलाई जाती है, वह सत्यता की दृष्टि से है, बाह्य पदार्थों की दृष्टि से नहीं है।

सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र को विभक्त करना भी बड़ा कठिन है। वे एक दूसरे में इस प्रकार अनुप्रविष्ट हैं कि उनमें शाब्दिक अन्तर बतलाना भले ही सरल हो, परन्तु गम्भीर विचार करने पर वह अन्तर मिट-सा जाता है। अथवा वे एक ही मार्ग के पूर्वापर भाग की तरह मालूम होने लगते हैं। इन दोनों के अभेद का निर्देश करने के लिये जैन-शास्त्रों की दो बातें अच्छी विचार-

सामग्री देती हैं। एक तो यह कि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का घात एक ही कर्म के द्वारा होता है जिसे कि मोहनीय-कर्म कहते हैं। जब कि जुदे-जुदे गुणों का घात करने के लिये जुदे-जुदे कर्म हैं तो सिर्फ़ सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के घात के लिये ही एक कर्म क्यों रक्खा गया? इसका कारण दोनों की अभिन्नता है, दूसरी बात यह कि सम्यग्दर्शन के साथ स्वरूपाचरण चारित्र अवश्य होता है। स्वरूपाचरण एक ऐसा चारित्र है कि जिसको बाह्याचार के रूप में परिणित करना कठिन है, या बाह्याचार के रूप बतला सकना अशक्य है। वैसे देश-विरति महाव्रत और यथाख्यात चारित्र ( पूर्णसमभाव ) भी स्वरूपाचरण अर्थात् आत्मा के भीतर का आचरण है परन्तु इसका बाह्यरूप भी दिखलाई देता है, इसलिये उनके नाम दूसरे रख दिये गये हैं। सम्यग्दर्शन के साथ स्वरूपाचरण का अविनाभाव बतलाना भी दोनों के अभेद का सूचक है। सच तो यह है कि सम्यग्दर्शन के रूप में हम जिस बात का विवेचन करते हैं वह तो स्वरूपाचरण-चारित्र से परिष्कृत किया हुआ ज्ञान है। उसी का साहचर्य स्वरूपाचरण से बतलाया जाता है। सम्यग्दर्शन चारित्र की एक अनिवर्चनीय प्रारम्भिक अवस्था है। इसलिये पहिले चार गुणस्थान सम्यग्दर्शन से सम्बन्ध रखते हैं, और पिछले सम्यक्-चारित्र से, यह कहना भी एक धारा के कल्पित भेद करने के समान है। खैर, गुणस्थान के विवेचन के लिये यहाँ इनमें भेद मानना आवश्यक है।

चारित्र के विस्तृत विवेचन के बाद और गुणस्थान का संक्षेप में मर्म बतलादेने के बाद अब यह कहने की जरूरत नहीं रहती कि

गुणस्थानों के भेद न्यूनाधिक कर दिये जाँय तो कुछ हानि नहीं है। एक मार्ग के बीस कोस के बीस भाग कल्पित करने की अपेक्षा अगर कोई पाँच पाँच योजन के चार भाग करें या चालीस मील के चालीस भाग करें तो इससे मार्ग छोटा-बड़ा नहीं होनेवाला है। व्यवहार की सुविधा देखना चाहिये। यही बात गुणस्थानों की है। आजकल गुणस्थान चौदह माने जाते हैं। यहाँ इनका संक्षेप में परिचय दिया जाता है।

(१) **मिथ्यात्व**—जब प्राणी में सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र बिलकुल नहीं होता, तब वह इस श्रेणी में रहता है। छोटे कीड़ों से लगाकर बड़े बड़े पण्डित, तपस्वी, राजा आदि तक इस श्रेणी में रहते है, क्योंकि वास्तविक आत्मदर्शन के बिना उनकी अन्य उन्नति का कुछ मूल्य नहीं है।

(२) **सासादन**—मिथ्यात्व गुणस्थान में जो अनन्तानुबन्धी कषाय होती है—कषाय-वासना के प्रकरण में जिसका विवेचन पहिले किया गया है—वह यहाँ भी होती है, इसलिये इस गुणस्थान वाले की गिनती भी मिथ्यात्वियों में की जाती है। इसीलिये मिथ्यात्वी के समान इस गुणस्थान के जीव को भी अज्ञानी कहा जाता है। परन्तु इसके मिथ्यात्व नहीं होता, इसलिये मिथ्यात्व गुणस्थान से यह उच्चश्रेणी का गुणस्थान है।

परन्तु जब अनन्तानुबन्धी कषाय आ गई, तब मिथ्यात्व आने में देर नहीं लगती। इसलिये इस गुणस्थान-वाला शीघ्र ही मिथ्यात्व गुणस्थान में पहुँच जाता है। सासादन का समय एक सैकिण्ड से

भी थोड़ा है। जब कोई सम्यक्त्वी सम्यक्त्व से भ्रष्ट होता है तब बीच में एकाध सैकिण्ड के लिये यह अवस्था प्राप्त करता है। सासादन-वाले को मिथ्यात्व गुणस्थान में जाने के सिवाय दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है।

(३) मिश्र—इस गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय नहीं होती, इसलिये यह उपर्युक्त दोनों श्रेणियों से ऊँची श्रेणी का गुणस्थान है परन्तु इसमें पूर्ण विवेक प्राप्त नहीं होता; सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का मिश्रण होता है, इसलिये इस गुणस्थान को मिश्र गुणस्थान कहते हैं।

जिस समय किसी जीव को सत्य का दर्शन होता है, तब वह आश्चर्यचकित-सा हो जाता है। उसके पुराने संस्कार उसको पीछे की ओर खींचते हैं और सत्य का दर्शन उसे आगे की ओर खींचता है। यह चकित अवस्था थोड़े समय के लिये होती है। इसके बाद या तो वह मिथ्यात्व में ही गिर पड़ता है या सत्य को प्राप्त करता है।

(४) अविरत सम्यक्त्व— इसमें जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है। सम्यक्त्व का वर्णन पहिले कर चुके हैं। सम्यक्त्व के साथ स्वरूपाचरण चारित्र भी होता है यह बात भी पहिले कही जा चुकी है। फिर भी इसे अविरत कहा है; इसका कारण यही है कि इसका संयम इतना हलका रहता है कि उसका मानसिक वाचनिक और कायिक प्रभाव स्पष्ट नहीं हो पाता, अथवा साधारण गृहस्थ की अपेक्षा भी कम प्रगट होता है। हाँ, यह सम्यग्दृष्टि अवश्य बन जाता है।

भी थोड़ा है। जब कोई सम्यक्त्वी सम्यक्त्व से भ्रष्ट होता है तब बीच में एकाध सैकिण्ड के लिये यह अवस्था प्राप्त करता है। सासादन-वाले को मिथ्यात्व गुणस्थान में जाने के सिवाय दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है।

(३) मिश्र—इस गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय नहीं होती, इसलिये यह उपर्युक्त दोनों श्रेणियों से ऊँची श्रेणी का गुणस्थान है परन्तु इसमें पूर्ण विवेक प्राप्त नहीं होता; सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का मिश्रण होता है, इसलिये इस गुणस्थान को मिश्र गुणस्थान कहते हैं।

जिस समय किसी जीव को सत्य का दर्शन होता है, तब वह आश्चर्यचकित-सा हो जाता है। उसके पुराने संस्कार उसको पीछे की ओर खींचते हैं और सत्य का दर्शन उसे आगे की ओर खींचता है। यह चकित अवस्था थोड़े समय के लिये होती है। इसके बाद या तो वह मिथ्यात्व में ही गिर पड़ता है या सत्य को प्राप्त करता है।

(४) अविरत सम्यक्त्व— इसमें जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है। सम्यक्त्व का वर्णन पहिले कर चुके हैं। सम्यक्त्व के साथ स्वरूपाचरण चारित्र भी होता है यह बात भी पहिले कही जा चुकी है। फिर भी इसे अविरत कहा है; इसका कारण यही है कि इसका संयम इतना हलका रहता है कि उसका मानसिक वाचनिक और कायिक प्रभाव स्पष्ट नहीं हो पाता, अथवा साधारण गृहस्थ की अपेक्षा भी कम प्रगट होता है। हाँ, यह सम्यग्दृष्टि अवश्य बन जाता है।

इस प्रकार के सम्यग्दृष्टि तीन तरह के होते हैं—वेदक, औपशमिक और क्षायिक।

वेदक सम्यक्त्व उसे कहते हैं कि जिसमें सत्य का दर्शन तो हो जाता है, उस पर दृढ़ विश्वास भी हो जाता है, परन्तु नाम का मोह रह जाता है। जैन-शास्त्रों में इसका सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है। यद्यपि उसमें कुछ संशोधन की ज़रूरत है परन्तु वह दिशानिर्देश अच्छी तरह से करता है। वे कहते हैं कि यदि किसी ने मूर्ति बनवाई हो और वह यह कहे कि यह मेरा* देव है तो वह उसका इस प्रकार मूर्तियों में 'मेरे-तेरे' का भाव आ जाना सम्यक्त्व का एक दूषण है। यद्यपि इससे सम्यक्त्व नष्ट तो नहीं होता, फिर भी कुछ मलिन ज़रूर हो जाता है; इसी प्रकार तीर्थंकरों में समानता होने पर भी किसी विशेष का थोड़ा पक्षपात होना भी एक दोष है, इससे सम्यक्त्व मलिन होता है, यद्यपि वह नष्ट नहीं होता; क्योंकि दूसरे तीर्थंकरों की उसमें अवहेलना निंदा आदि नहीं होती ‡।

इन उदाहरणों से इतना तो स्पष्ट होता है कि नामादि के पक्षपात से समभाव में थोड़ा-सा मैल लगाने से सम्यक्त्व कुछ

---

* स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते।
अन्यस्यायमिति भ्राम्यन् मोहाच्छ्राद्धोऽपि चेष्टते।
—गोम्मटसार जीवकाण्ड २५ टीका।

‡ समेऽप्यनन्तशक्तित्वे सर्वेषामर्हतामयं।
देवोऽस्मै प्रभुरेषोऽस्माइत्यास्था सुदृशामपि।
—गो० जी० टीका २५।

अशुद्ध हो जाता है। ऐसे जीव को वेदक सम्यक्त्वी कहते हैं, क्योंकि इसमें मोह का कुछ वेदन अनुभव होता रहता है। औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व में यह मैल नहीं रहता, इसलिये विशुद्धि की दृष्टि से ये वेदक की अपेक्षा कुछ उच्च हैं। औपशमिक सम्यक्त्व बहुत थोड़े समय के लिये होता है और क्षायिक सदा के लिये होता है। यहाँ इन दोनों में अन्तर है।

सत्यसमाज के उदाहरण से इस विषय को कुछ स्पष्ट किया जा सकता है, सत्यसमाज के नैष्ठिक सदस्य को औपशमिक या क्षायिक सम्यक्त्वी कहना चाहिये और पाक्षिक सदस्य को वेदक-सम्यग्दृष्टि। यद्यपि दोनों ही सर्वधर्म-समभावी हैं, परन्तु पाक्षिक को कुछ पुराने नाम का मोह है। पाक्षिक और नैष्ठिक का यह अन्तर स्वरूप की दृष्टि से बतलाया गया है, न कि सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से। क्योंकि कोई व्यक्ति अमुक परिस्थिति के कारण पाक्षिक सदस्य बना हो, या सदस्य ही न बना हो, तो भी वह नैष्ठिक हो सकता है। और परिस्थिति वश नैष्ठिक बननेवाला भी पाक्षिक या अनुमोदक हो सकता है। इसलिये सदस्यों में तरतमभाव न रखकर सिर्फ़ उसके वास्तविक स्वरूप में तरतमता समझना चाहिये, तथा यह बात भी ध्यान में रखना चाहिये कि सत्यसमाज का सदस्य न होने पर भी कोई व्यक्ति सम्यग्दृष्टि, महात्मा, पूर्ण समभावी बन सकता है। सत्यसमाज की सदस्यता तो सिर्फ़ इसलिये है कि सुविधापूर्वक संगठित होकर सत्य का प्रचार किया जा सके और उसे जीवन में उतारा जा सके।

(५) देशविरति—सम्यग्दर्शन के साथ इसमें देश संयम

भी होता है। ग्यारह प्रतिमाओं के रूप में देशविरति का विवेचन किया गया है।

(६) प्रमत्तविरति—इसमें अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों का पालन होता है, या साधु-संस्था के ग्यारह मूलगुणों का पालन होता है। परन्तु यहाँ प्रमाद रहता है। कभी कभी कर्तव्य कार्य सामने रहने पर भी आलस्यादि के वश से जो अनादर बुद्धि पैदा हो जाती है, उसे प्रमाद कहते हैं। विकथा, कषाय, इन्द्रियविषय, निद्रा और प्रणय ये प्रमाद के भेद हैं। यहाँ यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि इनके होने से ही प्रमाद नहीं हो जाता; किन्तु जब इनकी तीव्रता इतनी होती है कि कर्तव्य-कार्य में भी अनादर बुद्धि पैदा करदे तभी इन्हें प्रमाद-रूप कह सकते हैं, अन्यथा नहीं। इसलिये किसी को सोते देखकर यह न समझना चाहिये कि यह प्रमादी है; किन्तु असमय में सोते देखकर, अधिक समय तक सोते देखकर उसे प्रमादी कह सकते हैं। इसी प्रकार कषाय की बात है। यों तो कषाय सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान तक रहती है, परन्तु वहाँ प्रमाद नहीं माना जाता। शारीरिक आवश्यकतावश केवली भी सोता है, परन्तु वह प्रमादी नहीं है।

(७) अप्रमत विरति—प्रमाद के न रहने पर अप्रमत्त गुणस्थान होता है। संयमी मनुष्य सैकड़ों बार प्रमत्त और अप्रमत्त अवस्था में परिवर्तन करता रहता है। कर्तव्य में उत्साह का बना रहना अप्रमत्त अवस्था है, वह अवस्था सदा नहीं रहती, इसलिये थोड़े ही समय में फिर प्रमत्तता आ जाती है।

(८-९) अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण—इन दोनों गुणस्थानों की आवश्यकता नहीं मालूम होती है। वास्तव में इन्हें सातवें गुणस्थान में ही शामिल रखना चाहिये। अपूर्वकरण अर्थात् समभाव के ऐसे अपूर्व परिणाम, जो उसे पहिले कभी नहीं मिले थे। किसी भी प्रकार का आत्मिक उत्थान होते समय परिणामों में ऐसी निर्मलता आती है, जो इकदम नई मालूम होती है। उसी का नाम अपूर्वकरण है। जब जीव मिथ्यात्वी से सम्यक्त्वी बनता है, तब भी ऐसे ही नये परिणाम होते हैं। हाँ, वे सम्यक्त्व के अनुरूप होते हैं, इसलिये यहाँ की अपेक्षा छोटी श्रेणी के होते हैं, परन्तु हैं वे अपूर्वकरण। जब उनको वहाँ नया गुणस्थान नहीं बनाया, तब इनको यहाँ नया गुणस्थान बनाने की जरूरत नहीं है।

यही बात अनिवृत्तिकरण के विषय में है। यह परिणामों की वह अवस्था है जब इस श्रेणी के अन्य प्राणियों के परिणामों से उसके परिणामों का भेद नहीं रहता। इन अवस्थाओं में इतना कम अन्तर है कि इनके लिये स्वतंत्र गुणस्थान बनाने की जरूरत नहीं मालूम होती। विकारों को दूर करने की तरतम अवस्थाओं को विस्तार से समझाने के लिये इन्हें अलग गुणस्थान बनाया गया है। आजकल उस विस्तार को समझाना कठिन है। वह तो जम्बूस्वामी के साथ ही चला गया। आजकल भी वह अवस्था प्राप्त होती है, परन्तु उसका श्रेणी-विभाग दूसरे ही ढंग का होगा। खैर, यहाँ कहना इतना ही है कि जिस प्रकार सम्यक्त्वोत्पत्ति के अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण को प्रथम गुणस्थान में शामिल रक्खा, उसी प्रकार पूर्णसंयम की उत्पत्ति के अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण को अप्रमत्तविरति

में शामिल रखना चाहिये।

(१०) **सूक्ष्मसांपराय**– यह अवस्था यथाख्यात संयम के अति निकट की है। इसमें किसी से द्वेष तो रहता ही नहीं है, परन्तु थोड़ा-सा राग रह जाता है, जो कि पूर्ण समभाव में कमी करता है।

(११) उपशांत मोह
(१२) क्षीणमोह } ये दोनों पूर्णसमभाव के गुणस्थान हैं। इनमें अन्तर इतना ही है कि उपशांत-मोही का समभाव स्थायी नहीं होता, जब कि क्षीणमोही का स्थायी रहता है।

(१३) **सयोग केवली**– क्षीणमोह होने पर ही पूर्ण सत्य की प्राप्ति होती है। बिलकुल अकषाय होकर जब मनुष्य सत्य की खोज करता है, तब उसे भगवान सत्य के दर्शन होते हैं। यही आत्मा का परम विकास है। इसी अवस्था में वह केवली अर्हन्त, सर्वज्ञ, जीवन्मुक्त, स्थितिप्रज्ञ आदि कहलाता है। उपशांतमोही इस अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाता, क्योंकि इस अवस्था को प्राप्त होने पर फिर किसी का पतन नहीं होता।

(१४) **अयोग केवली**– मृत्यु के समय केवली करीब एक सैकेण्ड के लिये पूर्ण निश्चल हो जाता है। वही निश्चलावस्था अयोगकेवली की अवस्था है। निवृत्ति-प्रधान होने से वर्तमान जैन मान्यता के अनुसार १४ वें गुणस्थान में रत्नत्रय [ सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ] की पूर्णता मानी जाती है। परन्तु वास्तव में वह तेरहवें में ही हो जाती है। इस प्रकार आत्मा के क्रम-विकासको बतलानेवाले १४ गुणस्थान हैं। अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण को अप्रमत्तविरति

में शामिल करने से १२ ही कहे जा सकते हैं।

## उपसंहार ।

चारित्र का विस्तृत विवेचन कर दिया है । सामयिक परिस्थिति के कारण जैन-शास्त्रों में चारित्र का वर्णन निवृत्तिप्रधान कहा गया है । वह भी ठीक है, परन्तु मैंने यहाँ उसके दोनों पहलुओं को समतौल रखने की कोशिश की है । भविष्य में जब किसी एक तरफ़ अधिक जोर पड़ जाय तो दूसरी तरफ़ भी जोर डालकर उसे समतौल कर देना चाहिये ।

इस वर्णन में एक बात बहुत से जैन-बन्धुओं को खटक सकती है कि मुनि-संस्था में गृहस्थ-संस्था से बहुत कम भेद रक्खा गया है, इसलिये भविष्य में इसका शीघ्र दुरुपयोग होगा ।

इसके उत्तर में मेरा कहना है कि मुनिसंस्था का जो आज दुरुपयोग हो रहा है, वह कुछ कम नहीं है । बाहर से अपरिग्रहता का जो दंभ-जाल फैला हुआ है, उसके कारण उसका सुधार भी कठिन हो रहा है । तथा समाज के ऊपर उसका ऐसा बोझ है कि अगर समाज उसे न उठावे तो समाज की नाक कट जाने का डर है । मैंने इस दुःपरिस्थिति से बचाव किया है । अगर शीघ्र दुरुपयोग भी होगा तो भी उसका सुधार भी शीघ्र होगा, क्योंकि ऐसे साधुओं का निर्वाह करने के लिये समाज कुछ बँधी हुई नहीं है । उन्हें अपने पेट के लिये मजूरी करना पड़ेगी और इतने पर भी उनके मरने के बाद उनकी सम्पत्ति पर समाज का अधिकार होगा। यह एक ऐसा नियम है कि इससे साधुसंस्था के दुरुपयोग में कठि-

नाई होगी तथा सुधार में सरलता होगी। इसके अतिरिक्त वर्तमान युग में उनको सेवा करने के जो अधिक मौके मिलेंगे, वे अलग।

नियम कैसे भी बनाये जाँय, परन्तु सब जगह विवेक की आवश्यकता तो रहती ही है। जब तक विवेक रहेगा तभी तक नियम काम करेंगे। बाद में उनमें संशोधन करना होगा। इसलिये साधुसंस्था के परिवर्तित रूप से घबराने की जरूरत नहीं है। चारित्र का मर्म समझने के लिये तथा वर्तमान समय में साधुसंस्था में कर्मण्यता तथा सेवा का पाठ भरने के लिये यह उचित परिवर्तन किया गया है।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ये जैनधर्म के मुख्य विषय हैं। छः अध्यायों की इस विस्तृत मीमांसा में इन्हीं की मीमांसा की गई है।

[ छट्ठा अध्याय समाप्त ]

## [ जैनधर्म-मीमांसा समाप्त ]

# सत्यभक्त साहित्य

सत्यसमाज के संस्थापक स्वामी सत्यभक्तजी ने धार्मिक सामाजिक राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय तथा जीवन शुद्धि विषयक जो विशाल साहित्य रचा है, जो गद्य, पद्य, नाटक, कथा आदि अनेक रूप में बुद्धि और मन पर असाधारण प्रभाव डालनेवाला है उसे एकबार अवश्य पढ़िये

१ सत्यामृतमानव-धर्म-शास्त्र [ दृष्टिकांड ] ... १।

२ सत्यामृत [ आचारकांड] १॥

ऐसा महाशास्त्र जो सब धर्मों का निचोड़ कहा जा सकता है और जिसमें धार्मिक सामाजिक राष्ट्रीय अन्तराष्ट्रीय व्यावहारिक आध्यात्मिक आदि जीवन के हर पहलू पर पूरा प्रकाश डाला गया है और जो अनेक दृष्टियों से मौलिक है।

३ निरतिवाद—भारत की परिस्थिति के अनुसार साम्यवाद का रूप... ।≈)

४ सत्य-संगीत—सर्वधर्मसमभावी प्रार्थनाओं और जीवन-शोधक गीतों का संग्रह.... ॥≈)

५ कुरान की झाँकी—कुरान में आये हुए उपदेशों का संग्रह ≈)

६ जैनधर्म-मीमांसा [ भाग १ ].... १)

७ जैनधर्म-मीमांसा [ भाग २].... १॥)

८ जैनधर्म मीमांसा ( भाग ३ ) .... १॥)

जैनधर्म में आई हुई विकृतियों और उसकी अपूर्णता को हटाकर उसका संशोधित रूप।